साहित्यानुशीलन

हमारा सर्वश्रेष्ठ आलोचनात्मक साहित्य

प्रेमचन्द : जीवन, कला और कृतित्व	हंसराज 'रहबर'	६॥)
सुमित्रानन्दन पंत ,,	शचीरानी गुर्टू	६)
महादेवी वर्मा ,,	शचीरानी गुर्टू	६)
जयशंकर प्रसाद ,,	महावीर अधिकारी	६)
आलोचक रामचन्द्र शुक्ल	गुलाबराय-स्नातक	६)
महाकवि सूरदास	नन्ददुलारे बाजपेयी	४)
कबीर : साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा	२॥)
जायसी : साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा	२॥)
सूर : साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा	२॥)
प्रबन्ध-सागर	यज्ञदत्त शर्मा	५॥)
हिन्दी काव्य-विमर्श	गुलाबराय	३॥)
हिन्दी-नाटककार	जयनाथ 'नलिन'	५)
कहानी और कहानीकार	मोहनलाल जिज्ञासु	३)
तुलनात्मक अध्ययन	शर्मा-रस्तौगी	३)
मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ	डा० सावित्री सिन्हा	८)
हिन्दी-निबन्धकार	जयनाथ 'नलिन'	६)
कामायनी-दर्शन	महल तथा स्नातक	४)
काव्य के रूप	गुलाबराय	५)
सिद्धान्त और अध्ययन	गुलाबराय	६)
रोमांटिक साहित्य-शास्त्र	देवराज उपाध्याय	३॥)
साहित्य-विवेचन	क्षेमचन्द्र सुमन तथा योगेन्द्रकुमार मल्लिक	७)
साहित्य-विवेचन के सिद्धान्त	,, ,,	३)
हिन्दी काव्यालंकारसूत्र	आचार्य विश्वेश्वर, सं. डा० नगेन्द्र	१२)
वाद-समीक्षा	कन्हैयालाल महल	॥)
साहित्य, शिक्षा और संस्कृति	डा० राजेन्द्र प्रसाद	५)
भारतीय शिक्षा	डा० राजेन्द्र प्रसाद	३)
कला और सौन्दर्य	रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'	३॥)
समीक्षायण	कन्हैयालाल सहल	३)
दृष्टिकोण	कन्हैयालाल महल	१॥)
प्रगतिवाद की रूपरेखा	मन्मथनाथ गुप्त	७)
साहित्य-जिज्ञासा	ललिताप्रसाद सुकुल	३)
सन्तुलन	प्रभाकर माचवे	४)
साहित्यानुशीलन	शिवदानसिंह चौहान	६)
अनुसन्धान का स्वरूप	डा० सावित्री सिन्हा	३)
हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति	स्नातक तथा सुमन	३)
साहित्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द-कोष	राजेन्द्र द्विवेदी तथा विजयेन्द्र स्नातक	७)
रेडियो-नाटक	हरिश्चन्द्र खन्ना	६)

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

साहित्यानुशीलन

लेखक
शिवदानसिंह चौहान

१९५५
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य ६)

मुद्रक
अमरजीतसिंह नलवा
सागर प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

वक्तव्य

'साहित्यानुशीलन' मेरे ३४ नये-पुराने निबन्धों का संग्रह है जो समय-समय पर अन्यान्य पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे है। प्रस्तुत पुस्तक में इन्हें दो भागों में संकलित किया गया है। पहले भाग में हिन्दी, काश्मीरी और चीनी साहित्य सम्बन्धी निबन्ध है। केवल दो निबन्ध ही किंचित भिन्न कोटि के हैं, विशेषकर 'प्रकृति-धाम काश्मीर' का साहित्य से सीधा या प्रच्छन्न कैसा भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसा होते हुए भी प्रायः सभी पाठकों को उसमे रुचि होगी, क्योंकि काश्मीर की संस्कृति के प्रति ही नही, वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य और भूगोल के प्रति भी सहस्रों वर्ष पुरानी मनुष्य की जिज्ञासा ज्यों की त्यो बनी हुई है। बल्कि यातायात की नयी साधन-सुविधाओं और इस विशिष्ट प्रदेश में होने वाली सामयिक घटनाओं ने इस जिज्ञासा को अधिक तीव्र और काश्मीर-यात्रा को अधिक सुगम-सुलभ बना दिया है। अतः इस संग्रह में असंगत दिखते हुए भी इस निबन्ध का अपना औचित्य है।

दूसरा समीक्षा-भाग है, जिसमें साहित्य की उन कृतियों की समीक्षाएँ हैं, जो आवश्यकतावश समय-समय पर लिखी जाती रही है।

इन निबन्धों और समीक्षाओं के बारे में एक चेतावनी अपेक्षित है—कि किसी पूर्व-निश्चित योजना या क्रम के अनुसार ये सब नहीं लिखे गये। विषय-सूची से ही इतना तो स्पष्ट हो जायगा। प्रारम्भ से ही सांस्कृतिक-राजनीतिक आन्दोलनों में भाग लेते रहने के कारण मै अब तक सौभाग्य या दुर्भाग्य से वस्तुतः एक खानाबदोश की-सी ज़िन्दगी बिताने को ही विवश रहा हूँ। ऐसे में, किसी पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार एक समय में, एक ही स्थान पर जम कर लिखने की कल्पना भी असम्भव रही है, जिससे विभिन्न परिस्थितियों में हमारे साहित्य के सामने जो समस्याएँ उठती गयीं या जिन पुस्तकों की समीक्षा का आग्रह टालना सम्भव न हुआ, उन पर ही लिखने-लिखाने का समय निकाल पाया हूँ। लेखों के अन्त में दिये गये रचना-काल से इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

वैसे तो आलोचनात्मक निबन्धों का कोई भी संग्रह इस अर्थ में संपूर्ण नहीं हो सकता कि उसमें साहित्य की सभी प्रवृत्तियों, समस्याओं और श्रेष्ठ कृतियों का विवेचन-मूल्यांकन हो, किन्तु फिर भी मै प्रस्तुत संग्रह की अपूर्णताओं के प्रति पूरी तरह सचेत हूँ। साहित्यकार और पाठक सभी की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि किसी भी ऐसे महत्त्वपूर्ण संग्रह में कम-से-कम साहित्य की प्रमुख विचारधाराओं और

उन उल्लेखनीय कृतियों का विवेचन अवश्य रहे जो लोक-प्रिय हो गई हैं या जिन्हें लोक-प्रिय बनाना ज़रूरी है। इस दृष्टि से उन्हें इस संग्रह का समीक्षा-भाग विशेष रूप से अपूर्ण लगेगा, एकांगी चाहे न लगे। उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण लेखक और श्रेष्ठ कृतियाँ छूट गई हैं—किसी पक्षपात के कारण नहीं, बल्कि इस कारण कि बहुत कुछ चाहकर भी उन पर अलग से लिखने का अवकाश नहीं मिला। किन्तु फिर भी यह भाग उतना अपूर्ण नहीं, जितना पहली दृष्टि में दीखता है। जितनी कृतियों की समीक्षाएँ यहाँ हैं, वे हर मेल और प्रवृत्ति की हैं। उन्हें पढ़कर पाठकों को साहित्य के मूल्यांकन की एक वैज्ञानिक किन्तु रसज्ञ दृष्टि और पद्धति का ज्ञान अवश्य हो जायगा और एक सीमा तक उनका साहित्य-बोध भी गहरा और व्यापक होगा, जिसका प्रयोग वे अन्य कृतियों के मूल्यांकन में स्वयं कर सकेंगे। लेखक को इतना ही अभीष्ट है।

शिवदानसिंह चौहान

१८६ आर, न्यू कॉलोनी
रोहतक (पू० पंजाब)
२६ जनवरी, १९५५

विषय-सूची

अनुक्रम | पृष्ठ

१. साहित्य

२. मूल्यांकन

साहित्यानुशीलन

भाग १

साहित्य

१

साहित्य की परख

साहित्य या कला के मूल्यांकन के लिए एक वैज्ञानिक समीक्षा-शास्त्र और पद्धति के निर्माण का प्रश्न केवल साहित्यालोचकों के लिए ही नहीं, वरन् प्रत्येक पाठक, दृष्टा या श्रोता के लिए भी प्रासंगिक और सारपूर्ण है। परन्तु वत्सराज भणौत ने अपने निबन्ध 'कला-समीक्षा और पूर्वग्रह'[1] में जो सापेक्षतामूलक स्थापना की है, उसे यदि सत्य और विश्वसनीय मान लें तो पाठक, दृष्टा या श्रोता को निर्विकल्प भाव से पूर्वग्रही (प्रेजुडिस्ड) होना चाहिए और उसे कला के समीक्षकों द्वारा निरूपित मान-मूल्यों से अवगत होने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः वत्सराज भणौत के अनुसार कला या साहित्य के सामान्य मान-मूल्य निर्धारित करने का कार्य आलोचक का भी नहीं है, प्रत्युत कलाकार, आलोचक, पाठक (दृष्टा या श्रोता) इन सभी को अनिवार्यतः पूर्वग्रही होना चाहिए। अतः यह ईप्सित नहीं होना चाहिए कि किसी कलाकृति मे सन्निहित अनुभव की पूर्ण अनुभूति के लिए आलोचक अपनी समीक्षा द्वारा उस अनुभव की पुनर्सृष्टि करे और पाठक अपने व्यक्तिगत अनुभव की अपेक्षा में आलोचक द्वारा उद्घाटित कलाकृति के गूढ़ मन्तव्यों, सौन्दर्य-तत्वों और जीवन-सत्यों का चेतनाप्रेरक और स्वास्थ्यदायक अनुभव ग्रहण करे। मात्र सापेक्षतामूलक समालोचना-दृष्टि ऐसे ही एकांकी प्रवादों को जन्म देती है।

परन्तु 'पूर्वग्रह' साहित्य या कला के मूल्य का आधार नहीं बन सकता। साहित्य या कला मनुष्य की संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट सार-भाग है। केवल इतना ही नहीं, युग-युगान्तर से व्यष्टि और समष्टि, आत्म और परिवृत्ति में जो मौलिक प्रगतिमूलक क्रिया प्रतिक्रियात्मक संघर्ष अनवरत् चलता आया है और चलता जायगा, और जिसके परिणामस्वरूप ही मनुष्य का सामाजिक जीवन वर्धमान है, और मनुष्य का पूर्ण

---

१. देखिये 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' भाग २।

आत्म-विकास सम्भाव्य बना है—इस महान् संघर्ष का मनुष्य ने किस प्रकार सामना किया है, कैसे निरन्तर घटित होने वाले असामंजस्य और वर्ग-वैषम्य का विरोध करके उसने नित-नूतन जीवनप्रद सन्तुलन प्राप्त किया है और करता जा रहा है—इस समस्त मानवीय कृतित्व और तज्जनित मानव-मूल्यों के निर्माण का इतिहास, मनुष्य की समस्त विकासोन्मुखी सचेतन और अवचेतन चेष्टा और परिणाम का विविध भाव, वर्ण, रूप, रस, गन्धमय अनुभव कला और साहित्य में अपनी विशिष्ट मूर्तिमत्ता के साथ प्रतिबिम्बित है। निरपवाद रूप से व्यक्ति और समाज दोनों की भावी प्रगति के योग-क्षेम की दृष्टि से जैसे कला और साहित्य का नव-नव निर्माण प्रयोजनीय है, वैसे ही हर युग में उसके व्यापक मानव-मूल्यों का निर्धारण भी उतना ही प्रयोजनीय है।

फ्रॉयड के मनस्तत्व विश्लेषण-शास्त्र की दृष्टि से 'संस्कृति और साहित्य' की समस्या पर विचार करने वाले 'अज्ञेय' भी इस बात के समर्थक हैं कि मनुष्य की 'चेतना का संस्कार' करने के लिए एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण होना चाहिए। यद्यपि मनुष्य के भौतिक जीवन की उन्नति और यन्त्र-साधनों के अपरिसीमित विकास से किंचित त्रस्त होकर वे एल्डुस हक्सले के 'नूतन रहस्यवाद' के रूप में 'चेतना का संस्कार' करना चाहते हैं, और 'संस्कृति की रक्षा' के लिए जिस 'आलोचक राष्ट्र का निर्माण' करना चाहते हैं, उसके निश्चित साध्य और साधन, उद्देश्य और कार्यक्रम का सिर-पैर अज्ञात है, परन्तु उनकी तर्क-प्रणाली और विचारधारा चाहे कितनी निरर्थक और सारहीन क्यों न हो, उनका 'चेतना के संस्कार' का आग्रह कोरा आवेगपूर्ण उच्छ्वास नहीं है। वह व्यक्ति और समाज के एक मूलभूत असामंजस्य की ओर संकेत करता है, जिसका निराकरण करने की विधि, सम्भव है, 'अज्ञेय' के अनुमान से कहीं अधिक व्यापक व्यक्ति-समाज की संयुक्त चेष्टा का आह्वान करेगी।

अतः आज कला या साहित्य के समीक्षक का दायित्व बहुत बढ़ गया है। प्रश्न केवल 'संस्कृति की रक्षा' का ही नहीं है, बल्कि प्रश्न नयी संस्कृति के निर्माण का भी है। भौतिक उन्नति और यन्त्र-साधनों के विकास को मनुष्य या मनुष्यत्व, आत्मा या व्यक्तित्व के प्रतिपक्षी के रूप में देखना—गत वर्षों के भयंकर विध्वस और नैतिक अधःपतन से चाहे उदारचेता विचारकों और दार्शनिकों के समस्त आशामय स्वप्न छिन्न-भिन्न क्यों न हो गये हों—मनुष्य के अब तक के कृतित्व, उसकी रक्त-स्वेद बहाकर अर्जित सफलताओं को नकारना है और संस्कृति के वास्तविक प्रश्न से विमुख होना है। क्योंकि मनुष्य की भौतिक [वैज्ञानिक] उन्नति को मिटाकर संस्कृति की रक्षा या उसके निर्माण का प्रश्न हल नही किया जा सकता। 'नूतन रहस्यवाद' अपनी अन्तिम परिणति मे 'अबुद्धिवाद' और 'अन्धविश्वास' का ही पर्याय बन जाता है, इतना तो साधारणतया अनुमेय है। वास्तव में संस्कृति का प्रश्न नये जनवादी समाज

के निर्माण का प्रश्न है जिसमें केवल आर्थिक शोषण और विज्ञान और यन्त्रसाधनों के मानव-संहारी प्रयोग [या दुरुपयोग] का बन्द करना ही चरम लक्ष्य नहीं है। अलङ्कारिक भाषा में हम कह सकते हैं कि आर्थिक शोषण और साम्राज्यवाद को मिटाकर जो जनवादी समाज निर्मित होगा उसके समाजवादी आर्थिक सम्बन्ध उस पीठिका का कार्य करेंगे जिस पर नये मानव की मूर्ति का संस्थापन किया जायगा, अर्थात् वह ऐसी संस्कृति होगी जो व्यक्ति के पूर्ण आत्म-विकास या आत्म-सिद्धि का सहज साधन-उपकरण बन सके और इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन को समृद्ध बना सके। व्यक्ति की दृष्टि से नये जनवाद या समाजवाद का यही अन्तिम लक्ष्य है।[1] हम आज संक्रान्ति-काल में रहते हों या 'अज्ञेय' द्वारा निर्दिष्ट 'बढ़ते हुए संघर्ष के युग' में, इस सूक्ष्म विभेद से, अन्ततः, हमारी सांस्कृतिक समस्या में कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि यह बढ़ता हुआ संघर्ष, अहेतुक और निरुद्देश्य नहीं है। यदि इतना प्रत्यक्ष है तो यह भी स्पष्ट है कि आज का बढ़ता हुआ संघर्ष किसी विशिष्ट संक्रान्ति-युग की परिकल्पना करके ही हो रहा है। इस कारण वर्तमान और निकटवर्ती भविष्य की सांस्कृतिक समस्याएँ परस्पर सम्बद्ध हैं।

इस बात को और स्पष्ट करके यों कह सकते हैं कि आज के संघर्ष-युग से नये जनवाद या समाजवाद के निर्माण-युग तक के अन्तरावकाश की सांस्कृतिक समस्याएँ एक सूत्र में बँधी हुई हैं। वर्तमान के संघर्ष में जनवादी शक्तियों को अपना समर्थन और सहयोग देने के अतिरिक्त प्रत्येक सृजनकर्ता और विशेषकर साहित्यकार और आलोचक के लिए यह काल उन मानव-मूल्यों के निरूपण और समन्वय का है जो एक व्यापक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Social Aesthetic) का मूलाधार बन सकें। व्यक्ति की चेतना के संस्कार, उसकी प्रतिभा के सर्वाङ्गीण विकास और उसके व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए एक ऐसे व्यापक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण की अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि नये शोषण-मुक्त आर्थिक सम्बन्धों का उद्देश्य मनुष्य की क्षुधा-काम की वृत्तियों को ऊपर से सन्तुष्ट करना ही नहीं होगा, बल्कि समाज को मानवीय और सांस्कृतिक बनाकर व्यक्ति की आत्मा को परितोष और रचनात्मक प्रेरणा देना होगा। इस वैज्ञानिक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Scientific Social Aesthetic) की अवधारणा कला और साहित्य में प्रतिबिम्बित जीवन-सत्य द्वारा निरूपित मानव-मूल्यों से ही हो सकेगी। अतः कला और साहित्य को जन-सुलभ

---

१. मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र' में ऐसे ही समाज के लिए संघर्ष करने की माँग की है जिसमें "The full development of each will be a condition for the full and free development of all."

बनाने वाली शिक्षण-नीति का प्रश्न भी इससे सम्बद्ध है, यह भी प्रत्यक्ष है। कला-समीक्षा का कार्य-क्षेत्र अब 'नीर-क्षीर-विवेचन' तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। उसे कला के मूलोद्भव की प्रक्रिया की पड़ताल करनी है, कला और जीवन के परस्पर सम्बन्ध का निर्णय करना है, उसके सौन्दर्य-मूल्यों का निरूपण करना है तथा कला और साहित्य—इन विषयों की ऐसी शिक्षण-नीति निर्दिष्ट करनी है कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए उनमें व्यक्त मानव-मूल्य अनुभाव्य बन सकें जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र समाज के निर्माण-संघर्ष में स्वयं को भी मुक्त कर सके अर्थात् स्वयं अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास भी कर सके।

वर्तमान हिन्दी-आलोचना का दृष्टिकोण क्या इतना व्यापक है ?

प्रारम्भ में ही यह बता देना आवश्यक है कि हिन्दी-आलोचना नगण्य नहीं है और न उसमें उच्चकोटि के आलोचकों का अभाव है। फिर भी अभी तक उसकी स्थिति विचित्र रही है। उसकी तुलना गवैयों की ऐसी मण्डली से की जा सकती है जो स्वरसामंजस्य की अवहेलना करके 'अपनी डफली, अपना राग' अलापने में ही मस्त रहती हो। तात्पर्य यह है कि अभी तक कला-साहित्य के ऐसे सामान्य मान-मूल्य सर्व-स्वीकृत नहीं हो पाये हैं, जिनका प्रयोग मूल्यांकन करते समय अधिकांश आलोचक करते हों। देखा जाय तो पूँजीवादी देशों में ऐसी स्थिति हर भाषा के साहित्य में मिलेगी, यद्यपि इधर अंग्रेजी, अमरीकी और फ्रांसीसी साहित्य में गम्भीर विचारकों की ओर से ऐसी व्यापक समन्विति की ओर सचेत चेष्टा का आरम्भ हो गया है। हिन्दी में भी वर्तमान अराजकता से ऊबकर बाबू गुलाबराय, 'अज्ञेय' और दो-एक अन्य समालोचकों ने कई बार विभिन्न प्रवृत्तियों के समन्वय की माँग की है और इस दिशा में थोड़ा-सा प्रयत्न भी किया है। परन्तु यह क्षेत्र अभी तक अछूता ही पड़ा है, क्योंकि समन्वय भी किसी वैज्ञानिक जीवन-दर्शन के आधार पर ही किया जा सकता है। दुर्भाग्य से ऐसे वैज्ञानिक जीवन-दर्शन की उपलब्धि इन महानुभावों को नहीं हो सकी है।

हिन्दी-आलोचना की जिन विभिन्न प्रवृत्तियों की ओर मैंने अभी संकेत किया है, उनको हम चार दृष्टि-साम्यमूलक वर्गों या प्रवृत्तियों में बाँट सकते हैं। पहला वर्ग उन आचार्यों और अध्यापकों का है जो पुराने ढर्रे की शास्त्रीय आलोचना की लकीर अभी तक पीटते जा रहे हैं। एक बड़ी सीमा तक आचार्य शुक्ल ने भी ऐसा ही किया। निस्सन्देह उनकी गणना सदा युगविधायक आलोचकों में की जायगी। उन्होंने प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा को पुनः खोज निकाला और उसके आधार पर साहित्य-सिद्धान्तों की सांगोपांग व्याख्या की। अपने आलोचना-सिद्धान्तों को आधुनिकता की पुट देने के लिए शुक्ल जी ने प्रवृत्ति-निरूपक मनोविज्ञान (Faculty Psychology)

का आश्रय लिया, परन्तु इसी से उनके आलोचना-सिद्धान्तों की संकुचित सीमाएँ भी निर्दिष्ट हो गईं। शुक्ल जी द्वारा की गई परिष्कृति के अनन्तर भी आधुनिक दृष्टि-प्राप्त आलोचकों को यह स्वीकार नहीं हो रहा है कि आलोचना को केवल शब्द-शक्ति, रस, रीति, अलङ्कार की पद्धतियों तक ही सीमित रखा जाय। इसका मुख्य कारण यह है कि शुक्ल जी एक अवैज्ञानिक, आस्थामूलक नीतिमत्ता और वर्णाश्रम धर्म की आदर्शवादिता की अपेक्षा में साहित्य-सिद्धान्तों की मीमांसा कर गये हैं। आधुनिक मनोविज्ञान (Psychology), मानव-शास्त्र (Anthropology) और द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन (Dialectical Materialism) के कला-सम्बन्धी अन्वेषणों-स्थापनाओं का उन्होंने सार ग्रहण नहीं किया।

इसके विपरीत, प्रत्येक मानव-क्रिया, भाव-दशा और रुचि के मूल में एक-एक स्थायी प्रेरक प्रवृत्ति को बिठाकर उन्होंने साहित्य की परिकल्पना को एक स्थिर (Static) विचारधारा में जकड़ दिया। वर्गीकरण, व्यक्त रूप-सौन्दर्य, रूढ़ि के निर्वाह और साम्प्रदायिक दर्शन के प्रति उनका विशेष आग्रह रहा। यहाँ तक कि वे अपने साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा प्रत्येक अनुभव में अन्तर्भूत अथवा व्यक्त, विशिष्ट और सामान्य, सापेक्ष और निरपेक्ष, सत्य और सौन्दर्य की द्वन्द्वात्मक अन्विति का आकलन करने का कोई व्यापक प्रतिमान स्थिर न कर सके। प्रवृत्ति और निवृत्ति केवल इन दो परस्पर-विरोधी मूल वृत्तियों की यन्त्रवत् कल्पना करके उन्होंने सत्-असत्, सुन्दर-असुन्दर और धर्म-अधर्म के 'ढाँचों' मे मनुष्य के अनुभव और कर्म को रागात्मिका वृत्ति की मध्यस्थता से ढालने का मलमन्त्र खोज निकाला, और इससे एक का लोक-मंगलकारी तथा दूसरे का लोक-अमंगलकारी रूप निश्चित कर दिया। 'साधारणीकरण' और 'लोक-मंगल', शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साहित्य के इन दोनों आदर्शों या लक्ष्यों की कल्पना अत्यन्त संकुचित और अवास्तविक हैं। प्रचलित रूढ़ धारणाओं में प्रकट सत्याभास ही उनके आधार हैं, क्योंकि धार्मिक शब्दाडम्बर को त्यागकर 'साधारणीकरण' का तात्पर्य यदि केवल साहित्य के प्रेषणीय गुण से है तो इस पर इतना ज़ोर देना एक स्वयंसिद्धि को ही सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयत्न करना है, और विशेष करके तब जब कि प्रेषणीयता के आधार पर एकांगी मूल्यांकन ही सम्भव है, अन्यथा द्विवेदी-काल का इतिवृत्तात्मक काव्य छायावाद के काव्य से श्रेष्ठ माना जाय और निराला की तुलना में सोहनलाल द्विवेदी को श्रेष्ठतर कवि घोषितु किया जाय। साहित्य या कला, रचनाकार की भावनाओं का 'साधारणीकरण' ही नहीं करती, बल्कि वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है और यदि वास्तविकता संश्लिष्ट और जटिल है—जैसी कि वह सर्वदा से है—तो उसका प्रतिबिम्ब भी सीधी, समानान्तर रेखाओं से अंकित नहीं किया जा सकता। जो अभिधा से प्रत्यक्ष (Obvious) और

बोधगम्य है, वह कला या कविता नहीं हो सकती। कला इसी कारण एक सीमा तक दुरूह और जटिल अनुभव है और उसकी सार्थकता इसी में निहित है कि वह मनुष्य मात्र की चेतना को अधिक संश्लिष्ट और समृद्ध बनाती है जिससे वास्तविकता का मर्म. उसमें निहित सम्भावनाएँ उत्तरोत्तर स्पष्ट होती जाती हैं और मनुष्य सत्य के निकट पहुँचता जाता है। शुक्ल जी का 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त. इस दृष्टि से अत्यन्त सरल सिद्धान्त है, एकांगी और सत्य की छाया मात्र। इसी प्रकार यदि धर्म और अन्धविश्वास का आवरण हटाकर उनके 'लोक-मंगल' के सिद्धान्तों की परीक्षा करें तो एक वैज्ञानिक समाज का 'लोक-मंगल' शुक्ल जी की दृष्टि से अमंगल और अधर्म का पर्यायवाची न बन जायगा, इससे इन्कार कैसे किया जा सकता है ? शब्दों की ध्वनि से हमारी आसक्ति नहीं है, और यदि 'लोक-मंगल' शब्द में अत्यन्त अबोध और पुनीत ध्वनि मिलती है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि शुक्ल जी द्वारा की गई उसकी व्याख्या एक त्रिकालवर्ती सत्य है। शुक्ल जी के स्थूल, भावुक और रूढ़िवादी सिद्धान्तों का अनुकरण करने वाले आचार्य और अध्यापक अब कला और साहित्य के मूलोद्गम, प्रयोजन और मूल्य इन सभी व्यापक प्रश्नों की अवहेलना करके केवल वर्गीकरण को ही आलोचक धर्म की इतिकर्तव्यता मान बैठे हैं।

उनकी तर्क-प्रणाली उन धर्मान्ध रूढ़िवादियों की कोटि की है जो किसी नये सत्य का विरोध करते समय कहते हैं 'हमारे यहाँ ऐसा नहीं है,' और यदि नया सत्य अपनी आन्तरिक शक्ति के कारण सर्वमान्य हो गया है और उसका मानना आपद्धर्म बन गया है तो कहते हैं 'तभी तो हमारे यहाँ अमुक ने ऐसा कहा है'—पर दोनों अवस्थाओं में जिन्हें नया सत्य व्यावहारिक रूप से अमान्य ही होता है। 'लोक-मंगल' जैसे शब्द ऐसी ही अनौचित परिस्थितियों मे ढाल का काम देते है। इसमे किंचित आश्चर्य की बात नहीं कि स्वयं शुक्ल जी ने इस हठवादी तर्क-प्रणाली को अपनाया था। प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार चौंसठ कलाओं मे साहित्य या काव्य की गणना नहीं कराई गई है। केवल इतनी-सी बात के कारण भारतीय-अभारतीय का अवैज्ञानिक भावनाजन्य भेद खड़ा करके उन्होंने साहित्य से कला का संयोग अनर्थहेतुक घोषित किया और साहित्य-समीक्षा से उसके बहिष्कार का आदेश दिया। और इतालवी दार्शनिक क्रोचे के सौन्दर्य-सिद्धान्तों की मनोनुकूल विकृति करके उन्होंने आई. ए. रिचार्ड्स जैसे मनोवैज्ञानिक समीक्षक की पुस्तकों मे से पूर्व-प्रकरण से हटाये वाक्यों द्वारा भारतीय लाक्षणिक ग्रन्थों की स्थापनाओं और वर्गीकरण का पिष्टपेषण करवाया। इस प्रकार अपने मत की प्रशस्ति करके उन्होंने अभिव्यंजनावाद, स्वच्छंदतावाद, प्रभाववाद, मूर्तिविधानवाद, परावस्तुवाद आदि साहित्य-कला की आधुनिक प्रवृत्तियों को प्रवाद और वितंडावाद कहकर उनकी निंदा की थी, जो मूलतः ठीक होते हुए भी सर्वथा वैज्ञानिक नहीं है।

शुक्ल जी के अनुगामी, पाण्डित्य का इतना विशाल घटाटोप खड़ा करने में अपने को असमर्थ पाकर और यह देखकर कि प्राचीन आचार्यों ने शब्द-शक्ति, रस, रीति, अलंकार के भेदोपभेदों की संख्या पहले ही समाप्त करदी है, कभी शुक्ल जी के ही तर्कों की आवृत्ति करते हैं, कभी आधुनिक रचनाओं में इन भेदोपभेदों के दृष्टान्त सूचित करके मूल्यांकन के प्रश्न से छुट्टी पा लेते हैं, तो कभी साहित्य के आधुनिक रूप-विधानों—जैसे उपन्यास, कहानी और गीति-काव्य का क्षेत्र सपाट पाकर उन्हें भी कोष्ठबद्ध करने लगते हैं। अर्थात् उनका वर्गीकरण करने में संलग्न हो जाते हैं। डा० श्रीकृष्णलाल की 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास' नाम की पुस्तक इस प्रवृत्ति का साधारण उदाहरण है। उन्होंने गीति-काव्य के पाँच भेद किये हैं—व्यंग्य-गीति, पत्र-गीति, शोक-गीति, वर्ग भावना से प्रेरित गीति और अध्यान्तरित-गीति, और फिर इनके भी उपभेद कर डाले हैं। इसी प्रकार उपन्यासों के भी एक दर्जन भेद आपको यहाँ मिलेंगे। प्रत्येक नयी रचना अपनी शैलीगत विशेषता के कारण इन अध्यापकों को एक नये भेद का खाना खोलने के लिए विवश कर देती है। फिर भी, कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि के तीन या तेरह भेद होते हैं—उनके इस 'होते हैं' के निश्चयात्मक स्वर में शिथिलता नहीं आती। साहित्य के गम्भीर मर्मज्ञ पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और यदाकदा मनोविज्ञान से प्रेरणा लेने वाले डॉ० रामकुमार वर्मा तक इस मनोवृत्ति से छुटकारा नहीं पा सके हैं।

साहित्यालोचन की दूसरी विचारधारा आधुनिक मनोविज्ञान—वस्तुतः फ्रॉयड-एडलर-युग के मनोविश्लेषण-शास्त्र से प्रभावित है। 'अज्ञेय' और इलाचन्द्र जोशी, इस प्रसङ्ग में केवल ये दो नाम ही उल्लेखनीय हैं। दोनों उपन्यासकार, कवि, और आलोचक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि 'अज्ञेय' ने अपने निबन्धों में कला के मूल्यांकन का प्रश्न पूरी गम्भीरता के साथ उठाया है। और जो लोग मनोविज्ञान की आधुनिक प्रवृत्तियों से अनभिज्ञ हैं, उन्हें इन निबन्धों में नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी मिलेगा। मूल्यांकन करते समय कला-सृजन में व्यक्ति के अहं और अवचेतन का और समाज की परिस्थिति या परिवृत्ति का क्या महत्त्व है, इन प्रश्नों का निर्देश करके उन्होंने कला-साहित्य विषयक रूढ़ धारणाओं को नयी अन्तर्दृष्टि दी है। परन्तु इन तत्त्वों की उन्होंने जो व्याख्या की है वह अत्यन्त एकांगी और यन्त्रवत् है। वैसे उनके समूचे दृष्टिकोण में एक आन्तरिक विसंगति है जो एक समन्वित दृष्टिकोण के अभाव की सूचक है।[1] एक ओर वे कलाकार और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति को ऐसा 'विद्रोहसत्व' मानते हैं जो पुरानी लीक पर न चलकर अपनी नयी लीक बनाता है, अपने व्यक्तित्व की पूर्ण स्वीकृति पाने के लिए अपनी परम्परा स्वयं गढ़ता है;

---

१. देखिय 'अज्ञेय' का निबन्ध-सग्रह 'त्रिशंकु'।

दूसरी ओर, रूढ़ि के अर्थ को परिवर्धित करके वे कलाकार से यह अपेक्षा भी रखते हैं कि वह रूढ़ि के प्रति अपना विद्रोह प्रकट करने के लिए रेल के ऐञ्जिन की तरह अपने को परम्परा के आगे जोड़ दे । एक स्थान पर अंग्रेजी कवि और समालोचक टी० एस० ईलियट के निबन्ध (The Sacred Wood) में से 'कविता व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना नहीं, बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है', इस वाक्य को उद्धृत करके कलाकार से 'निर्व्यक्तिकता' की माँग करते है तो दूसरे स्थान पर एक 'वृहत्तर व्यक्तित्व' के निर्माण का प्रश्न भी उठाते है । उनके दृष्टिकोण मे ऐसी विसंगतियों की निरी भरमार हैं । और यह भी सन्दिग्ध है कि ईलियट, एडलर, फ्रॉयड, हक्सले, हर्बर्ट, रीड आदि के मतों को ज्यों का त्यों प्रतिपादित करते समय वे उनके परस्पर सम्बन्ध को या उनके पूरे अर्थारोप को भी समझते हैं ।

उदाहरण के लिए, कला की परिभाषा के रूप में यह सूत्र बताकर कि, 'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह—है' जब वे इस स्थापना को सिद्ध करने के लिए सांस्कृतिक प्राग्जीवन मे कला को जन्म देने वाले प्रथम पुरुष की, जो 'किसी कारण कमजोर प्राणी है' और सामजिक कार्य मे भाग लेने में असमर्थ है, कल्पना करते है तो यह कल्पना आधुनिक मानवशास्त्र (Anthropology) की गवेषणाओं के प्रतिकूल यान्त्रिकता से आबद्ध और शिशुवत् लगती है । इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि कला कुछ ऐसे बीमार, पंगु, विकलांग, और सम्भव है, विक्षिप्त व्यक्तियों की ही सृष्टि है जो अपने असामाजिक ठलुआ जीवन के अभाव की पूर्ति के लिए अपने कुतूहल, कौतुक-वृत्ति और हीन-भावना से प्रेरित होकर कुछ टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियाँ खींचते या शब्दों का इन्द्रजाल बुनते रहते हैं । यही कला-कृतियाँ बन जाती है । उनमे दूसरों को सौन्दर्य-बोध होने लगता है और इस प्रकार उन 'बेचारे कलाकारों' का व्यक्तित्व या उनकी सत्ता प्रमाणित हो जाती है ।

'अज्ञेय' की इस फ्रॉयडीय परिभाषा से अनेक विचित्र परिणाम निकलते है । कला यदि 'सामाजिक अनुपयोगिता' की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न है तो निश्चय ही कला समाज पर बाहर से (प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों द्वारा ही सही) आरोपित वस्तु है, स्वयं सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं से, सामाजिक जीवन की सूक्ष्मतर सौन्दर्यमयी जीवनानुभूति, मनुष्यमात्र की उत्तरोत्तर मुक्त और संस्कृत जीवन-निर्माण करने की आकांक्षा से प्रेरित व्यक्ति की प्रतिक्रिया से उत्पन्न वस्तु नहीं है । ऐसी स्थिति में कला या साहित्य की प्रवृत्तियों, विचार-धाराओं, मान-मूल्यों का जिक्र ही निरर्थक हो जाता है । फिर किस चमत्कारी तिलिस्म के घटित होने से कलाकार नामधारी विक्षिप्त जन्तु की कौतुक-कृतियों में

पाठक या दृष्टा को सौन्दर्य (व्यवस्था, नियम, उपयोगिता, सहानुभूति, प्रेरणा) का बोध होने लगता है, यह एक गुप्त रहस्य है । निस्संदेह, 'अज्ञेय' की स्थापना हास्यास्पद है ।

इसी प्रकार ईलियट के इस उद्धरण मे—'कवि एक विशेष माध्यम को व्यक्त करता है, व्यक्तित्व को नहीं'—'माध्यम' का अर्थ 'कवि-मानस' नहीं लगाया जा सकता जैसा कि 'अज्ञेय' ने किया है, बल्कि हर्बर्ट रीड के अनुसार उसका आशय शब्द-ध्वनि सम्बन्धी स्नायुविक संवेदनीयता से ही लिया जा सकता है, अन्यथा यह स्थापना निरर्थक है । इन संगत-असंगत उक्तियों को छोड़कर यदि 'अज्ञेय' के कला-मूल्य निरूपक जीवन-दर्शन की परीक्षा करें तो उसकी एकांगिता और यन्त्रवत्ता और भी मुखर लगती है ।

वस्तुतः उनके निकट कला का मूल्य उसके चमत्कार मे है । चमत्कार उसका साध्य भी है । कला के मानव-मूल्य या उसकी सामाजिक उपयोगिता आदि प्रश्न केवल प्रासंगिक महत्त्व रखते है । चमत्कार-सृजन हो जाने के पश्चात् समाज उससे जैसी प्रेरणा चाहे लेने को स्वतन्त्र है । [यदि नात्सियों को यह फ़ॉर्मूला ज्ञात होता तो कलाकारों के चमत्कार-विधान से वे भी लाभ उठाते, उनकी कलाकृतियों की होली जलाने और जीवित कलाकारो को निर्वासित करने या प्राणदण्ड देने की क्या आवश्यकता थी ?] उसके पूर्व कला या कलाकार से प्रगतिशील अथवा नैतिक होने न होने का आग्रह करना अथवा उनसे यह अपेक्षा रखना कि वे कला मे वास्तविकता का गत्यात्मक प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की चेष्टा करे, अथवा केवल इतना सोचना भी कि कलाकार स्वभावतः ऐसा करता है, कला को अनवांछित बाध्यताओं और पूर्व-धारणाओं मे बांधकर उससे 'ऐच्छिक प्रेरणा' पाने का दुराग्रह करना है । आलोचक का कर्त्तव्य केवल इतना है कि वह 'पैर की छाप' पढ़कर बताये कि कलाकार नामधारी जन्तु किस दिशा की ओर निकल गया । इस प्रकार 'अज्ञेय' के अनुसार 'आलोचना' न वैज्ञानिक क्रिया है, न सृजनात्मक । अपनी विसंगतियों के कारण 'अज्ञेय' अन्ततोगत्वा, उसी मात्र सापेक्षतामूलक सौन्दर्यदृष्टि पर आकर ठहर जाते है, जिससे आगे बढ़कर, चाहे मनोविश्लेषण-शास्त्र के एकांगी दृष्टिकोण से ही क्यों न हो, वे कला के मान-मूल्य निर्धारित करने का बीड़ा उठाते है और केवल 'पैर की छाप' पढ़कर बूझने वाले 'लाल बुझक्कड़' ही नहीं बने रहना चाहते ।

इस स्थिति मे पड़कर प्रगतिवाद का विरोध करके 'नूतन रहस्यवाद' की ओर आकृष्ट होना, कला की परख के लिए एक प्रबुद्ध अभिजातवर्ग की कल्पना करना, और यदि कलाकार साधनहीन होने के कारण उपजीवी नहीं बन सकता तो 'जीने के लिए' उसे पत्र-जगत या राजनीति में प्रविष्ट होकर आपद्धर्म की अवसर-

वादिता स्वीकार करके अपने व्यक्तित्व का एक अंश बेचने के लिए प्रोत्साहित करना, यह सब अज्ञेय के लिए स्वाभाविक हो जाता है। 'सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति' कलाकार को सामाजिक प्राणी के अधिकारों से वंचित रखती है, और वह केवल उपजीवी या अवसरवादी ही हो सकता है। एक कलाकार के रूप मे उसे जीने का अधिकार है, और यदि इस अधिकार का अपहरण किया जा चुका है या किया जा रहा है तो उसे प्राप्त करने के लिए लड़ना उसका कर्तव्य है, 'अज्ञेय' की विचारधारा इस कठोर सत्य की शिला से टक्कर नहीं लेना चाहती। वे पौराणिक 'त्रिशंकु' ही बने रहना चाहते है, और कलाकार और समाज के बीच किसी सक्रिय सामंजस्य का अनुमान नहीं कर पाते।

उनकी विचार-शैली यह है कि पहले वे किसी पाश्चात्य लेखक से ली गई उक्ति को एक सूत्र के रूप मे उपस्थित करते है, फिर उसकी मनगढ़न्त व्याख्या जोड़ते है। उनका यह अनुमान है कि उनके ये सूत्र पाठकों को 'चौंका' करके सतर्क बना देते है। कदाचित् अपने विलक्षण और अभूतपूर्व चमत्कार के कारण ! यह बात सच न हो, परन्तु उनका यह दिखावटी भय वस्तुतः सच है कि उनकी स्थापनाओं में 'अतिव्याप्ति' दोष रहता है, यदि ऐसा नहीं है तो इस विनयशीलता के उपक्रम को क्या आत्मश्लाघा की ही प्रच्छन्न व्यंजना नहीं कहेंगे ?

'अज्ञेय' और उनकी विचारधारा के आलोचक हिन्दी में 'विकृत अथवा कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' (Vulgar Psychology) का प्रतिपादन कर रहे है। 'विकृत या कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' से मेरा तात्पर्य उस प्रवृत्ति से है जो मनोविज्ञान की मान्यताओं को साहित्य पर ज्यों का त्यों घटित करती है। इसका परिणाम यह होता है कि इससे साहित्य का मूल्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के दृष्टान्त रूप में ही अवशेष रह जाता है और साहित्य या कला अपनी मानव-मूल्य निरूपिणी इयत्ता खो देती है। 'अज्ञेय' के अनुसार जिस 'मन' से साहित्य उद्भूत होता है उसकी धातु (Quality) की 'परख' करना आलोचक का प्रमख कर्तव्य है। परन्तु यह कार्य एक मनोवैज्ञानिक का है, आलोचक का नहीं। आलोचक अधिक-से-अधिक कला की 'सृजनात्मक प्रक्रिया' (Creative Process) का अध्ययन-निर्धारण करता है, और यह कार्य कोरा मनोवैज्ञानिक नहीं है।

इलाचन्द्र जोशी इस 'विकृत या कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' को पराकाष्ठा तक पहुँचने मे कटिबद्ध दीखते है। उनके सारे उपन्यासों में, विशेषकर 'प्रेत और छाया' में इस प्रवृत्ति की अश्लील झाँकी देखने को मिलती है। इलाचन्द्र जोशी में 'अज्ञेय' के समान एक सुसंस्कृत कला-मर्मज्ञ का आत्मसंयम और परिष्कार नहीं है। अतः वे प्रगतिवाद के विरुद्ध जिस उतावलेपन के साथ अपने 'अन्तर्प्रगतिवाद' (?) का प्रचार कर रहे है, वह साहित्य में मन-विश्लेषकों द्वारा सिद्ध 'अवचेतन' मन में स्थित काम

और सिहा सम्बन्धी पशु-प्रवृत्तियोंकी नग्न और अनियंत्रित अभिव्यंजना के आग्रह के अतिरिक्त और कोई सौन्दर्य-मूल्य (!) नहीं रखता।

साहित्यालोचना की तीसरी विचारधारा प्रगतिवाद है। गत दस वर्षों से यह विचारधारा न केवल अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय रही है, वरन् उसने हिन्दी के रचनात्मक साहित्य को भी नयी अभिव्यक्ति और विचार-वस्तु दी है। मुझे यह स्वीकार करने मे आपत्ति नहीं है कि प्रगतिवाद की विचारधारा मूलतः मार्क्सवादी दर्शन 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' और मार्क्सवादी समाज-विज्ञान 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' से प्रभावित है। प्रगतिवाद से जिनका दृष्टि-साम्य नहीं है, ऐसे विचारक भी बहुधा इतना तो स्वीकार करते ही है कि प्रगतिवाद ने साहित्य मे एक नयी जागरूकता उत्पन्न की है और साहित्य और कला को जन-जीवन की वास्तविकता की अभिव्यक्ति का सचेत साधन बनने की प्रेरणा दी है।

प्रगतिवाद और उससे प्रेरित साहित्य यदि कोरा सामयिक साहित्यिक आन्दोलन है तो साहित्य की दृष्टि से उसका मूल्य नगण्य है, वह अधिक से अधिक एक फैशन है। अन्यथा जिस प्रकार राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संकट या संघर्ष-काल मे जनता की किसी जागरूक पार्टी या सरकार की ओर से अपील सम्बन्धी प्रचार-साहित्य लिखाया जाता है, जिसे 'Wartime Literature' के समान ही किसी विशेष परिस्थिति, घटना या संघर्ष से सम्बद्ध किये बिना सहज रूप से 'साहित्य' की संज्ञा देना असम्भव होता है उसी प्रकार प्रगतिवाद की विचारधारा भी उन्हीं परिस्थितिजन्य अपीलों के समान है। ये अपीले हमारे लिए साहित्य की प्राचीन परम्पराओं और प्रभावों का वैज्ञानिक मूल्यांकन नहीं करती कि हमे नयी अन्तर्दृष्टि मिले। परन्तु इन अपीलों और रचनाओं की सामयिक आवश्यकता और उनका महत्त्व स्वीकार करने के पश्चात् भी इस निर्णय से छुटकारा नहीं मिलता कि यदि प्रगतिवाद और उससे प्रेरित साहित्य केवल परिस्थितिजन्य आन्दोलन है तो उसका साहित्यिक मूल्य नगण्य है और यहाँ पर यह विचारधारा विचारणीय नहीं हो सकती। विचारणीय वह तभी हो सकती है जब साहित्य के मूल्यांकन मे उसकी स्थापनाएँ न्यूनाधिक मात्रा मे उपयोगी हों। अर्थात् जब प्रगतिवाद मे कोई सौन्दर्य-निरूपक दृष्टिकोण उपलक्षित भी हो और वह प्रयोग-सिद्ध भी हो सके।

प्रगतिवादी समीक्षकों मे साहित्य के 'कला-पक्ष' और 'सामाजिक पक्ष' के सम्बन्ध में एक द्वैत-भावना बनी हुई थी और वे इस बात का निर्णय न कर पाते थे कि किसी रचना में इन दोनों तत्त्वों का समावेश किस मात्रा और अनुपात में होता है, अथवा उनमें किसका आत्यंतिक महत्त्व है। इस विकृत यांत्रिकता का ही परिणाम था कि प्रगतिवादी आलोचना ने व्यवहारतः किसी रचना में व्यक्त अमूर्त्त विचारों

को ही उस रचना के साहित्यिक मूल्य की कसौटी मान लिया। और स्वयं कवि पंत ने भी—

"तुम वहन कर सको जन मन मे मेरे विचार।
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?"

प्रश्न करके इस द्वैत-भावना को अपनी एक कविता मे उदात्त अभिव्यक्ति दे दी थी।

गत वर्षों में जिन लोगों ने प्रगतिवाद की विचारधारा को कोरे राजनीतिक-प्रचार की सीमा में बाँधकर साहित्य की कसौटी को अवसरवादी बनाने की चेष्टा की है, वह अनायास और अकारण ही नहीं। ये लोग वास्तव में उस द्वैत-भावना से आक्रान्त है जिसका उल्लेख मै पहले कर चुका हूं, और चूँकि वे साहित्य के प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक सोचने में अक्षम है अतः सरल समाधानों की ओर बेतहाशा दौड़ते है। ऐसी स्थिति मे यह आश्चर्यजनक नहीं है कि इन कथित प्रगतिवादियों की आलोचना-दृष्टि पथ-भ्रष्ट होकर मात्र सापेक्षतामूलक सामाजिक दृष्टि (Relativist Sociology) या 'विकृत और कुत्सित समाजशास्त्रीयता (Vulgar Sociology) की सीमा मे ही सिमट-सिकुड़कर रह गई है। यह प्रवृत्ति अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने के लिए (अर्थात् अपने उद्धार के लिए) सार-संचय की भावना (Eclecticism) का दामन पकड़कर प्रभाववाद, रुचि-वैचित्र्यवाद, रसवाद, व्यंजनावाद, यहाँ तक कि सकीर्ण राष्ट्रवाद (Chauvinism) जैसी हीन प्रवृत्ति तक का आधार खोजता फिरती है।

उदाहरण के लिए, डा० रामविलास शर्मा ने शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय, यशपाल के उपन्यास 'देशद्रोही', नगेन्द्र के निबन्ध-संग्रह 'विचार और अनुभूति' आदि पर जो आलोचनाएँ लिखी है, उनमे व्यक्तिगत राजनीतिक रुचि और सामन्ती संस्कार-गत पूर्वग्रह के साथ कटूक्तियों, विद्रूपों और उपदेशों को ही मूल्य-निरूपण का साधन बनाया है। उनकी 'तुलसीदास' और 'भारतेन्दुकालीन साहित्य' की आलोचनाएँ 'वे अपने काल में प्रगतिशील थे' इस सापेक्षतामूलक तर्क-प्रणाली का उदाहरण है। अमृतराय ने अपने निबन्ध 'मार्क्सवादी आलोचना का आधार' मे अपने दृष्टिकोण की विसंगतियों और अधकचरेपन के कारण आश्रय की खोज मे साम-दाम-दण्ड-भेद की पौराणिक नीति के अनुसार आग्रह-दुराग्रह, उपदेश, आदेश और फटकारों की असंयत झड़ी भी लगाई है और अन्त में मार्क्सवाद की अज्ञानतावश कोई समन्वित साहित्य-सिद्धान्त प्रतिपादित करने मे अपने को असमर्थ पाकर "विजयी विश्व तिरंगा प्यारा ... को श्रेष्ठ साहित्य न कहने की धृष्टता कौन करेगा ?" इस प्रकार की कटूक्तियों द्वारा संकीर्ण राष्ट्रवाद को ही साहित्य के मूल्य-निरूपण का चरम सिद्धान्त मान लिया है। इन लेखकों और 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के दल के अनेक कथित प्रगतिवादी

लेखकों की आलोचनाओं में से ऐसे अगणित उदाहरण दिये जा सकते हैं, क्योंकि वे जब प्राचीन लेखकों के सम्बन्ध में लिखते हैं तब उनके मापदण्ड कुछ होते हैं, जब जीवित लेखकों के सम्बन्ध में लिखते हैं तब कुछ और, और फिर लेखक-दर-लेखक ये मापदण्ड बदलते जाते हैं। इसके अतिरिक्त देश की तीव्रगति से बदलती हुई राजनीतिक परिस्थिति के साथ भी इन मापदण्डों को बदलना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि एक लेखक जो कल तक प्रतिक्रियावादी था, आज किसी विशेष घटना के बारे में एक तुच्छ रचना करके तुरन्त प्रगतिशील बन जाता है, दूसरा लेखक जो कल तक युग-प्रवर्तक और प्रगतिशील था, 'इनकी' दृष्टि से एक प्रतिकूल रचना करके या केवल बातचीत में ही प्रतिकूल विचार प्रकट करके युग-विध्वंसक और प्रतिक्रियावादी बन जाता है।

कुत्सित समाज-शास्त्रीयता का दृष्टिकोण प्रगतिवाद का दृष्टिकोण नहीं है, इस सम्बन्ध में मैं स्वयं सन् १९४१ के एक निबन्ध 'प्रगतिवाद'[1] में अपने विचार प्रकट कर चुका हूँ। इस स्थल पर पाठकों की सुविधा के लिए उक्त निबन्ध में से प्रासंगिक उदाहरण देना सामयिक महत्त्व का होगा। साहित्य के मूल्यांकन में सामाजिक प्रभावों के विवेचन की अनिवार्यता क्यों है? इसका विवेचन करते हुए मैंने लिखा था—

"अतः प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामाजिक सूत्रों को प्रकाश में लाता है अर्थात् उन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करता है जिन्होंने लेखक को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करके अपनी रचना के लिए प्रेरित किया तो वह उस रचना द्वारा समाज की बदलती परिस्थितियों पर पड़े प्रभावों का भी मूल्यांकन करता है। सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन जिस प्रकार लेखक की रचना, उसकी अभिव्यक्ति के विशेष उपकरणों—व्यंग, प्रतीक, उपमाएँ, रूपक और शैली आदि—की सामाजिक पृष्ठभूमि का दिग्दर्शन करता है, अर्थात् इस तथ्य का स्पष्टीकरण करता है कि लेखक की रचना में समाज की वास्तविकता किस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई है, उसी प्रकार वह परिवर्तित सामाजिक वास्तविकता की अपेक्षा में रखकर उसकी सौन्दर्य-शक्ति का भी मूल्यांकन करता है। साहित्य या कला की कोई कृति अपने समय की वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्बमात्र नहीं होती, जिस प्रकार आइने में पड़ा प्रतिबिम्ब होता है, बल्कि ऐसा सक्रिय प्रतिबिम्ब होती है जो समाज या मनुष्य के अहं (भाव-चेतना) का परिवर्तित परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रभाव डालकर परिष्कार भी करती रहती है, अर्थात् उसे बदलती रहती है। इसी कारण इस रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इस सिद्धान्त को हृदयंगम करना

१. देखिये लेखक का निबन्ध-संग्रह 'प्रगतिवाद', पृष्ठ ५-६।

अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा एकांगी दृष्टिकोण अन्त में आदर्शवाद का, जिसके अनुसार साहित्य या कला का सौन्दर्य-तत्त्व एक निरपेक्ष गुण बन जाता है, अथवा कुत्सित समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण (यांत्रिक भौतिकवाद) का, जिसके अनुसार किसी रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक वास्तविकता के सीधे स्पष्ट चित्रण पर ही निर्भर करता है, आखेट बन जाता है—और न यह प्रगतिवाद है, न वैज्ञानिक भौतिकवाद। मार्क्स ने भी इन दोनों दृष्टियों से एक साथ ही किसी रचना का विवेचन करने की आवश्यकता पर जोर दिया था। प्रगतिवादी समीक्षा के सामने केवल यही प्रश्न नहीं रहता कि अमुक रचना किस युग की उपज है, सामन्ती या पूँजीवादी—मार्क्स ने ग्रीक साहित्य पर विचार करते हुए स्पष्ट कहा है कि यह तो अपेक्षाकृत सरल कार्य है—बल्कि उसके सम्मुख यह प्रश्न भी रहता है कि अमुक रचना की सौन्दर्य-शक्ति का क्या कारण है, अर्थात् वह रचना आज भी क्यों सौन्दर्य-बोध कराने में सफल है, आज भी वह हमारे रागों को जगाने में, हमारे संवेदनों को झंकृत करने मे क्यों उतनी ही सशक्त है जितनी शताब्दियों पूर्व थी ? प्रगतिवाद इन दोनों मौलिक प्रश्नों का उत्तर किसी रचना की सामाजिक पृष्ठभूमि और सामाजिक जीवन पर पड़े उसके प्रभाव के इतिहास का विवेचन करके देता है।"

साहित्यालोचन को प्रथम बार प्रगतिवाद ने एक वैज्ञानिक जीवन-दर्शन का आधार दिया है, जिससे हमें साहित्य को सामाजिक क्रिया का एक विशिष्ट पर अभिन्न अंग समझने में सुविधा हुई है। दूसरे 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है', या 'काव्य रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करता है', या 'साहित्य समाज का दर्पण है', या 'साहित्य जीवन की आलोचना है' आदि भारतीय तथा पाश्चात्य व्याख्याओं से कहीं अधिक व्यापक साहित्य की व्याख्या प्रगतिवाद ने की है। प्रगतिवादी व्याख्या के अनुसार कला या साहित्य वस्तु-सत्य (जिनमें व्यक्तिगत और समाजगत, भौतिक और मानसिक, अन्तर और बाह्य सत्य के दोनों अंग द्वन्द्वात्मक रूप से विभिन्न अनुपातों में सम्मिलित रहते हैं) के किसी अंग को अनुभव के रूप में प्रतिबिम्बित करता है और यह प्रतिबिम्ब सक्रिय और गत्यात्मक होता है। साहित्य की प्रेषणीयता का प्रश्न तो आनुसंगिक है अर्थात् इस रूप मे विचारणीय है कि वस्तुजगत के किसी अंग का अनुभव कला मे किस प्रकार प्रतिबिम्बित होता है कि वह प्रेषणीय बन जाता है। प्रगतिवाद अपनी द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार ही इसकी अवधारणा करता है और यह सिद्ध करता है कि विशेष या सापेक्ष सत्य—जो व्यक्तिगत, समाजगत, वर्गगत या परम्परागत हो सकता है—और निरपेक्ष सत्य—जो सम्पूर्ण जीवन की चिरन्तनता का सत्य है—दोनों की द्वन्द्वजनित परस्परिता और अन्विति के द्वारा ही विशेष सामान्य बनता है और सामान्य एक नूतन सामंजस्य पाकर विशेष बनता है। इसी विशेष और सामान्य की द्वन्द्वात्मक

अन्विति से सौन्दर्य और जीवन के मूल्य बनते हैं, जिसके कारण मनुष्य के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कला और साहित्य का इतना आत्यन्तिक और स्थायी महत्त्व है। कला और साहित्य का यह महत्त्व नष्ट हो जाय यदि अपनी सीमा के अन्दर उसके विकास-क्रम की गति स्वतन्त्र न हो, अर्थात् साहित्य का अपना इतिहास न हो और वह केवल बाह्य परिस्थितियों (या कहें सामयिक रुचियों) के अनुसार ही प्रतिक्षण अपना रूप-रंग बदलता रहे। जहाँ यह सत्य है कि बाह्य परिस्थितियों से साहित्य अनेक स्वस्थ और अस्वस्थ प्रभाव ग्रहण करता है, वहाँ यह भी उतना ही सत्य है कि ये प्रभाव साहित्य की ऐतिहासिक परम्पराओं के माध्यम से जीवन के अगणित सम्बन्धों को ग्रहण करके ही व्यक्त होते हैं और इस प्रकार एक ओर वे साहित्य की परम्परा को बदलते हैं तो दूसरी ओर साहित्य के इतिहास की तारतम्यता और सम्बद्धता को पुष्ट करके सामाजिक जीवन और व्यक्ति की चेतना को भी प्रभावित करते और बदलते हैं। कलावादी यदि पहले सत्य से इन्कार करते हैं तो कुत्सित समाजशास्त्रीयता का दल सत्य के दूसरे पहलू से आँखें मींच लेता है। प्रगतिवाद दोनों के दृष्टिकोणों को एकपक्षीय और एकांगी समझता है। प्रगतिवाद की ये कतिपय स्थापनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

किसी समीक्षा-सिद्धान्त और पद्धति की सार्थकता मुख्यतः दो प्रश्नों के उत्तर पर निर्भर करती है। पहला प्रश्न यह कि क्या आलोचना आधुनिक साहित्य (जिसमें समकालीन साहित्य भी सम्मिलित है) का सही मूल्यांकन कर सकती है? अर्थात् क्या वह आधुनिक और समकालीन साहित्य में जो सामयिक रुचि और फैशन (राजनीतिक अथवा अन्य) के अनुसार वास्तविकता का स्थूल और उथला परन्तु महत्त्वपूर्ण चित्रण है और वह जिसमें आधुनिक जीवन की वास्तविकता का इतना गहरा और व्यापक चित्रण हुआ है कि उसमें स्थायित्व के तत्त्व मौजूद हैं, इन दोनों को अलग करके बता सकती है और साहित्य-कृति के विवेचन से उसमें उठायी समस्या का उथला और गहरा रूप सिद्ध कर सकती है? यह कार्य अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वर्तमान में हमारी दृष्टि बहुत संकुचित और सीमित रहती है—वस्तुएँ, घटनाएँ, भावनाएँ, राग-द्वेष अपनी अति-निकटता के कारण सारे दृष्टि-पथ पर छा जाते हैं और निर्णेता स्वयं व्यक्तिगत या सामाजिक रूप से इन घटनाओं या भावनाओं से अपने को निर्लिप्त और निस्संग नहीं रख सकता; अतः जो उसे तत्काल महत्त्वपूर्ण लगता है वही स्थायी और सुन्दर भी लग सकता है। परन्तु इस कठिनाई के बावजूद समालोचक, पाठक या द्रष्टा केवल अपने जीवन-काल के साहित्य के ही उन समस्त व्यक्तिगत और सामाजिक कारणों, प्रभावों और प्रेरणाओं से लगभग पूरी तरह अवगत हो सकता है जिन्होंने उस साहित्य के सृजन में योग दिया है और वह उनका सही मूल्यांकन करके साहित्य की गतिविधि

Library

को प्रेरणा और नयी दिशा देने में सहायक बन सकता है। अतः कोई भी समीक्षा-सिद्धान्त आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन के प्रश्न की उपेक्षा नहीं कर सकता।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या आलोचना प्राचीन साहित्य (बीते काल में रचे गये साहित्य) का सही मूल्यांकन कर सकती है ? प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में यह प्रश्न गौण है कि अमुक रचना में स्थायित्व के गुण है अथवा नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर तो समय ही दे चुका होता है। कालिदास को महान् लेखक और उनकी रचनाओं को स्थायी साहित्य सिद्ध करने की चेष्टा निरर्थक है। परन्तु इस रहस्य का उद्घाटन करना अथवा उन तथ्यों का व्याख्या करना अवश्य सार्थक प्रयत्न है, जिनके कारण कालिदास की रचनाएँ आज भी हमें सौन्दर्य-बोध कराने में समर्थ हैं। 'आज भी हमें' से तात्पर्य आधुनिक काल की भाव-चेतना, संस्कार और परिस्थिति की अपेक्षा से है। इन तत्त्वों की व्याख्या का परिणाम निश्चय ही यह होगा कि आलोचक आधुनिक चेतना के अनुरूप कालिदास का सर्वांग पुनर्विवेचन करे। प्राचीन इसी प्रकार वर्तमान में अपने को पुनर्जीवित करता चलता है। इसी कारण इस मूल्यांकन में कालिदास के समकालीन समाज और उनके साहित्य पर पड़े प्रभावों के साथ-साथ उनकी कृतियों द्वारा परवर्ती समाज और साहित्य पर पड़े प्रभावों का विश्लेषण भी उतना ही आवश्यक है। तभी हम इन अगणित प्रभावों के सम्बन्ध-सूत्रों को एकत्र कर उनकी शृंखला को ऐतिहासिक-क्रम में संजोकर कालिदास को आधुनिक वस्तु-सत्य की शृंखला से जोड़कर उनको सम्पूर्ण रूप से अपने लिए बोधगम्य बना सकते हैं, अर्थात् उनकी कृति के पूरे मूल्य प्राप्त कर सकते हैं। अन्यथा कालिदास की महत्ता की स्वीकारोक्ति मौखिक ही बनी रहेगी। अतः कोई भी समीक्षा-सिद्धान्त प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन के प्रश्न की उपेक्षा नहीं कर सकता।

निस्संदेह मनोवैज्ञानिक विचारधारा या कुत्सित समाजशास्त्रीयता, दोनों ही इस दृष्टि से एकांगी हैं। मनोवैज्ञानिक विचारधारा की समीक्षा की अन्तर्दृष्टि केवल आधुनिक और सामयिक साहित्य तक ही सीमित है, क्योंकि अधिक-से-अधिक आधुनिक लेखकों का ही मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है, यद्यपि उसमें सामाजिक जीवन (बाह्य) के प्रभाव एक प्रकार से फिर भी छूट जाते हैं। प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में उसकी गति नहीं के बराबर है, और यदि कभी इसका प्रयत्न किया गया है तो हास्यास्पद परिणाम निकले हैं। इसी प्रकार कुत्सित समाजशास्त्रीयता केवल प्राचीन लेखकों का ही एक सीमा तक सही मूल्यांकन कर पाती है, यद्यपि इसमें भी अपने दृष्टिकोण की यान्त्रिकता के कारण वह लेखकों को इस वर्ग या उस वर्ग का लेखक सिद्ध करने की समस्या से ही अधिक जूझती है और अवसर के अनुकूल कतिपय पंक्तियों के आधार पर ही उन्हें प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी सिद्ध करती रहती है।

आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन करने में वह नितान्त असमर्थ है, क्योंकि वह किसी रचना के सामयिक महत्त्व को ही उसके स्थायी सौन्दर्य का पर्यायवाची स्वीकार करती आई है। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक विचारधारा की रुचि उस उत्सुक अधेड़ स्त्री के समान है जो दरवाज़े के सूराख़ में से झाँककर किसी दम्पति के एकान्त व्यवहार को ही उनका सार्वजनिक और सामान्य व्यवहार घोषित करती फिरती है, और कुत्सित समाजशास्त्रीयता का दृष्टिकोण उस जासूस का-सा है जो किसी व्यक्ति के पीछे छाया की तरह लगकर यह नोट करता जाय कि वह किससे मिला, किसके यहाँ खाना खाया, किससे रुपये माँगे और बाजार से क्या ख़रीदकर लाया और फिर इसके आधार पर उस व्यक्ति के चरित्र पर एक रिपोर्ट तैयार करदे और फिर उसे इस तरह या उस तरह व्यवहार करने का आदेश दे। लेखकों के व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन के बारे में दोनों विचारधाराओं की जिज्ञासा एक ही धरातल की है, यद्यपि उनकी मात्रा और दिशाओं में भेद है।

प्रगतिवाद यदि साहित्य का नया दृष्टिकोण है तो इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि समीक्षक साहित्यकार को कला-वस्तु या कला-रूप सम्बन्धी निर्देश दे। कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, उसकी सृजन-चेष्टा बाह्य जीवन के अनुभव और सौन्दर्यमूलक प्रवृत्ति अर्थात् व्यवस्था, सामंजस्य और मुक्तिकामी निसर्ग-चेष्टा से उत्प्रेरित होती है। कलाकृति मनुष्य के अनुभव और चेतना को अधिक व्यापक और गहरा बनाती है और इस प्रकार अधिक समन्वित मानव-मूल्यों का निर्माण करती है। अपने संस्कृति-विधायक रूप में कला या साहित्य स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अतः एक कलाकार या उसकी कृति को 'प्रगतिवादी' होना जरूरी नहीं है, अर्थात् यह जरूरी नहीं है कि कलाकार प्रगतिवाद के सिद्धान्त को सामने रखकर रचना करे और अपनी रचना को उनका दृष्टान्त बनादे। ऐसा करना 'प्रेत और छाया' की प्रगतिवादी प्रतिकृति तैयार करना होगा।

चौथी आलोचना-पद्धति को हम व्यंजनावादी या प्रभाववादी कह सकते हैं। यह केवल एक पद्धति है, विचारधारा नहीं, अतः साहित्य-समीक्षा के व्यापक सिद्धान्तों का निरूपण करना इस पद्धति की कार्य-सीमा से बाहर की वस्तु है। इस पद्धति में आलोचक-विशेष की रुचि के अनुसार प्रायः पूर्वोक्त तीनों विचारधाराओं के मिले-जुले सिद्धान्त प्रयोग में आते हैं। यह पद्धति आलोचना को विज्ञान की सीमा से हटाकर उसे कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप देने का प्रयत्न करती है और इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की आलोचनाएँ बहुधा सुपाठ्य और चमत्कारपूर्ण होती हैं। उनमें भाषा का सौष्ठव, अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता और कोमलता भी रहती है और यत्र-तत्र साहित्य और कला के सम्बन्ध में विलक्षण रूप से मार्मिक सुझाव और निष्कर्ष भी

रहते हैं। परन्तु यह सब अन्य विचारधाराओं के असम्बद्ध प्रभावों के रूप में ही यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। मूल्यांकन के कोई मौलिक प्रतिमान इस पद्धति के आलोचक—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र या शान्तिप्रिय द्विवेदी—ने निर्दिष्ट नहीं किये। वे यदा-कदा सार-संचय की भावना से (Eclectically) विभिन्न विचारधाराओं के समन्वय की ओर उन्मुख हुए हैं, परन्तु किसी व्यापक साहित्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन उन्होंने नहीं किया है।

हिन्दी-आलोचना की विभिन्न विचारधाराओं और पद्धतियों के विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि वे सभी किसी न किसी रूप में एकांगी हैं। अपनी संकुचित दृष्टि को लेकर प्राचीन समीक्षा-शास्त्र ही एक सीमा तक सम्पूर्ण कहा जा सकता है, परन्तु साहित्य के मूल्यांकन का व्यापक प्रश्न उससे अछूता ही रह जाता है। हमारे लिए इस दृष्टि से कुत्सित मनोवैज्ञानिकता या कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की यांत्रिकता से मुक्त मनोविज्ञान और प्रगतिवाद के दृष्टिकोण ही महत्त्वपूर्ण हैं। मनोविज्ञान ने व्यक्तिगत दृष्टि से साहित्य के मूल्यों का निरूपण करने की चेष्टा की है। और प्रगतिवाद, जिसे यद्यपि निसर्गतः मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिकोणों का समन्वित दृष्टिकोण उपस्थित करना चाहिए था, अनेक कारणों से अभी तक साहित्य के सविधायक पक्ष पर ज़ोर देकर उसके केवल सामाजिक मूल्यों का ही निर्धारण कर पाया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण साहित्य की प्रतीकवादी धारा का प्रतिनिधित्व कर रहा है तो प्रगतिवाद के नाम पर कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण प्रकृतिवादी धारा का। समालोचक इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दे रहे कि वस्तुतः दोनों धाराएँ एक दूसरे की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुई हैं और इसी कारण एक दूसरे की पूरक भी हैं। वे वस्तु-सत्य की एकांगी अभिव्यक्ति ही करती हैं। और जिस प्रकार अधिक व्यापक चेतना प्राप्त रचनाकार प्रकृतवाद की स्थूल फ़ोटोग्राफ़िक, यान्त्रिक भौतिकवाद की कठोर कार्य-कारण पद्धति त्यागकर आधुनिक ज्ञान के आधार पर जीवन को एक तरंग-प्रवाह (Process) के रूप में ग्रहण करके साहित्य में मनुष्य के सामाजिक जीवन के संघर्षमय अनुभव के साथ-साथ उसके व्यक्तिगत (मनोवैज्ञानिक) संघर्ष की अनुभूतियों का सामजस्य 'यथार्थवाद' की शैली के रूप में करने की चेष्टा कर रहे हैं, अर्थात् मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को साहित्य मे प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, उसी प्रकार क्लासिज़्म और रोमाण्टिसिज़्म या प्रतीकवाद और प्रकृतिवाद के समीक्षा-सिद्धान्तों की तरह ही प्रगतिवाद को केवल मूल्यांकन का एकांगी दृष्टिकोण बनकर ही नहीं रह जाना चाहिए बल्कि अपने प्रारम्भिक दावे के अनुसार इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वित रूप उपस्थित करना चाहिए, अन्यथा वह एक विशेष प्रकार के साहित्य का ही मूल्यांकन करने में समर्थ हो सकेगा, और दूसरी प्रकार के उच्चकोटि

के और महत्त्वपूर्ण साहित्य की अवहेलना करता जायगा। परन्तु इनका समन्वय इस रूप में असम्भव होगा कि दोनों के सार-भाग का एक समुच्चय तैयार कर दिया जाय, जैसा कि कई लेखकों ने यदाकदा सुझाया है। समुच्चय समन्विति नहीं है। समन्विति किसी दार्शनिक विचार—संयोजक-सूत्र में गुंथकर ही सम्भव है। प्रगतिवाद की विशेषता यही है कि उसने साहित्यालोचन को एक व्यापक और वैज्ञानिक जीवन-दर्शन का आधार दिया है।

हर प्रकार की आलोचनात्मक क्रिया मूलतः दार्शनिक होती है, क्योंकि वह वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध-सूत्रों का उद्घाटन और निरूपण करती है। साहित्यालोचक भी किसी कलाकृति और सम्पूर्ण मानव-जीवन के परस्पर सम्बन्ध का निर्णय करता है और इस सम्बन्ध का स्वरूप ही उस कलाकृति के मूल्य का स्वभाव, रूप, गुण और अनुपात निश्चित करता है।

आलोचना और दर्शन का सम्बन्ध इस स्थूल बात से भी प्रकट है कि पाश्चात्य दार्शनिक अफ़लातून से लेकर अरस्तू, संत टामस, स्पिनोज़ा, कांट, हीगल, शोपनहॉवर, मार्क्स, ह्यूम, मिल, नीत्शे, क्रोचे, लेनिन, जॉन डीवी आदि प्राचीन और आधुनिक दार्शनिकों की कला-साहित्य विषयक स्थापनाएँ साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्तों का प्रायः आधार बनती आई है। केवल इधर स्वच्छन्दतावादी (रोमाण्टिसिज़्म) धारा के युग में आलोचना और दर्शन का सम्बन्ध एक प्रकार से टूट-सा गया था, परन्तु इस सम्बन्ध को पुनः स्थापित करने की अनिवार्यता प्रतीत हुई है। कारण स्पष्ट है। आलोचक एक निर्णेता है, उसका निर्णय उस समय तक एकांगी और त्रुटिपूर्ण रहेगा जब तक कि वह निर्णय उन सभी निर्णयों से प्रसंगति नहीं रखता जो जीवन की अन्य क्रियाओं द्वारा निर्दिष्ट हुए हैं, अर्थात् जो सम्पूर्ण जीवन की अपेक्षा में प्रसंगत नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति और समाज के लिए कला और साहित्य का क्या प्रयोजन, उपयोग और मूल्य है—एक विशिष्ट, स्थायी और महत्त्वपूर्ण मानव-क्रिया के रूप में—इसके प्रतिमानों का निर्धारण किया जाय, जिससे प्राचीन और आधुनिक साहित्य के ऐतिहासिक और विशेष रचनागत मूल्यों का आकलन हो सके। तभी साहित्य-समीक्षा एक विज्ञान—स्वतन्त्र विज्ञान—बन सकेगी। परन्तु यह तभी सम्भव है—इस तथ्य की पुनरावृत्ति आवश्यक है—जब साहित्य के मूल्यों का निर्णय अन्य सभी वैज्ञानिक निर्णयों से प्रसंगत तथा सम्बद्ध हो। अर्थात् जब एक विज्ञान के रूप में आलोचना अपने सजातीय अन्य विज्ञानों की उन गवेषणाओं और तथ्य-निरूपिणी सामान्य स्थापनाओं से परिचित हो जो कम-से-कम संस्कृति, साहित्य और कला के प्रश्नों से सम्बन्ध रखती है। तभी अपनी नयी द्वन्द्वात्मक विचार-पद्धति के अनुसार वह उनके निष्कर्षों की अपेक्षा में अपने निष्कर्षों की निष्पत्ति कर सकती है। ये सजातीय विज्ञान, आधुनिक मनोविज्ञान, सांस्कृतिक

मानव-शास्त्र, समाज-शास्त्र और इतिहास हैं।

एक साधारण चेतावनी देकर इस निबन्ध को समाप्त करना आवश्यक है। किसी एक विचारक के विचारों को हिन्दी-पाठकों के सामने पटककर यह दुराग्रह करना कि साहित्य 'यह है' या 'वह है'; उसका लक्ष्य, प्रयोजन, संविधायक कर्म या सौन्दर्य-मूल्य 'यह है' या 'वह है' वैज्ञानिक आलोचना का दृष्टिकोण नहीं हो सकता, और न सार-संचयन की भावना से किया गया विभिन्न दृष्टिकोणों का बलात् संयोग ही समन्वय कहा जा सकता है। इस चेतावनी की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि हिन्दी में इन दोनों प्रवृत्तियों का जोर है। इससे किसी लेखक की अहंकार-तुष्टि भले हो जाय, साहित्य को अपेक्षाकृत हानि ही अधिक होती है। समन्वय अवश्य होना चाहिए और मेरा विचार है कि प्रगतिवाद ने समन्वय के लिए व्यापक क्षेत्र तैयार किया है और उसमें एक समन्वित दृष्टिकोण के रूप में विकास करने की सम्भावनाएँ भी मौजूद हैं—परन्तु यह तभी सम्भव है जब प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य-सिद्धान्तों द्वारा निरूपित तथ्यों को कोई वैज्ञानिक जीवन-दर्शन की पद्धति एक सूत्र में बाँधे—अर्थात् द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति से ऐसा किया जाय। तभी एक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Social Aesthetic) का विकास किया जा सकेगा और साहित्य के मूल्यांकन की वैज्ञानिक पद्धति निर्धारित की जा सकेगी।

—अगस्त १९४६

२

हिन्दी-साहित्य की परम्परा में जीवन-सत्य

साहित्य का समाज से, अर्थात् समाज के जीवन से, गहरा सम्बन्ध है, कम से-कम इतनी बात तो सामान्य रूप से मानी जाती है। विवाद तभी उठ खड़ा होता है जब इस सम्बन्ध की सुनिश्चित रूप-रेखायें निर्धारित की जाती हैं। साहित्य समाज का दर्पण है, या साहित्य जीवन की आलोचना है, या जीवन की वास्तविकता का कलात्मक प्रतिबिम्ब है, इन विवाद-ग्रस्त परिभाषाओं पर विचार न करके, हमारे लिए इतना स्वीकार कर लेना ही यथेष्ट होगा कि चाहे जिस प्रकार का साहित्य हो—चाहे किसी जीवन-वृत्त को लेकर लिखा गया प्रबन्ध-काव्य हो, या नभ के तारों को लक्ष्य करके किसी गीति में अपने हृदय का अवसाद व्यक्त किया गया हो, या किसी हड़ताल का वर्णन करके न्याय की भावना को उभारा गया हो, या बच्चों के लिए परियों की कहानी हो और दिन भर के काम से थके-माँदे दफ्तर के बाबू के लिए 'माया' की कहानी या कोई जासूसी उपन्यास हो, या अतृप्त वासनाओं से कुंठित पर संवेदनशील नवयुवक के लिए 'शेखर : एक जीवनी' जैसा उपन्यास हो, या वर्तमान जीवन में परिवर्तन की आकांक्षा रखने वाले चेतना-प्राप्त व्यक्ति के लिए प्रेमचन्द का 'गोदान' हो, उसमें जीवन के ही विविध अंगों की सुकृत अथवा विकृत रूप में अभिव्यक्ति मिलती है। यदि इतना स्पष्ट है तो हमें यह स्वीकार करने में कठिनाई न होगी कि साहित्य की परम्पराएँ भी जीवन-सत्य की ही अभिव्यक्ति करती हैं।

परन्तु साथ ही यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि साहित्य की परम्पराएँ बनती कैसे हैं? सम्भव है यह बात आपको मनोरंजक लगे कि जब मैं विद्यार्थी था और मैंने पहली बार हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ा तो मैं यह सोचकर हैरान रह गया कि साहित्य की हर परम्परा में कई पीढ़ियों के सैकड़ों कवि थोड़ा-बहुत करके एक ही विषय पर पचास-सौ बरस तक एक-सी कविताएँ करते रहे। यह बात अवश्य थी कि किसी कवि में अधिक प्रतिभा थी, किसी में कम, जिससे उनके काव्य के धरातल में बड़ा अन्तर है, और यह भी सच है कि किसी एक परम्परा के सभी कवियों ने हमेशा एक ही छन्द सामान्य रूप से नहीं अपनाया तथा उनका शब्द-विन्यास भी भिन्न है और रूपक-उपमाएँ भी निराली और कहीं-कहीं मौलिक हैं। यद्यपि इस दृष्टि से भी उनमें गहरा साम्य मिलता है और इसी से रूपक, उपमा और प्रतीकों की परम्पराएँ भी बनी हैं, परन्तु इन बाह्य साम्यताओं और विभिन्नताओं के अतिरिक्त साहित्य की इन परम्पराओं

में एक दूसरे प्रकार का साम्य मिलता है जिसके कारण ही कोई रचना किसी परम्परा की कही जाती है। यह साम्य है उसकी आत्मा का, जिसको आधुनिक भाषा में काव्य की भाव-विचार-वस्तु, या कवि का विश्व-बोध कहेंगे। उस समय मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठा करता था कि यदि व्यक्तिवादी आलोचकों की बात सही मानी जाय कि 'कला कला के लिए' है और सामयिक सामाजिक जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, तो फिर वीरगाथाएँ लिखने वाले, भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की रचना करने वाले अगणित कवियों के सामने ऐसी कौन सी बाध्यता थी जो उन्होंने अपने काल की काव्य-परम्परा के अनुसार ही काव्य-रचना की, और ऐसे कवि इने-गिने ही पैदा हुए जिन्होंने इन परम्पराओं से बाहर निकलकर कुछ लिखा हो ? हमारे सामने ही छायावादी परम्परा का अन्त और प्रगतिवादी परम्परा का सूत्रपात हो रहा है, और इन दोनों काव्य-युगों की रचनाओं में अगणित कवियों में वैसा ही दृष्टि-साम्य मिलता है। आखिर ऐसा क्यों होता है ?

हमारी पहली स्थापना से ही इस प्रश्न का भी उत्तर निकलता है। साहित्य की परम्पराएँ केवल इस कारण बनती है कि साहित्य में किसी न किसी रूप में जीवन-सत्य की ही अभिव्यक्ति होती है, और चूंकि मनुष्य का जीवन अर्थात् उसका रहन-सहन, उसके रस्म-रिवाज, उसके आचार-विचार, उसके न्याय और धर्म सम्बन्धी विचार और उसकी नैतिकता और राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्थाएँ रोज़-रोज़ नहीं बदला करतीं, इस कारण इस चतुर्दिक वातावरण से प्रभावित मनुष्य के दृष्टिकोण की साहित्य में जो अभिव्यक्ति होती है वह भी तब तक थोड़ा-बहुत करके अपने को दुहराती चलती है जब तक कि जीवन में कोई मौलिक परिवर्तन न हो गया हो या जब तक रूढ़ियों में जकड़े हुए समाज का विकास इस सीमा तक अवरुद्ध न हो गया हो कि लोग सामान्य रूप से मौलिक परिवर्तन की आकांक्षा करने लगे हों। इस प्रकार साहित्य की प्रत्येक परम्परा समाज के एक दीर्घकालीन अपेक्षाकृत स्थिर जीवन के सत्य को व्यक्त करती है। अतः किसी काल के सामाजिक जीवन का अध्ययन करने के लिए उस काल की साहित्य-परम्परा से परिचित होना आवश्यक है।

हिन्दी-साहित्य की परम्पराओं में हिन्दी-भाषी जनता के जीवन और उसकी विभिन्न भावनाओं की अभिव्यक्ति इतनी सुस्पष्ट और गहरी हुई है कि पाठक के आगे उसके जीवन के विकास-क्रम का इतिहास अपने आप चित्रित हो जाता है।

हिन्दी काव्य में वीर-गाथाओं की परम्परा साहित्य की सबसे प्राचीन परम्परा है और लगभग तीन-चार सौ वर्षों तक कवियों ने इसी परम्परा के अन्तर्गत प्रबन्ध-काव्य या वीर-गीत लिखे। इन ग्रन्थों को 'रासो' कहते हैं। इस काल की थोड़ी ही रचनाएँ प्राप्त हैं। परन्तु उसकी मुख्य-मुख्य रचनाओं, जैसे दलपतिविजय के 'खुमान

रासो', चन्दबरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' या जगनिक के 'आल्हा खंड' आदि का अनुशीलन करें तो ज्ञात होगा कि इन वीर-गीतों और प्रबन्ध-काव्यों में उस समय के राजाओं के पराक्रम, उनके विजय-युद्धों और शत्रु-कन्या-हरण का विस्तृत चित्रण हुआ है। यद्यपि इन रचनाओं में आजकल के उपन्यासों की तरह सामाजिक जीवन के हर स्तर और वर्ग का विशद चित्रण नहीं हुआ है—और ऐसा सम्भव भी नहीं था क्योंकि राज-दरबारों के चारण-भाटों से यही अपेक्षा की जाती थी कि वे राजाओं के पराक्रम और वीरता का गुणगान करेंगे और युद्ध के अवसर पर उन्हें उत्साह दिलायेंगे—परन्तु इससे यह बात स्पष्ट है कि उस समय देश में छोटे-बड़े अनेक राजा थे, जो एक दूसरे से लड़ते रहते थे, और इस लड़ाई के दौरान में यदि मौक़ा पाते थे तो एक दूसरे की लड़की या बहन का हरण करके विवाह कर लेते थे, अथवा केवल इतना जानना ही कि अमुक राजा के यहाँ एक सुन्दर लड़की है, युद्ध का बिगुल बजाने के लिए पर्याप्त कारण होता था। निश्चय ही उन दिनों दरबारों के जीवन में निश्चिन्तता का वातावरण नहीं हो सकता। ऐसे समय में एक क्षत्रिय की नैतिकता क्या हो सकती है, 'आल्हा-खंड' के निम्न पद से स्पष्ट व्यक्त होती है—

"बारह बरिस लै कूकर जिऐं, औ तेरह लै जिऐं सियार।
बरिस अठारह छत्री जिऐं, आगे जीवन के धिक्कार।।"

परन्तु इन वीर-गाथाओं की परम्परा देश में मुसलमानों की सत्ता स्थापित होते ही एक प्रकार से समाप्त हो गई। लोगों की जीवन-धारा बदल चुकी थी, उस पर नये प्रभाव पड़े थे, नयी और अधिक बौद्धिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं, नयी चेतना जगी थी और जीवन के प्रति दृष्टिकोण में वस्तु-स्थिति से सामंजस्य पाने के लिए परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था। जीवन के व्यापक प्रश्नों पर सोचने के लिए जनता पहली बार बाध्य हुई थी, तब उसके ही बीच से कवि उत्पन्न हुए और उन्होंने नये जीवन-मूल्य निर्धारित किये, नयी नैतिकता का निर्माण किया। इन विशेष परि-स्थितियों में हिन्दी-साहित्य में एक बहुत बड़ी और महान् साहित्य-परम्परा का सूत्र-पात हुआ, जिसे हम भक्तिकाल के नाम से जानते हैं।

भक्तिकालीन काव्य-परम्परा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चार शाखाओं में बांटा है—ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेममार्गी (सूफ़ी) शाखा, रामभक्ति शाखा और कृष्ण-भक्ति शाखा। व्यापक सामाजिक दृष्टि से इनमें ज्ञानाश्रयी शाखा की परम्परा का महत्त्व सबसे अधिक है, अर्थात् उसमें जीवन-सत्य की अभिव्यक्ति न केवल सबसे अधिक और स्पष्ट रूप में हुई है, वरन् अधिक उदार और सकल-मानवीय एकता के आदर्श की उसमें उदात्त प्रवृत्ति भी मिलती है। कबीर इस परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। यद्यपि कबीर से पहले अनेक सिद्धों और जोगियों की बानियों में हिन्दू-मुस्लिम एकता का संदेश

दिया गया था और हिन्दू धर्म की जाति-वर्ण-भेद पर निर्भर आचरण-नियमबद्धता के विरुद्ध मनुष्यमात्र का बराबरी की घोषणा की गई थी, परन्तु कबीर पहले महाकवि और संत है जिन्होंने अपनी अटपटी वाणी मे इस संदेश को विलक्षण गरिमा प्रदान करके जन-जन की वाणी बना दिया। ज्ञानाश्रयी परम्परा के भक्त कवि कबीर, रैदास और नानक की रचनाओं से यह स्पष्ट पता चलता है कि हिन्दू और मुसलमानों में आपस में उतना वैर-भाव नहीं था, जितना अपनी ही जातियों के दलित और उपेक्षित वर्गों के प्रति उनमें असहिष्णुता का भाव था। इसी कारण ये कवि कर्मकाण्डी पण्डितों और शेख-मुल्लों को निरन्तर खरी-खोटी सुना करके जनता में एकता और समानता के भाव का प्रचार करते रहे और हिन्दू-मुसलमानों के लिए उपासना का ऐसा स्वरूप निर्दिष्ट करते रहे जो दोनों को मान्य हो सके।

प्रेममार्गी शाखा की परम्परा कदाचित् ज्ञानमार्गी शाखा की प्रतिक्रिया के रूप में शुरू हुई या सूफ़ी मत के प्रभाव के फैलने के कारण। जो भी कारण हो प्रेममार्गी कवियों ने, जिनमें कुतबन और जायसी प्रमुख हैं, भगवत्-प्रेम का वर्णन लौकिक प्रेम के रूपकों के द्वारा किया है। इन वर्णनों मे भी उस समय के जीवन की ही अभिव्यक्ति है। यद्यपि कवियों ने अन्योक्ति का प्रयोग किया है, परन्तु उन राजकुमारों और राजकुमारियों का मर्मस्पर्शी वर्णन जो प्रेम, विरह और मिलन के चक्र में फँसकर अपना पूरा जीवन बिता देते थे, यह सिद्ध करता है कि उस समय देश में अपेक्षाकृत अधिक शान्ति थी, गृह-युद्ध तो था ही नहीं और राजकुमारों को युद्ध-कला नहीं प्रेम-कला सीखने की अधिक जरूरत थी। दूसरी ओर ये रचनाएँ इस बात का भी परिणाम है कि उस समय भक्ति-भावना जोर पकड़ रही थी और लोग धर्म और भगवद्भक्ति को अधिक मानवीय प्रेम-गाथाओं के रूप मे सरलतापूर्वक ग्रहण कर सकते थे। कबीर की बौद्धिकता की धारा उनके लिए अधिक प्रखर थी।

ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी काव्य-परम्पराओं की विशेषता यह है कि वे साम्प्रदायिक नहीं थीं, एक प्रकार से साम्प्रदायिक बंधनों को तोड़कर मानवमात्र की एकता की घोषणा करती थीं और उदार और व्यापक नैतिकता का प्रचार करती थीं। उनमे जिस जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है उसका स्पष्ट उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करना और धार्मिक कट्टरता को मिटाना था। परन्तु इसके पश्चात् राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति की जिन साहित्य-परम्पराओं का सूत्रपात क्रमशः तुलसी और सूर ने किया वे व्यापक अर्थों मे साम्प्रदायिक थीं, अर्थात् उनमें पहली बार हिन्दुओं ने अपनी एकता के स्वरूप को पहचाना। परन्तु तुलसी, सूर या मीरा ने अपनी रचनाओं में मुसलमानों के विरुद्ध नहीं लिखा, अतः हिन्दुओं की यह चेतना मुस्लिम विरोधी नहीं थी, बल्कि अपने साम्प्रदायिक आदर्शों के आधार पर अपनी एकता पहचानकर

संगठित होने की आवश्यकता से उत्पन्न हुई थी। उस समय देश में मुग़ल शासन ने सामन्ती व्यवस्था को नये ढंग से संगठित किया था। ऐसी स्थिति में तुलसी की 'रामायण' और सूर का 'सूर-सागर' आदि रचनाएँ केवल भक्ति-भावना की सगुणोपासक प्रवृत्ति की ही अभिव्यक्ति नहीं करतीं, बल्कि उससे भी कहीं अधिक वे उन मानव-मूल्यों की सृष्टि करती हैं जिनके कारण मनुष्य का जीवन जीने योग्य बनता है। रामायण में व्यक्त भाई-भाई का स्नेह, पति-पत्नी का प्रेम, वीरता, त्याग, भक्त-वत्सलता आदि के उदाहरण उन मानव-मूल्यों की सृष्टि करते हैं जिनके लिए कबीर और दूसरे संत कवियों ने आन्दोलन किया था। सूर-सागर में व्यक्त वात्सल्य और गोपियों के निश्छल प्रेम के वर्णन जीवन को सरस और मानवीय बनाने की प्रेरणा देते हैं। अतः भक्ति की इन दो परम्पराओं ने जीवन-सत्य की जितनी गहरी और सर्वांगीण अभिव्यक्ति की, वह अभूतपूर्व थी। संकीर्ण साम्प्रदायिक या धार्मिक दृष्टि से देखकर इन रचनाओं के साहित्यिक मूल्यों की बहुधा उपेक्षा की गई है। उनके साहित्यिक मूल्य, जिनके कारण वे अमर रचनाएँ हैं, उनकी व्यापक मानवीय सहानुभूति के अन्दर निहित है। इस व्यापक मानवीय सहानुभूति को तुलसी-सूर ने अपने ग्रन्थों में सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति करके व्यक्त किया है। यही उनकी महत्ता है।

भक्ति-परम्परा के पश्चात् हिन्दी में एक ऐसी काव्य-परम्परा का सूत्रपात हुआ जो सामन्ती व्यवस्था के ह्रासकालीन विलासी राजाओं के दरबार में पनपी और वहीं तक सीमित भी रही। दरबारों का वातावरण इस बीच बहुत दूषित हो गया था। राजा विलासप्रिय थे और आमोद-प्रमोद के साधन जुटाने मे ही जीवन की सार्थकता समझते थे। अतः वीर-गीतों या भक्ति-गीतों से उनका मनोरंजन नही हो पाता था। वे अनूठी और चमत्कारपूर्ण उक्तियों और नायक-नायिकाओं के सूक्ष्म भेदों का वर्णन करने वाली कविताओं को प्रोत्साहन दे रहे थे। फल यह हुआ कि एक ओर आचार्य केशवदास और फिर उनके पश्चात् सैकड़ों कवियों ने संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर रीति-ग्रन्थों की रचना की तो दूसरी ओर अगणित कवियों ने राजाओं का मनोरंजन करने के लिए शृङ्गार रस की अविरल धारा बहाई। अपने आश्रयदाता की रुचि के अनुकूल उन्होंने श्लील और अश्लील का विचार छोड़कर शृङ्गार का मुक्त वर्णन किया है। बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर और घनानन्द आदि इस काव्य-परम्परा के प्रमुख कवि हैं। रीति-परम्परा के काव्य में विलासी जीवन की सूक्ष्म शृङ्गारिक रुचि की अभिव्यक्ति मिलती है, इससे अधिक जीवन के अन्य व्यापारों का चित्रण उसमें नहीं हुआ है।

रीति-परम्परा का अन्त होते-होते हिन्दी का आधुनिक युग शुरू हो जाता है। भारतेन्दु की पीढ़ी के साहित्य मे हम जीवन की आधुनिक समस्याओं की अभिव्यक्ति

पाते हैं, समाज-सुधार की भावना ही उसकी प्रेरणा का केन्द्र है। परन्तु वास्तव में जो महत्त्वपूर्ण साहित्य-परम्परा रीति-काव्य के बाद हिन्दी में विकसित हुई वह छायावादी काव्य की परम्परा है। छायावादी काव्य में हम आधुनिक जीवन की विषमताओं के प्रति व्यक्ति के गहरे असन्तोष और मुक्ति-कामना की अभिव्यक्ति पाते हैं। वर्तमान जीवन का सारा अवसाद, निराशा, संकीर्णता, अनिश्चितता, समाज के सामन्ती बन्धनों की क्रूरता और व्यक्ति के आत्मविकास की सुविधाओं की स्वल्पता के विरुद्ध यह असंतोष कभी-कभी इतनी तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुआ है कि कवि ने मुक्ति का अर्थ जीवन से पलायन करना ही माना है। परन्तु यत्र-तत्र इस असामाजिक दृष्टिकोण के बावजूद प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, बच्चन की छायावादी काव्य-परम्परा ने आधुनिक जीवन के वस्तु-सत्य की जैसी गहरी और मार्मिक अभिव्यक्ति की है, वैसी प्रगतिशील साहित्य की अभिनवतम परम्परा अभी तक नहीं कर पाई है, यद्यपि प्रगतिशील साहित्य शोषित वर्गों के क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से, केवल व्यक्ति ही नहीं वरन् पूरे समाज के जीवन के सत्य का चित्रण करने का हौसला लेकर उठा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य की बड़ी-बड़ी परम्पराओं ने जीवन-सत्य की सर्वदा अभिव्यक्ति की है, यह दूसरी बात है कि वह सत्य कभी मनुष्यमात्र के व्यापक जीवन की एकता का हो या राज-दरबारों के संकुचित वातावरण का, या व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक विसंगतियों का या भावी जीवन के लिए संघर्षरत शोषित मानवता का।

—जनवरी १९४७

३

हिन्दी-कविता में पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी

पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी संसार की हर भाषा की कविता में मिलते हैं, और अक्सर स्वतन्त्र रूप से वर्णन के विषय भी बने हैं। यह सब प्रकृति के ऐसे अङ्ग हैं जिनसे मनुष्य का साहचर्य बहुत पुराना है। प्रकृति के जड़ और चेतन दोनों अङ्गो से मनुष्य का संघर्ष आदिकाल से चला आ रहा है। इस संघर्ष के दौरान में मनुष्य ने प्रकृति के अनेक निगूढ़ रहस्यों को खोलकर, उसके नियमों को जानकर, उसके अनेक अङ्गों को विजित कर प्रकृति पर अपना क़ाबू ही नहीं बढ़ाया है बल्कि उसको अपने सामाजिक जीवन को उन्नत, समृद्ध और संश्लिष्ट बनाने में सहायक या साधन भी बनाया है। मनुष्य के पेचीदा और व्यापक सामाजिक जीवन की ज़रूरतें भी लम्बी-चौड़ी होती हैं। शुरू-शुरू में जब समाज की ज़रूरतें थोड़ी थीं, उस समय भी मनुष्य ने जहाँ एक ओर अपने रहने-बसने के लिए जङ्गल काटे, मैदान साफ़ कर खेत बोये, वहाँ दूसरी ओर पशुओं को क़ब्ज़े में कर पालतू भी बनाया, ताकि वे मनुष्य के श्रम का कुछ भार उठा सकें। यह काम प्रकृति के साथ मनुष्य के चिरन्तन संघर्ष के अन्तर्गत ही आता है। जब तक प्रकृति के छोटे-मोटे रहस्य भी उसके लिए अज्ञेय थे और अपने चारों ओर के वातावरण पर उसका अधिकार कमज़ोर था, तब तक वह पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी की गतिविधि से भी भय खाता था और उनके प्रति श्रद्धालु था। इसी कारण प्रारम्भिक कविता में वृक्षों, वनों, पर्वतों और समुद्रों को उर्वरता और उत्पादन के देवताओं का निवास-स्थान, अनेक पशु-पक्षियों को उनका वाहन दिखाया गया है। इन देवताओं को रुष्ट न करने के लिए उनके निवास-स्थानों और वाहनों के प्रति भी श्रद्धा और भय का भाव दिखाया गया है। लेकिन ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन का विकास होता गया और मनुष्य का सामाजिक ज्ञान बढ़ता गया त्यों-त्यों प्रकृति के इन अङ्गों के प्रति श्रद्धामूलक भावना भी कम होती गई और उसके स्थान पर सामाजिक जीवन को तरोताज़ा, समृद्ध और ख़ुशहाल बनाने में सहायता देने वाले प्रकृति के इन अङ्गों के प्रति मनुष्य में एक दूसरे ही भाव का उदय हुआ। वह उन्हें अब अपने सहचर और साथी के रूप में ग्रहण करने लगा और उनके साथ अपना मानवी रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता गया। इसी कारण मनुष्य को उसमें सौन्दर्य के दर्शन होते आये हैं; क्योंकि सौन्दर्य की भावना का जन्म मनुष्य और प्रकृति के संघर्ष से पैदा हुए समाज-सम्बन्धों और सामाजिक क्रियाशीलता की चेतना से होता है,

और मनुष्य ने इस संघर्ष में अनेक पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षियों की सहायता लेकर उन्हें अपने समाज-सम्बन्धों का अङ्ग बना लिया है, और अब मनुष्य के चौबीस घण्टे के जीवन का वातावरण इनके बिना सोचा भी नहीं जा सकता। गाँवों में तो मनुष्य का वातावरण इनसे भी भरा रहता है। लेकिन बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों में भी—चाहे कृत्रिम रूप से ही सही—मनुष्य ने उन्हें एकत्र किया है, उपयोग के लिए या अपनी श्रम-क्लान्ति मिटाने और मनोरञ्जन के लिए। नगर के अजायबघर या बोटैनिकल गार्डन सिर्फ़ इस बात का ही प्रदर्शन नहीं करते कि मनुष्य ने प्रकृति के किन-किन अङ्गों और प्राणियों को क़ाबू में कर लिया है या उसकी ऊपरी अव्यवस्था को मिटाकर वह उसे व्यवस्था भी दे सकता है, बल्कि वे इस बात को भी सूचित करते हैं कि उनके प्रति मनुष्य का सहज आकर्षण है। वे उसके सामाजिक जीवन में सहायक रहे हैं और नगर की चहारदीवारी के बाहर आज भी सहायक हैं। प्रकृति के इन अङ्गों के साथ मनुष्य का साहचर्य जितना पुराना है उतना ही उनके प्रति उसका रागात्मक भाव भी पुराना है। और सामाजिक सम्बन्धों के परिवर्तन के साथ-साथ चाहे यह भाव बदलता गया हो, जिससे संसार की कविता में उनके प्रति विविध भावों की अभिव्यक्ति हुई है, लेकिन यह एक सत्य है कि मनुष्य के वातावरण के वे एक आवश्यक अङ्ग हैं और कोई भी कविता उनकी अवहेलना नहीं कर सकती।

यहाँ एक बात विचारणीय है। किसी भाषा की कविता किसी उस देश में ही होती है जहाँ पर उस भाषा के बोलने वाले रहते हैं, और उस देश की भौगोलिक स्थिति के कारण जो पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी वहाँ पाये जाते हैं, उन्हीं का वर्णन वहाँ की कविता में मिलता है। इस तरह अलग-अलग देशों में कुछ विशेष पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, फल-फूल वहाँ की विशेषता बन जाते हैं, क्योंकि उनके निवासियों का उनके साथ नित्यप्रति का साहचर्य रहता है। भारत वनस्पति और पशु-पक्षियों का आलय है, इसलिए यहाँ की कविता में अनेक पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों का वर्णन मिलता है। फ़ारसी की कविता को यदि अपनी बुलबुल पर नाज़ है और अंग्रेज़ी को अपनी नाइटिङ्गेल, ककू और लार्क पर तो हिन्दी कविता को शुक, सारिका और कोकिला का भी कम गौरव नहीं है।

हिन्दी भाषा आदि-भाषा नहीं है। वह संस्कृत-प्रभावित शौरसेनी, प्राकृत और अपभ्रंश से पैदा हुई है, और संस्कृत यहाँ के आर्यों की भाषा उस समय से रही है जब समाज का विकास अपने प्रारम्भिक काल में था। अतः संस्कृत की अनेक परम्पराएँ हिन्दी की प्रारम्भिक और मध्यकालीन कविता में ज्यों-की-त्यों ग्रहण की गईं, और कुछ का प्रभाव तो आधुनिक कविता में भी मौजूद है।

संस्कृत के कवियों ने प्रकृति का विविध रूप से वर्णन किया है। संस्कृत के

अनेक कवि प्रकृति के अनन्य पुजारी थे। वनों और उपवनों में रहकर वे प्रकृति की छटा देखकर तल्लीन होते थे, इसलिए उन्होंने जो प्राकृतिक वर्णन किया है उसमे सूक्ष्म निरीक्षण है। इस वर्णन मे उन्होंने अपने अनुभव से देखे अनेक पशु, पक्षियों और फूलों का वर्णन किया है। लेकिन जब भारतीय सामन्ती समाज स्थायित्व पा गया और नियम और कानूनों से समाज की हर गतिविधि को बांधा गया तो पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी जिनका वर्णन पहले के कवि स्वतन्त्र रूप से कर चुके थे, उनको उन्होंने नाम गिना-गिनाकर शृङ्गार के उद्दीपन की श्रेणी मे रख दिया और बाकी अलङ्कार मात्र बना दिये। इससे वर्णन की परम्पराएँ बन गई। जब हिन्दी-कविता का जन्म हुआ तब उसमे भी रीति-ग्रन्थों की शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल ही पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों का प्रयोग होने लगा। अपने अनुभव से जानकर वर्णन करना हिन्दी के कवियों ने जरूरी न समझा। दृश्यों का स्वतन्त्र चित्रण होना तो बिलकुल ही बन्द हो गया। यहाँ तक कि हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में भी वातावरण का चित्रण करने की जहाँ जरूरत पड़ी है वहाँ नाम गिनाकर ही काम चलाया गया है। अन्यथा संयोग या वियोग शृङ्गार के रूप मे उनका प्रयोग हुआ है। जायसी के 'पद्मावत' मे कई स्थलों पर प्रकृति का वस्तु-वर्णन बड़ा भावपूर्ण हुआ है, लेकिन उन्होंने भी परम्पराओं का पालन करते हुए पेड़, पशु, पक्षियों के नाम गिनाये है और उनसे उद्दीपन का काम लिया है। उन्होंने 'पद्मावत' मे इतने फल-फूलों, पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों का उल्लेख किया है कि उनका गिनना काफ़ी मुश्किल काम है। तुलसीदास जी ने भी परम्परा का पालन किया है, लेकिन वे प्रकृति-चित्रण को एक आध्यात्मिक या नैतिक पुट दे देते थे। इसके अतिरिक्त जहाँ उन्होंने वातावरण का वर्णन किया है वहाँ उन्होंने पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों के अन्दर भी इस गुण की अवस्थिति की है कि वह राम या उनके भक्तों के कार्य-व्यापारों के प्रति सहानुभूति रखते थे। जब राम बन को जाने लगे तो अयोध्या के हाथी, घोड़े, हिरन, पशु, पपीहा, मोर, कोयल, तोता, मैना, सारस, चकोर आदि जीव, लताएँ और पेड़ वियोग में विकल होकर चित्र की भाँति खड़े रह गये। पम्पा सरोवर का वर्णन और किष्किन्धाकाण्ड के वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णनों में उन्होंने उपमा द्वारा साधर्म्य स्थापित करते हुए कुछ नैतिक और धार्मिक विचारों का ही पिष्टपेषण किया है, प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन नहीं। इसी तरह उन्होंने सुन्दरता के प्रतीक उपमानों का भी मुक्त रूप से प्रयोग किया है।

लेकिन पहले की हिन्दी की मुक्तक रचनाओं में तो वर्णन-परम्परा के साथ ऐसा खिलवाड़ किया गया कि रीतिकाल के जिस कवि को देखिये वही संयोग या वियोग-शृङ्गार के उद्दीपन के लिए पेड़-पौधों, फूल, पशु-पक्षियों को हर्ष या विषाद की भूमि ा देकर उनसे कवायद करा रहा है, या नायक-नायिका के सौन्दर्य-वर्णन में उपमान बनाकर

उनकी झड़ी लगा रहा है। आधुनिक हिन्दी-कविता में यह प्रवृत्ति एक-आध अंश में अभी तक चली जा रही है। महादेवी जी के काव्य में इन चीजों का वर्णन अधिकतर विप्रलंभ शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में ही होता है। पन्त जी या दो-एक और कवियों में ही प्रकृति-निरीक्षण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी है। इस प्रकार प्रकृति के जो अङ्ग सामाजिक जीवन के उपयोगी भाग थे वे अब तक की हिन्दी-कविता में अलङ्कार बनकर या उसके भावों के उद्दीपनमात्र बनकर आये। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व, जिसके कारण वे हमारे सहचर या सहयोगी हैं, कविता में लेशमात्र ही स्वीकार किया गया।

पहले कहा जा चुका है कि पेड़, फूल, पशु, पक्षियों के बारे मे संस्कृत की कविता से ली गई परम्पराएँ ही हिन्दी की कविता मे ग्रहण की गई। यह परम्पराएँ क्या है और इनका आधार क्या है? कुछ का आधार पौराणिक है, कुछ का अंध-विश्वास और कुछ का साधर्म्य। पौराणिक कवि-प्रसिद्धियों के अनुसार, भिन्न-भिन्न पशु भिन्न-भिन्न देवताओं के वाहन के रूप मे स्वीकार किये गये है। जैसे अश्व राम और उनके भाइयों का, उच्चैःश्रवा नाम का घोड़ा सूर्य का, ऐरावत हाथी इन्द्र का, नान्दी शिव का, महिष यमराज का, श्वान भैरव का, मकर वरुण का, गरुड़ विष्णु का, मोर कार्त्तिकेय का और मूषक गणेश का वाहन है। रामायण, सूरसागर, महाभारत जैसे पौराणिक विषयों को लेकर चलने वाले काव्य-ग्रन्थों मे देवताओं के इन पशु-पक्षी वाहनों का उल्लेख प्रसंगानुसार होता आया है और उनके पौराणिक महत्त्व के अनुकूल ही उनके प्रति श्रद्धा भी दिखाई गई है। वृक्षों के बारे में कालिदास के 'मेघदूत' और राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' में अनेक कवि-प्रसिद्धियों का उल्लेख है जैसे कि सुन्दरियों के पदाघात से अशोक, आलिंगन से कुर्वक, मृदुहास से चम्पक, नृत्य से कर्णकार आदि कुसुमित हो जाते हैं। लेकिन हिन्दी की कविता ने इस परम्परा को ग्रहण नहीं किया, क्योंकि जिन परिस्थितियों में हिन्दी की कविता का जन्म हुआ उनमे मानवीय प्रेम-गाथाओं के लिए अवकाश न था। चातक, चकोर और चक्रवाक् पक्षियों के बारे में भी कवि-प्रसिद्धियाँ है। चातक केवल स्वाति बूँद ही पीता है। चाहे जितनी घनघोर वर्षा हो या नदी-तालाब भरे हों वह प्यासा ही बना रहता है और स्वाति बूँद के बिना पी-पी की रट लगाकर अपने प्राण गँवा देता है। चकोर को चाँदनी प्रिय है। वह उसी का पान करता है, और जब चन्द्रमा नहीं रहता तब वह व्याकुल तड़पता रहता है। चक्रवाक् पक्षी का जोड़ा दिनभर तो साथ रहता है लेकिन रात को अलग हो जाता है। वियोग-शृङ्गार के वर्णन में इन पक्षियों की उपमा देना हिन्दी कवियों की परम्परा रही है, और वे उद्दीपन के रूप मे भी लाये गये है। जायसी, तुलसी, सूर से लेकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त तक के काव्यों में इन पक्षियों का बहुलता से प्रयोग हुआ है।

फूलों के बारे में भी कुछ कवि-प्रसिद्धियाँ है। जैसे कुमुद दिन में विकसित नहीं होता, अर्थात् उसे चाँदनी ही प्रिय है; या कमल दिन में ही खिलता है, यानी उसे रात्रि प्रिय नहीं है और सूर्य के आगमन से उसका हृदय खिल उठता है। नायक-नायिका के हर्ष-विषाद के वर्णन में कुमुद और कमल के इन गुणों की उपमाएँ यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने को मिलती हैं।

अलंकारों के रूप में तो पुष्पों की ख़ास तौर पर ख़ूब खींचातानी हुई है। नारी शरीर के विभिन्न अंगों के उपमेय ढूंढ़ने मे कवियों और आचार्यों ने बड़े सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। यह उपमेय नारी-शरीर के अपेक्षित गुणों से साधर्म्य रखने वाले फल-फूल हैं। जायसी, सूर और तुलसी में तो इनका प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ ही है लेकिन रीतिकालीन कविता मे उनकी झड़ी लगाई गई है। जहाँ स्त्री के रंग की ज़रूरत पड़ी वहाँ चम्पा और केतकी; मुखमंडल के लिए कमल; नेत्रों के लिए नील कमल, खंजन और चकोर; अधरों के लिए बन्धूक पुष्प; दाँतों के लिए कुन्दकली; बाँहों के लिए मृणाल नाल; हाथों के लिए पद्म; वक्षों के लिए कमल, चक्रवाक्; उरु के लिए कदली-स्तम्भ; चरणों के लिए कमल आदि उपमाएँ पेश कर दीं। इनमे से बहुत से उपमान पुरुषों के सौन्दर्य-वर्णन में भी आते हैं। हिन्दी-कविता मे कमल के फूल का सबसे अधिक महत्त्व है। शरीर के हर अंग की उपमा उससे दी गई है; ऐसे स्थल भी मिलते हैं जहाँ एक ही पंक्ति मे उससे चार-चार उपमानों की क़वायद कराई गई है जैसे 'नवकंज-लोचन कंज-मुख कर-कंज पद-कंजारुणम्'।

हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों मे पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों और फूलों का एक और परम्परा के अन्तर्गत वर्णन हुआ है, और वह परम्परा है उनके शुभ-अशुभ लक्षणों की। किसी उत्सव का वातावरण दिखाने के लिए अशोक, आम, मौलश्री, बेल, कदली, चन्दन आदि वृक्षों; कमल, चम्पक, शेफाली, मालती आदि फूलों; गौ, गज, अश्व, मृग आदि पशुओं; हंस, मोर, भारद्वाज, नीलकंठ, कोकिल, खंजन, शुक, भुजंग, कबूतर, पिड़की आदि पक्षियों की उपस्थिति दिखाई जाती है। किसी दुर्घटना की पूर्व सूचना देने या उसके बाद का वातावरण दिखाने के लिए नीम, बबूल, बेर, इमली आदि अपशकुन-सूचक पेड़ों का नाम लिया जाता है; पशुओं में बिल्ली, कुत्ता, लोमड़ी, गीदड़, नेवला, भैंसा, बन्दर, साही, स्यार और पक्षियों में उल्लू, चील, गिद्ध, बाज आदि आते हैं।

अब तक हमने पेड़-पौधों, फूल, पशु-पक्षियों के वर्णन की परम्पराओं का ज़िक्र ही ज्यादा किया है। क्योंकि मेरा उद्देश्य यह बताना था कि हिन्दी की कविता में उनका वर्णन किस रूप में हुआ है और उनका क्या महत्त्व है। महत्त्व होने से ही कवि-प्रसिद्धियाँ और परम्पराएँ बनती है, इसलिए उन्हें समझ लेना ज़रूरी था।

आजकल की छायावादी या प्रगतिवादी कविता ने इन परम्पराओं को या तो

छोड़ ही दिया है या हेर-फेर करके अपनाया है। छायावादी कवियों ने बहुत हद तक उद्दीपन के रूप में ही प्रकृति के इन अंगों का वर्णन किया है, लेकिन उसमें नायक या नायिका का स्थान कवि ने स्वयं ले लिया है। दूसरे, चूँकि छायावादी कविता समाज के प्रति व्यक्ति के मुक्तिकामी असन्तोष की कविता है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की घोषणा करती है, इसलिए उसमें प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण भी हुआ है जिसमें प्रकृति को ही आलम्बन माना गया है।

आधुनिक कविता में पाश्चात्य समाज के सम्पर्क में आने से कई नये पुष्पों और वृक्षों का वर्णन होने लगा है, लेकिन अपरिचित होने के कारण कविता में उनका कोई महत्त्व नहीं हो पाया है। यह विचारणीय है कि हमारे अधिकांश कवि नगरों में रहते हैं, और उनका ग्राम-जीवन से ऐसा-वैसा ही सम्बन्ध है। इसलिए उनकी कविता में पशुओं का वर्णन नहीं के बराबर है और वृक्षों का उल्लेख भी कम होता जा रहा है। पुष्पों में भी उन्हीं का उल्लेख ज्यादा रहता है जो नगर में यत्न से लगाये बगीचों और पार्कों में मिलते हैं। पन्त जी ने 'ग्राम्या' में गाँवों में मिलने वाले बहुत से पेड़-पौधों और पक्षियों का वर्णन किया है। लेकिन ऐसे वर्णन बहुत कम हैं। तो भी छायावादी और प्रगतिशील कविता की सहज प्रवृत्ति प्रकृति का निरीक्षण करने की ओर है, यद्यपि इस निरीक्षण में शहरीपन ही ज्यादा है। इसलिए जब तक हमारे कवि विशाल प्रकृति को एक झरोखे से देखने की आदत छोड़कर उसे उसके बड़े आँगन में घुसकर नहीं देखेंगे तब तक वे उसके उन अंगों, उन पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों का ऐसा व्यापक वर्णन नहीं कर सकते जिसमें हमारे सामाजिक जीवन को समृद्ध बनाने वाले इन सहचरों का उनके नये उपयोगों की दृष्टि से सम्पूर्ण सौन्दर्य प्रकट हो सके और वे हमारे राग-तन्तुओं को छूकर हमें तल्लीन कर सकें।

—नवम्बर १९४१

४

हिन्दी का नया आख्यान साहित्य और मनोविश्लेषण

साहित्य और कला जीवन-वास्तव को मूर्त्त और वैविध्यपूर्ण ढंग से प्रतिबिम्बित करती है। जीवन वास्तव के अन्तर्गत व्यक्ति का सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य जीवन आ जाता है। कला का यह सामान्य धर्म रहा है। आदिकाल से श्रेष्ठ कलाकार वस्तून्मुखी रहे हैं, या कहें कि वस्तून्मुखी कलाकार की महानता प्राप्त कर सके हैं। उन्होंने समाज-वास्तव के साथ ही साथ अंगांगिरूप में मनुष्य के मनोवैज्ञानिक सत्य को भी प्रतिबिम्बित किया है। आख्यान साहित्य में विशेष रूप से श्रेष्ठ कलाकारों ने अपने युग और समाज की इतिहास निर्दिष्ट केन्द्रीय समस्याओं का कलात्मक उद्‌घाटन किया है और साथ ही उन समस्याओं से जूझने वाले पात्रों की विशिष्ट मानसिक प्रतिक्रियाओं का भी गहरा और मार्मिक चित्रण किया है। जीवन-वास्तव के ये दोनों पक्ष हैं। मानव-जीवन के इस संपूर्ण अन्तर और बाह्य सत्य को प्रतिबिम्बित करके ही कोई रचना कलाकृति बनती है और मानव-जीवन मे निहित संभावनाओं को उद्‌घाटित कर पाती है। सार्थक और सर्वजन-संवेद्य होती है। कला की इस यथार्थवादी परम्परा का सम्यक विकास करके ही डिकन्स हार्डी, बाल्जक, तॉलसताय, तुर्गनेव, रवीन्द्रनाथ, शरत्, गोर्की आदि कलाकारों की श्रेणी में आ सके हैं।

किन्तु फ्रायड ने कला की इस ऐतिहासिक यथार्थवादी परम्परा को उलटकर एक मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य सिद्धान्त की स्थापना की। उसके अनुसार कला एक विक्षिप्त और विक्षुब्ध मानस की उपज है। कलाकार एक अभिशप्त व्यक्ति है जो प्रवृत्ति से ही अन्तर्मुखी होता है। वह समाज में अपना सामंजस्य पाने में असमर्थ रहता है, इसलिए यथार्थ से पलायन करके वह अपने कल्पनालोक मे शरण लेता है। वह यश, प्रभुता, धन और स्त्रियों का प्रेम पाना चाहता है, किन्तु उसके पास साधन नहीं होते। साधारण विक्षिप्त तो इन काम्य वस्तुओं के दिवा-स्वप्न देखकर ही परितुष्ट हो रहता है, पर कलाकार का अन्तःकोष इतना विपन्न और रिक्त नहीं होता। वह अपने दिवा-स्वप्नों को मूर्त्त अभिव्यक्ति देना जानता है। वह उनका उदात्तीकरण कर लेता है जिसके पीछे व्यक्ति-स्वर छिप जाता है और ये दिवास्वप्न सब के लिए सुखदायी बन जाते हैं। फ्रायड के अनुसार कल्पना-जगत से पुनः यथार्थजगत की ओर लौटने का पथ ही कला है। कला जीवन-वास्तव को नहीं, बल्कि व्यक्ति के दिवा-स्वप्नों को ही प्रतिबिम्बित करती है। कलाकार में कुछ ऐसी रहस्यशक्ति होती है जो व्यक्ति मानस

की इन प्रतिक्रियाओं को आकर्षक रूप प्रदान कर देती है कि वे चाहे कितनी असामाजिक और अनैतिक क्यों न हों, उनमें सौन्दर्य का गुण पैदा हो जाता है और उसके रसास्वादन से व्यक्तियों के अहं के बीच की दीवारें ढह जाती हैं। सब के अहं एक सामूहिक अहं के रूप में संहत हो जाते हैं, मानसिक तनाव ढीले पड़ जाते हैं और पाठकों या दृष्टाओं को एक उच्चकोटि का सुख प्राप्त होता है। लेखक को अपनी जगह यश, प्रभुता, धन और स्त्री-प्रेम का लाभ हो जाता है। यह तो हुआ कला-सर्जन की प्रक्रिया का फ्रायडीय विश्लेषण।

किन्तु इस से अधिक महत्त्वपूर्ण फ्रायड का मनोविश्लेषण का सिद्धान्त है। वह व्यक्ति की चेतना के तीन स्तर स्वीकार करता है। पहला स्तर 'इड' (Id) का है जो हमारे व्यक्तित्व का निगूढ़ और अज्ञात जैवी क्षेत्र है। यह नकारात्मक, अराजक, उच्छृंखल आवेगों का खौलता कुण्ड है। नियम, तर्क और विचार से शून्य, काल-देश की मर्यादाओं से अनभिज्ञ, अपरिवर्तनीय, सत्यासत्य और पाप-पुण्य की नैतिक धारणाओं से उदासीन, यह स्तर केवल आदिम शक्ति का चिरंतन स्रोत है। केवल 'सुख-सिद्धान्त' ही इसका निर्देशक है। दूसरा स्तर 'अहं' का है जो सुख-सिद्धान्त को त्यागकर 'यथार्थ' सिद्धांत को अपनाता है। अर्थात् वह सामाजिक है। विचार, स्मृति और अनुभव की मध्यस्थता से वह संगठन, नियम, संयम आदि का परिपालन करता है और सत्य-असत्य का भेद करने में समर्थ है। तीसरा स्तर 'सुपर-ईगो' (Super-Ego) का है। सुपर-ईगो, आत्म-निरीक्षण, अन्तःकरण, नैतिक धारणाओं, सामाजिक आदर्शवाद एवं जीवन की उच्चतर अभिलाषाएँ लेकर पूर्णता की ओर उन्मुख व्यक्ति की चेष्टाओं का प्रतीक है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की चेतना सुपर-ईगो के आत्मत्यागी, समाजोन्मुखी धरातल तक ऊँची नहीं उठ पाती, क्योंकि चेतना का ऐसा उदात्त संस्कार तभी संभव है जब व्यक्ति पूर्ण रूप से अपने सामाजिक जीवन में सामंजस्य पा जाये। प्रायः होता यह है कि बाल्यकाल की क्षुधा-काम की अन्ध-वृत्तियाँ सामाजिक वर्जनाओं से कुण्ठित होकर व्यक्ति की चेतना के विकास को किसी मध्य-स्तर पर ही जड़ीभूत कर देती हैं, जिस से 'ओडीपस कॉम्प्लेक्स' अर्थात् पिता के प्रति शत्रुभाव; स्वरति अर्थात् अपने शरीर के प्रति मोह या हीन भावना जैसी अनेक मानसिक विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। फ्रायड का मनोविश्लेषण-शास्त्र व्यक्ति की मानसिक विकृतियों के अध्ययन और निराकरण की एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा-प्रणाली है। इसकी वैज्ञानिकता के बारे में विद्वानों में गम्भीर मतभेद है। जीवन की वास्तविकता केवल इतनी ही नहीं है। मानसिक दृष्टि से स्वस्थ और पूर्णतः विकसित व्यक्ति भी आज के वर्ग-समाज में पूर्ण सामंजस्य पाने और अपनी क्षमताओं का विकास करने में असमर्थ हैं। वस्तुतः इस असामंजस्य की जड़ें अधिक गहरी हैं, और

उनका मनोवैज्ञानिक निदान ही पर्याप्त नहीं है ।

इस व्यापक तथ्य की अवहेलना करके अनेक उपन्यासकारों ने फ्रायडीय मनोविश्लेषण को ही ध्रुव-सत्य मान लिया है । वे अपनी रचनाओं में वास्तविकता को प्रतिबिम्बित न करके व्यक्तिमानस की वासनाजनित कुण्ठाओं को ही रूपायित करते हैं। एक प्रकार से ये रचनाएँ फ्रायडीय मनोविज्ञान के कथा-रूप में दृष्टान्त उपस्थित करती हैं। उनमें ऐसे अभिशप्त पात्रों का चित्रण किया जाता है जो आत्मनिष्ठ, असामाजिक और अनैतिक हैं। इस प्रवृत्ति को तार्किक औचित्य प्रदान करने के लिए कहा जाता है कि कला के क्रमिक विकास की दृष्टि से नये उपन्यासों में वृत्त और चरित्र-चित्रण के स्थान पर लेखक का दृष्टिकोण ही अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है, क्योंकि जीवन की जटिलता बढ़ गई है और विज्ञान की ईजादों और युद्धों की विभीषिकाओं ने जीवन के प्रति मनुष्य में अनास्था और अनिश्चितता की भावना भर दी है। नये आख्यानों में मानव-उद्योग और नियति का संघर्ष महत्त्वपूर्ण नहीं रहा, क्योंकि व्यक्ति का मानस ही एक परिस्थिति बन गया है जहाँ वासनाओं और विचारों का संघर्ष अविराम जारी है। व्यक्तिमानस का यह अन्तर्द्वन्द्व ही नये उपन्यासों की विषय-वस्तु है। इसे चित्रित करने में ही कला की सार्थकता है। इसलिए नये उपन्यासों में प्रतिनिधि मानव-चरित्रों (टाइप्स) के स्थान पर विशिष्ट मानसिक प्रतिक्रियाओं का ही चित्रण होता है । पुराने ढंग के उपन्यासों में यदि समाज-विश्लेषण होता है तो आधुनिक उपन्यासों में व्यक्ति का मनोविश्लेषण होता है। यह नये-पुराने का भेद वस्तुतः कृत्रिम है और यह सारा तर्क फ्रायड के कल्पना-जन्य दिवास्वप्नों को प्रतिबिम्बित करने वाले कला-सिद्धान्त का ही रूपान्तर मात्र है। इसलिए स्पष्ट है कि यदि जीवन-वास्तव को रूपायित करने का प्रश्न ही न रहे तो लेखक अनिवार्यतः रूप और टेकनीक के माध्यम से स्वयं अपने ही जीवन-वृत्त को लेकर मनोविश्लेषण में प्रवृत्त होंगे और अपने अनुरूप पात्रों के प्रति मोहासक्त होकर उनके अहंकारी, दायित्व-हीन, अनैतिक और स्वेच्छाचारी आचरण को उनकी अभिशप्त आत्मा का परिणाम सिद्ध करके उन्हें अतिरिक्त महिमा से मण्डित करेंगे। हिन्दी के नये आख्यान साहित्य में जहाँ मनोविश्लेषण है, वहाँ यह प्रवृत्ति भी है और आत्म-चरितात्मक उपन्यासों की संख्या बढ़ती जा रही है।

इस दृष्टि से लिखे गये उपन्यासों के बारे में एक बात और विचारणीय है। वह यह कि उनकी मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति हमारे अपने राष्ट्रीय जीवन के ह्रास-विकास की वास्तविक परिस्थितियों से उतनी प्रभावित नहीं है, जितनी कि वह एक विशेष पाश्चात्य धारा का अनुकरण है । विज्ञान की ईजादों और युद्ध की विभीषिकाओं ने हमारे सामाजिक जीवन को झकझोरा और बदला अवश्य है, लेकिन राष्ट्रीय

चेतना और राष्ट्रीय आन्दोलन की व्यापकता के कारण लोग संबलहीन होने की भावना से कभी आक्रान्त नहीं हो पाये। प्रत्युत यहाँ के बुद्धिजीवी अधिकांशतः जर्जर सामन्ती समाज-सम्बन्धों और अंग्रेज़ी साम्राज्य की ग़ुलामी से मुक्ति पाने के लिए आमूल परिवर्तन के आकांक्षी रहे हैं, और अपने देश के सर्वतोमुखी पुनर्निर्माण में भाग लेने के लिए युद्ध के विरोधी और समता, शान्ति और जनवाद के समर्थक रहे हैं। हमारे राष्ट्रीय जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों में व्यष्टि और समष्टि का अन्त-र्विरोध हमारे उदारचेता मनीषियों को कृत्रिम और कल्पित ही लगा है। दोनों के सामंजस्य और समन्वय मे ही रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द ने युग-सत्य के दर्शन किये। मनुष्य में उनकी अटूट आस्था और न्याय, समता, शान्ति पर आधारित जीवनादर्शों और उज्ज्वल भविष्य मे उनके अदम्य विश्वास का यही कारण है। लेकिन पाश्चात्य सभ्यता, जिसका तात्पर्य वस्तुतः यूरोप के साम्राज्यवादी-पूंजीवादी देशों की सभ्यता है, इस युग में ह्रासोन्मुखी और विघटनशील है। वहाँ के मध्यवर्गीय विचारकों और लेखकों के हृदय मे पहले महायुद्ध के बाद से ही एक मरणान्तक भय व्याप्त रहा है—क्या अन्त आ गया? पाश्चात्य सभ्यता (साम्राज्यवादी उपजीवी सभ्यता) का विघटन हो रहा है, एशियाई आदिम और बर्बर सभ्यताएँ (अपने राष्ट्रीय आन्दोलनों की सफलताओं के कारण, जिनमें रूस की समाजवादी क्रान्ति, भारत का असहयोग आन्दोलन और चीन का राष्ट्रीय युद्ध भी सम्मिलित है) सिर उठा रही है और उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के विरुद्ध अभियान कर दिया है—तो क्या इस उथल-पुथल, क्रान्ति और अराजकता में अब पाश्चात्य सभ्यता का कुछ भी शेष नहीं रहेगा? हेनरी जेम्स इस अराजकता को सार्वभौम मानकर विश्वासघात की भावना—यहूदा कॉम्प्लैक्स—से पीड़ित था। हर्मन हेस, पॉल वलेरी, ऑसवल्ड स्पेंगलर और टी. एस. ईलियट पाश्चात्य जीवन में छायी अनिश्चितता और आध्यात्मिक शून्यता की भावना से आक्रान्त हो गये। उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा जनतन्त्र को कोसना और एक शासन-कर्त्ता वंशानुगत अभिजातवर्ग की आवश्यकता का प्रचार करना शुरू किया—एक प्रकार से फाशिज्म का समर्थन किया। हमारी दृष्टि से उनकी यह कुंठा, अनास्था, निराशा, मृत्यु-कामना, पर-पीड़न और अहंवाद की मानवद्रोही भावनाएँ और प्रवृ-त्तियाँ, जो काफ़्का, कीर्कगार्ड, अल्डूस हक्सले और इन लेखकों की कृतियों में मिलती हैं, जिनको व्यक्त करने के लिए आधुनिक पाश्चात्य साहित्य ने मनोविश्लेषण की पद्धति को स्वीकार करके व्यक्ति-मानस के असंबद्ध, उलझे, जटिल और दुरूह चेतना-प्रवाह को शब्दों में चित्रित करना चाहा है—यह सब जहाँ इन पाश्चात्य विचारकों के मानवद्रोह की सूचना देती है, वहाँ हमारे राष्ट्रीय उत्थान और हमारी प्रगतिशील आकांक्षाओं की विरोधी भी हैं। इसलिए जब हम किसी भारतीय लेखक

को आधुनिक पश्चात्य साहित्य की इन मानवद्रोही प्रवृत्तियों से प्रेरणा लेकर मनो-विश्लेषण के नाम पर, विज्ञान की ईजादों और युद्ध की विभीषिकाओं की दुहाई देकर, मनुष्य की अधमताओं, कुत्साओं और कुंठाओं का चित्रण करते देखते हैं—मानो यही हमारे राष्ट्रीय जीवन का एकान्त सत्य हो—तो हमें शंका होती है कि इस लेखक के हृदय में देशभक्ति और मानव-प्रेम का अंकुर यदि सर्वथा मुरझा नहीं गया है, तो कम-से-कम उसके आत्म-केन्द्रित व्यक्तिवाद ने उसे गुमराह जरूर कर दिया है। उन देशी और विदेशी महान् लेखकों की परम्परा से विच्छेद करके, जो जीवन-वास्तव को चित्रित करते समय मानव-मंगल की कामना से सामाजिक अन्याय, अनीति और अत्याचार को नंगा करते थे, वह मनोविश्लेषण का आश्रय लेकर, अल्बर्ट डुरर के नग्न चित्र की तरह (जिसके नीचे उसने लिखा था—"वहाँ जहाँ मेरी उँगली इशारा कर रही है, उस पीले धब्बे की जगह, पीड़ा होती है") नाम-धाम बदलकर, अपना आत्मचरित्र लिखने लगा है, अपने को नंगा करके दिखाने लगा है, कि देखो सामाजिक प्राणी बनने से यहाँ पीड़ा होती है !

'शेखर : एक जीवनी' इस परम्परा का पहला उपन्यास है। अज्ञेय ने शेखर को जन्मजात विद्रोही के रूप में चित्रित किया है। वह आरम्भ से ही संस्थाओं के प्रति, स्वयं अपने व्यक्तित्व के प्रति विद्रोही है। वह 'एेतादृश्य' मात्र का विरोधी है। उसकी विद्रोह-भावना को उदात्त जीवन-दर्शन का आधार देने की चेष्टा की गई है। इस विद्रोह को निर्माण का पर्याय बताया गया है। किन्तु यदि मनोविश्लेषण शास्त्र की दृष्टि से देखें तो शेखर एक ऐसा अभिशप्त व्यक्ति है जिसकी चेतना 'इड' (Id) और 'अहं' के स्तरों के बीच में ही कहीं जड़ीभूत हो गई है। 'सुपर ईगो' (Super-Ego) का मानवीय विवेक तो उसे छू भी नहीं गया। इसीलिए अपने आचरण में वह इतना अनुदात्त, कृतघ्न, स्वार्थी, नृशंस और परपीड़क है। उसके जीवन में अनेक लड़कियाँ आती हैं, लेकिन समाज की नैतिक मर्यादाओं के कारण उसे अपनी काम वृत्तियों का दमन करना पड़ता है। उसका आहत अहंकार इससे और भी उद्धत और असहिष्णु बनता जाता है। और जब उसकी मौसेरी बहन शशि, उसके प्रति अपनी आसक्ति के कारण, पति द्वारा परित्यक्त होकर उसकी शरण में आती है तो शेखर उसे अपनी सहानुभूति नहीं देता। वह शशि को अपनी अहंतृप्ति का साधन बनाता है। शशि अपना सब कुछ समर्पण करके भी शेखर से उपेक्षा और पीड़ा ही पाती है, फिर भी लेखक अपनी तटस्थता छोड़कर शेखर के नृशंस व्यवहार को ही औचित्य और सहानु-भूति देता गया है। वस्तुतः यही शेखर 'अज्ञेय' के दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' में भुवन के नाम से सामने आता है। भुवन क्रान्तिकारी और विद्रोही नहीं है। वह एक वैज्ञा-निक है, किन्तु वह भी शेखर की ही तरह असामान्य प्रतिभा का अनुत्तरदायी और

आत्मनिष्ठ नायक है । उसके सम्पर्क में आने वाले सभी उसे देवता मानकर अपनी श्रद्धा का नैवेद्य चढ़ाते हैं। वह जैसे पाने का ही अधिकारी है, बदले में देने का उत्तरदायित्व न उसे मान्य है और न कोई उससे इसकी आशा रखता है। रेखा और गौरा उसके प्रति समर्पित होती है और भुवन अपनी वासना-तृप्ति के लिए पहले रेखा, फिर उसे त्यागकर गौरा के प्रति समर्पित होता है । अपनी प्रेमिकाओं के प्रेम की स्वीकृति या तिरस्कृति के बीच भुवन ज्यों का त्यों बना रहता है, अन्तरात्मा का उसमें विकास नहीं हुआ कि वह उसे कभी धिक्कारे। इस प्रकार हम देखते है कि इन उपन्यासों में पात्र एक विशेष साँचे मे ढले-ढलाये ही सामने आते है। आदि से अन्त तक वे इस साँचे का अतिक्रमण नहीं कर पाते । घटनाएँ और परिस्थितियाँ उनसे चारित्रिक विकास में सहायक नहीं होतीं। वस्तुतः उनकी संयोजना इस साँचे के भीतर पात्रों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का प्रकृत चित्रण करने की सुविधा प्रदान करने के लिए ही की गई है। किन्तु जहाँ साँचों का प्रयोग हो वहाँ रचना में क्या सामाजिक सत्य और क्या मनोवैज्ञानिक सत्य, दोनों मे से कोई भी प्रवेश नहीं पा सकता ।

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों मे भी कुण्ठाग्रस्त पात्रों के रुग्ण मानस को औचित्य प्रदान करके उनके जघन्य और असामाजिक कृत्यों को महिमा-मण्डित करने का प्रयत्न है। 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' आदि उपन्यासों में पाठकों को ऐसे ही पात्रों का चित्रण मिलता है । जोशी जी के पात्र हीन-भावना, मातृरति, स्वरति आदि मानसिक विकृतियों के शिकार होते है । इस अवस्था में वे नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करके पूर्ण स्वच्छन्दता से, अपने पाशविक और हिंस्र रूप में समस्त मानवीय सम्बन्धों को ठुकराते हुए, केवल अपनी स्वार्थसिद्धि और भद्र और अभद्र नारियों के साथ काम-तृप्ति करते फिरते है । उदाहरण के लिए 'प्रेत और छाया' का नायक पारसनाथ पिता के यह कहने पर कि वह उनका अवैध पुत्र है, विक्षिप्त हो उठता है। अपनी माँ के दुराचरण की बात जानकर वह समस्त स्त्री जाति के सतीत्व पर ही सन्देह नहीं करने लगता, बल्कि अपने सम्पर्क मे आनेवाली प्रत्येक स्त्री का सतीत्व भी हरण करता है । इसमें उसे एक पाशविक आनन्द आता है । किन्तु अन्त में उसे ज्यों ही पता चलता है कि पिता ने झूठ बोला था, और उसकी माँ तो साध्वी थी, त्योंही वह आत्मग्लानि से भरकर एक वेश्या से विवाह कर लेता है, और सद्गृहस्थ बन जाता है । ऐसे मनोवैज्ञानिक तिलिस्म उनके अन्य उपन्यासों में भी मिलते है।

हिन्दी के अन्य उपन्यासकारों में अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी की तरह इतने सीधे ढंग से मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। किन्तु वैसे फ्रायडवादी न होते हुए भी फ्रायड के सिद्धान्तों से न्यूनाधिक प्रभाव तो अनेक लेखकों ने ग्रहण किया है।

कुछ लेखकों के मन में फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र ने यह धारणा बैठा दी है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी, क्षुद्र और अवसरवादी है। यह ऊँचे-ऊँचे आदर्शों और नैतिक मूल्यों का आडम्बर केवल इस क्षुद्रता और स्वार्थपरता को छिपाने के लिए है। वस्तुतः सभी वर्गों के प्राणी इन आदर्शों की आड़ में अपने वर्गगत नहीं बल्कि व्यक्तिगत स्वार्थों की ही सिद्धि चाहते है। उनकी कृतियों मे वर्तमान समाज की खोखली नैतिकता का पर्दाफाश तो होता है, किन्तु साथ ही मनुष्य का सत्य, उसकी उच्चतर मानवीय विकास-सम्भावनाओं का सत्य भी छिप जाता है, और पढ़कर मन में एक अनास्था, विरक्ति और कुण्ठा की भावना पैदा होती है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'तीन वर्ष', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'आखिरी दाँव' में, उपेन्द्रनाथ अश्क के नवीनतम उपन्यास 'गर्म राख' मे और एक सीमा तक डा० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' मे मनुष्य प्रायः इसी रूप मे चित्रित हुआ है।

अन्त में नये आख्यानों में मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति की मूल्य कूतने की यदि हम चेष्टा करें तो इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि इससे चरित्र-चित्रण में यान्त्रिकता और एकांगिता आ गई है। वस्तुतः यथातथ्यवाद का ही यह मनोवैज्ञानिक रूप है। यशपाल और जैनेन्द्र जैसे समर्थ कलाकार आज भी अपने-अपने ढंग से जीवन-वास्तव को समग्र रूप में प्रतिबिम्बित करने में सचेष्ट है। उनकी कृतियों में समाज-सत्य और व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक-सत्य को अंगांगिरूप में ग्रहण किया जाता है। किन्तु मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति समाज-सत्य का तिरस्कार करके केवल साँचों में ढले-ढलाये व्यक्ति-पात्रों का ही चित्रण करती है, जिससे मनोवैज्ञानिक सत्य भी एकांगी और विकृत हो जाता है, और ये रचनायें सर्वजन-संवेद्य कलाकृति की ऊँचाई नहीं छू पातीं। मानव-जीवन की पुनीतता और संभावनाओं की उपेक्षा करके कला अपने कर्म से च्युत ही हो सकती है।

— जुलाई १९५३

५

एकांकी नाटक

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक एकांकी नाटक अपनी विषय-वस्तु, रूप-विधान और शैली के कारण कला का एक स्वतन्त्र रूप बन गया है। लक्षण-ग्रन्थों में दिये गये विविध नाटक-भेदों में से किसी के अन्तर्गत आधुनिक एकांकी को रखना सम्भव नहीं है, इसलिए कुछ लोगों की यह धारणा है कि आज के यन्त्रयुग की तीव्र गतिशीलता और अवकाशहीन व्यस्तता के परिणामस्वरूप ही एकांकियों का जन्म हुआ है। मुक्तक, गीति, कहानी, एकांकी, रेखाचित्र, गद्यकाव्य—साहित्य के इन लघु रूपों का इतना सीधा सम्बन्ध आज के द्रुतगामी जीवन से जोड़ना या इन्हें आधुनिक समाज का प्रतिनिधि रूप-विधान सिद्ध करना आंशिक रूप से ही सत्य कहा जा सकता है। क्योंकि, यदि देखा जाय तो वास्तव में उपन्यास ही इस युग का प्रतिनिधि महाकाव्य है, जिसमे आज का जटिल द्वन्द्वपूर्ण सामाजिक जीवन समग्र रूप से प्रतिबिम्बित होता है। देश और काल की परिस्थितियों से, विषय-वस्तु की ही तरह, कला के रूप-विधान भी प्रभावित होते है, परन्तु ये प्रभाव एकपक्षीय नहीं होते, न केवल मात्र परिस्थिति-जन्य ही होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज और साहित्य के इतिहास की परम्पराओं से भी हर नया विकास प्रभावित रहता है। आज के एकांकी नाटक का रूप तो आधुनिक है, लेकिन यह कहना ग़लत होगा कि वह सर्वथा नया है और प्राचीन नाट्य-परम्परा से उसके सूत्र नहीं जोड़े जा सकते।

प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों में रूपक और उपरूपकों के जो भेद गिनाये गये हैं उनमें से भाण, व्यायोग, अंक, वीथी और प्रहसन—ये पाँच एकांकी रूपक-प्रकार है। इन एकांकी रूपकों की तुलना अंग्रेजी के कर्टेन रेजर (Curtain Raiser) या आफ़्टर पीसेज़ (After Pieces) से नहीं की जा सकती, क्योंकि कर्टेन रेजर या आफ़्टर पीसेज़ १८वीं-१९वीं शताब्दी के इंगलिस्तान में मुख्य नाटक के प्रारम्भ होने से पहले या बाद में दर्शकों का समय काटने के लिए दिखाए जाते थे। उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न होता था और वे अधिकतर भाण और प्रहसन से मिलते-जुलते थे। इसलिए प्राचीन एकांकियों की यदि किसी से तुलना की जा सकती है तो प्राचीन ग्रीस और प्राचीन इटली के लघु-प्रहसनों से, जो स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए थे। हिन्दी के आधुनिक एकांकी नाटकों का सम्बन्ध हम संस्कृत के प्राचीन रूपकों से जोड़ सकते हैं। यद्यपि आधुनिक एकांकी विषय-वस्तु और कला की दृष्टि से

प्राचीन एकांकी रूपकों से बहुत आगे विकास कर आया है, फिर भी इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि हिन्दी में नाटकों की परम्परा का सूत्रपात करने वाले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जो एकांकी लिखे उनमें से 'विषस्य विषमौषधम्' भाण रूपक है और 'धनंजय विजय' व्यायोग की कोटि में आता है और 'अन्धेर नगरी' तथा 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन है और 'भारत दुर्दशा' एक रूपक है। इनके पश्चात् श्रीनिवासदास, प्रेमधन, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र आदि अनेक लेखकों ने एकांकी लिखे, जिन्हें रूपकों में ही परिगणित किया जाता है। आधुनिक एकांकी से इन रूपकों का शैली-भेद अवश्य है, परन्तु उन्हें हम रूपक कहकर, आधुनिक एकांकियों को उनकी परम्परा और उनके वर्ग से अलग नहीं कर सकते। क्योंकि भारतेन्दुकालीन एकांकियों की विषय-वस्तु अपने सामयिक सामाजिक और राजनीतिक जीवन से ली गई थी, यह तथ्य उन्हें आधुनिक जीवन की परम्परा का प्रतिनिधि बना देता है। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दुयुगीन एकांकी आधुनिक एकांकियों के प्रारम्भिक रूप हैं। उनमें कला का वह विकसित रूप नहीं मिलता जो हमारे नये एकांकी-लेखकों की कला में विकसित हो रहा है।

हिन्दी के आधुनिक एकांकियों मे हमे कला-सम्बन्धी जिस मौलिक नवीनता के दर्शन होते है वह एक बड़ी सीमा तक पाश्चात्य नाटककारों की कला से प्रभावित है। और यह स्वाभाविक भी था कि इब्सन और बर्नार्ड शॉ जैसे इस युग के विश्ववंद्य कलाकारों का क्रान्तिकारी प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ता। उनके नाटकों ने हिन्दी के अधिकांश नाटककारों और एकांकी-लेखकों को अपनी प्रतिभा का विकास करने मे योग दिया है। हमारे नाटककारों की विषय-वस्तु चाहे ऐतिहासिक या पौराणिक हो अथवा वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत या सामाजिक संघर्षों से सम्बन्ध रखती हो, उसे नाटकीय रूप देने मे वह जिस कलात्मक क्षमता का परिचय देते हैं, उसका संस्कार एक बड़ी सीमा तक पाश्चात्य नाटकों के प्रभाव से हुआ है।

एकांकी नाटक साहित्य का एक रूप-विधान है। यह कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि एकांकी नाटक का ढांचा और उसकी प्रकृति अर्थात् उसके मूल-तत्त्व साधारण नाटक से भिन्न है। उपन्यास और कहानी में जो अन्तर है, बहुत-कुछ वैसा ही अन्तर एक नाटक और एकांकी में होता है। जिस तरह एक कहानी को और लम्बा करके उपन्यास नहीं बनाया जा सकता, उसी तरह एकांकी को भी बढ़ाकर तीन अंकों का पूरा नाटक नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि यह भिन्नता केवल उनके दीर्घ और लघु आकारों पर ही आधारित नहीं है।

एकांकी नाटक केवल एक ही प्रधान नाटकीय घटना को उपस्थित करता है

और उसका उद्देश्य एक ही अमिश्रित प्रभाव उत्पन्न करना होता है। दुःखान्त और सुखान्त नाटकों की शैलियों से लेकर भाण और प्रहसन तक की शैलियाँ इस प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए प्रयोग में लाई जाती हैं। परन्तु एकांकी नाटक की सफलता के लिए वस्तु का संगठन इतने कलात्मक लाघव से करने की आवश्यकता होती है कि उसमें कथा और चरित्र के विकास के लिए गौण परिस्थितियों की योजना, वर्णन-बहुलता, विषयान्तरता आदि का कोई स्थान नहीं होता। आवश्यकता इस बात की होती है कि पर्दा उठते ही दर्शक का ध्यान खींच लिया जाय और अन्त तक उसे केन्द्रित रखा जाय। इसी कारण एकांकी नाटक में कथा-वस्तु की योजना का संयोजन और संवादों की सीधी चुभन और मितव्ययता की ओर विशेष ध्यान देना होता है।

डा० रामकुमार वर्मा ने 'पृथ्वीराज की आँखें' नामक एकांकी संग्रह में एकांकी की व्याख्या इस प्रकार की है—

"एकांकी नाटकों में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता होती है। उसमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का संचय करते हुए चरमसीमा (क्लाईमेक्स) तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता की भाँति फैलने की विशृंखलता नहीं।"

नाटक की कथावस्तु, अन्तर्द्वन्द्व और घटनाओं के घात-प्रतिघात से जिस प्रकार विषम परिस्थितियों की अवतारणा करती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है, उससे एकांकी नाटक की कथा-वस्तु से विकास की भिन्नता पर प्रकाश डालते हुए डा० सत्येन्द्र ने लिखा है—

" ·· किन्तु एकांकी नाटक मे साधारण नाटक से भिन्नता होती है। उसके कथानक का रूप तब हमारे सामने आता है जब आधी से अधिक घटना बीत चुकी होती है। इसलिए उसके प्रारम्भिक वाक्य मे ही कौतूहल और जिज्ञासा की अपरिमित शक्ति भरी रहती है। बीती हुई घटनाओं की व्यंजना चुम्बक की भाँति हृदय आकर्षित करता है। कथानक क्षिप्र गति से आगे बढ़ता है, और एक-एक भावना घटना को घनीभूत करते हुए गूढ़ कौतूहल के साथ चरम सीमा में चमक उठती है। समस्त जीवन एक घंटे के संघर्ष में और वर्षों की घटनाएँ एक आँसू या एक मुस्कान में उभर आती हैं; वे चाहे सुखान्त हों या दुःखान्त।" (हिन्दी एकांकी; पृ० १२४)

अधिकतर विद्वानों का मत है कि प्राचीन यूनानी नाटकों में स्थल, काल और कार्य की एकता पर जो जोर दिया जाता था उस नियम का निर्वाह साधारण नाटक में चाहे न हो, लेकिन एकांकी में अवश्य होना चाहिए। इस नियम को संकलनत्रय (Three Unities) कहते हैं। स्थल की एकता (Unity of Place) अर्थात्

घटनाएँ एक ही स्थान से सम्बन्ध रखती हों, काल की एकता (Unity of Time) अर्थात् नाटक की घटनाएँ एक ही समय की हों और कार्य की एकता (Unity of Action) अर्थात् कृत्य में एकसूत्रता और एकाग्रता हो। इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है और यह केवल बहस का विषय नहीं है। एक सफल एकांकी की रचना में अनेक तत्त्वों का समावेश होता है, जिनका कलात्मक परिपाक लेखक की कल्पना में होना आवश्यक है। प्रतिभाशाली लेखक विषय-वस्तु की आन्तरिक आवश्यकता के अनुकूल किसी तत्त्व को अधिक उभार सकता है और किसी की अवहेलना भी कर सकता है, जैसा कि हिन्दी के अनेक सफल एकांकियों से प्रमाणित है।

एकांकी नाटक की कला पर विचार करते समय हमें उसके दो आवश्यक तत्त्वों पर ध्यान रखना चाहिए। पहला है नाटकीय संघर्ष, और दूसरा है चरित्र-चित्रण।

संघर्ष ही नाटक की आत्मा है। यह संघर्ष अन्तर और वाह्य—दोनों प्रकार का हो सकता है और जिस प्रकार समाज में उसी प्रकार नाटक में शतशत रूपों में व्यक्त हो सकता है। वाह्य संघर्ष दो या अनेक व्यक्तियों के बीच या व्यक्ति और समाज के बीच, या व्यक्ति और 'दैव' या 'नियति' के बीच हो सकता है। आन्तरिक संघर्ष पात्र की चेतना में अपने ही स्वभाव के विरुद्ध होता है, अथवा जब वाह्य परिस्थितियाँ हृदय के भावों में एक टक्कर पैदा कर देती है, जब कर्तव्य और प्रेम में से एक को चुनना अनिवार्य हो जाता है या जब नाटक के पात्र की नैतिक भावना उसकी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के मार्ग में अवरोध बनती है तब ये नाटकीय परिस्थितियाँ पात्रों के मन में आन्तरिक संघर्ष को जन्म देती हैं।

नाटकीय संघर्ष वास्तव में हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की असंगतियों और अन्तर्विरोधों को ही कलात्मक ढंग से प्रतिबिम्बित करता है। समाज और व्यश्ति या व्यक्ति और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के वैषम्य से जो असंगति और अन्तर्विरोध पैदा होता है नाटक में उसे अधिक मार्मिक तथा प्रभावकारी ढंग से उपस्थित किया जाता है। यह संघर्ष सामाजिक या व्यश्तिगत जीवन की जितनी ही व्यापक या मूलभूत समस्याओं से उत्पन्न होगा नाटक की विषय वस्तु उतनी ही अधिक सार्वजनीन, सार्थक और महत्त्वपूर्ण होगी।

कहा जाता है कि 'कोई भी नाटक चरित्र-चित्रण के धरातल से ऊँचा नहीं उठ सकता।' उदाहरण के लिए 'प्रहसन' या 'भाण' देखकर हम एक क्षण के लिए आनन्दित हो सकते है, लेकिन उसका प्रभाव स्थायी नहीं रहता—जैसे कोई चमत्कार-पूर्ण उक्ति सुनकर निमिष-मात्र के लिए मुग्ध हो जायँ। कारण स्पष्ट है कि उनके पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक और गहरा नहीं होता, बल्कि उनमें सत्य को विकृत करके उपस्थित किया जाता है। किसी भी वर्ग की नाटकीय रचना में चरित्र-

चित्रण का आत्यन्तिक महत्त्व है। नाटक के विभिन्न पात्रों का चरित्र एक-दूसरे से भिन्न होना जरूरी है; यह भिन्नता उन पात्रों के एक-दूसरे के प्रति के आचरण-व्यवहार और रंगमंच पर जो घटित हो रहा हो उसके प्रति उनकी भाव-प्रतिक्रियाओं, मुद्राओं, सम्भाषण के ढंग और कार्यों से प्रकट की जाती है। यह आवश्यक है कि पात्रों की मानसिक प्रतिक्रियाएँ और उनके कार्यों में अनुकूल परस्परिता और गहराई हो अर्थात् वह जीवन-वास्तव का प्रतिनिधित्व करते हों। जिस तरह वास्तविक मनुष्य के चरित्र में एकसूत्रता होती है और अकारण ही वह अकस्मात् अपने स्वभाव के विपरीत कार्य नहीं करता, उसी प्रकार नाटकीय पात्रों के चरित्र का विकास या परिवर्तन भी सकारण और परिस्थितिवश ही हो सकता है। उन कारणों और विशेष परिस्थितियों का चित्रण नाटक में आवश्यक है, अन्यथा दर्शक को पात्र कृत्रिम और असामाजिक प्राणी लगेंगे। नाटकीय पात्र वास्तविक मानव-प्राणी होने चाहिएँ और उनके कृत्य भी मानवीय हों, ताकि दर्शक उनके हर्ष-विमर्ष, सुख-दुःख मे अपनी पूरी सहानुभूति से दिलचस्पी ले सकें।

कथोपकथन (संवाद) चरित्र के निर्माण और विकास में योग देता है। कथोपकथन संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी, वाक्वैदग्ध्ययुक्त, चरित्र की चारित्रिकता को प्रकट करने वाला तथा एकांकी के सूत्र को आगे बढ़ाने वाला होना चाहिए। एकांकी का कथोपकथन स्वाभाविक होना चाहिए। स्वाभाविक का अर्थ यह नहीं है कि वाद-विवाद की तरह कार्य-कारण पद्धति का अनुसरण करे, अर्थात् क से ख और ख से ग और ग से घ की मंजिलों को एक सीधी रेखा में पार करता हुआ आगे बढ़े। स्वाभाविकता का अर्थ है कि उससे वास्तविक जीवन का भ्रम होने लगे, वास्तविक जीवन के वातावरण की सृष्टि हो जाय और कथोपकथन पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाशित कर दे। स्वाभाविकता की व्याख्या करते हुए एक अंग्रेज विचारक ने कहा है कि एकांकी का कथोपकथन क से ग से च से ज से ख से ग से ह से च से ट से य से प आदि—इस प्रकार पीछे मुड़कर पलटता हुआ, छलाँग मारकर आगे बढ़ता हुआ, मुख्य विचारों को दुहराता हुआ और उन पर ठहरकर उनकी व्याख्या करता हुआ, और कभी-कभी ऐसे विचारों को भी संवाद मे घसीट लेता हुआ हो, जो यद्यपि कथावस्तु के लिए प्रत्यक्षतः संगत नहीं हैं, लेकिन जो वातावरण, चरित्र और यथार्थ जीवन की सृष्टि करने मे योग देते हैं। स्वाभाविकता का अर्थ वास्तविक जीवन के वार्तालाप को ज्यों-का-त्यों रंगमंच पर उपस्थित करना नहीं है। कला वास्तविक जीवन का फोटो-चित्र नहीं होती। कला वास्तविक जीवन से प्राप्त सामग्री में से चुनाव करती है। जो आवश्यक है उसे ग्रहण करती है, जो अनावश्यक है, उसे अस्वीकार कर देती है, और फिर उसे नये ढंग से संगठित करके वास्तविक जीवन के

सार्थक और सम्भाव्य चित्र का निर्माण करती है, जो वास्तविक जीवन से अधिक वास्तविक, सुन्दर और प्रयोजनशील हो जाता है, और मनुष्य की चेतना और वृत्तियों को अधिक मानवीय और सामाजिक बनाता है।

नाटक मे चरमसीमा का महत्त्व आत्यन्तिक होता है। चरम सीमा नाटकीय घटना के विकास की उस स्थिति को कहते है जब जटिल घटनाओं का घात-प्रतिघात दर्शक मे भावों का तीव्र उद्रेक कर दे और जब दर्शक का कौतूहल और औत्सुक्य अपने अन्तिम बिन्दु तक पहुँच गया हो। चरम सीमा पर पहुँचते ही वाह्य या आन्तरिक संघर्ष का उद्घाटन और समाधान एक आकस्मिक आघात की तरह होता है और सारे संघर्ष को जैसे आलोकित कर देता है। चरम सीमा पर पहुँचकर नाटक समाप्त हो जाता है, क्योंकि उसका उद्देश्य पूरा हो चुकता है।

हिन्दी में एकांकियों की जिस परम्परा का प्रारम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया था वह अपने विकास की कई मंजिलों को पार कर आई है, और हिन्दी के आधुनिक नाटकों मे अब हमें निश्चय ही कला का विकसित रूप दिखाई देता है। भारतेन्दुकालीन नाटकों का संक्षेप मे हम उल्लेख कर चुके है। इन नाटकों की कला पर संस्कृत के नाटकों का विशेष प्रभाव था यद्यपि बंगाली नाटकों के माध्यम से पाश्चात्य शैली का प्रभाव भी इस पर पड़ने लगा था।

उस काल के नाटकों के विषय सामाजिक जीवन से लिये गये थे। इस प्रकार वे हमारे राष्ट्रीय जागरण की प्रारम्भिक चेतना को प्रतिबिम्बित करते है, और हिन्दी के आधुनिक एकांकी के प्राथमिक रूप कहे जा सकते है।

हिन्दी एकांकियों का यह प्रथम काल सन् १८७३ से लेकर, जब भारतेन्दु न 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' लिखा, सन् १९२९ तक मानना चाहिए जब प्रसाद जी ने अपने 'एक घूँट' एकांकी की रचना की। वास्तव में 'एक घूँट' में ही आकर एकांकी नाटक की आधुनिक शैली का भरपूर निखार होता है, जिसके कारण डा० नगेन्द्र तथा अनेक दूसरे समालोचक उसे हिन्दी का प्रथम एकांकी मानते है। इसमें सन्देह नहीं कि 'एक घूँट' के बाद एकांकी-लेखन की परम्परा बहुत तेजी से आगे बढ़ी और पिछले बीस-बाईस वर्षों में अनेक प्रतिभाशाली एकांकीकार हमारे साहित्य में पैदा हुए।

प्रसाद जी के बाद यों तो सूर्यकरण पारीख, सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पं० गोविन्द वल्लभ पन्त आदि अनेक लेखकों ने एकांकी लिखे, लेकिन शैली और कला की शिथिलता के कारण वे साहित्य में अपना विशेष स्थान नहीं बना पाए। इस बीच पाश्चात्य नाटककारों, विशेषकर बर्नार्ड शॉ से प्रभावित भुवनेश्वर और एकांकी की टेकनीक के मर्मज्ञ डा० रामकुमार वर्मा आदि एकांकीकार

उत्कृष्ट कला का विकास कर रहे थे। बाद को उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर और विष्णु प्रभाकर आदि अनेक एकांकी लेखक इस क्षेत्र में आये और उन्होंने हिन्दी एकांकी को एक नया परिष्कार और उत्कर्ष दिया है।

अगस्त १९५२

६

रेखाचित्र

आधुनिक यन्त्र-युग ने मनुष्य और समाज के जीवन मे आमूल परिवर्तन कर दिये है। सामन्ती-काल की वह सहज मन्थरता जीवन मे नहीं रही, उसमें द्रुतगति आ गई है। आज कलकत्ते, बम्बई, रामेश्वर या जगन्नाथपुरी की यात्रा के लिए बैलगाड़ियों पर चढ़कर जाना हास्यास्पद लगता है। आज की विरहिणी अफ्रीका या यूरोप में बैठे अपने प्रियतम की 'प्रेमपाती' पाने के लिए बरसों तक मार्ग पर आँखें बिछाये आँसू नहीं बहाया करती और न पश्चिम-दिशा से प्रत्येक आगन्तुक से विह्वल होकर पूछती है कि वह उसके प्रियतम का सन्देश लाया है या नहीं। कबूतर या पवन जैसे द्रुतगामी किन्तु अविश्वस्त सन्देश-वाहकों का स्थान तार और टेलिफ़ोन ने ले लिया है जो उनकी अपेक्षा कहीं जल्दी सन्देश ला और पहुँचा देते है। वाणी ने रेडियो और टेलीफ़ोन द्वारा, पैरों ने हवाई जहाज द्वारा, दृष्टि ने दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा देश (Space) पर विजय प्राप्त करली है; मशीन और विद्युत् ने काल (Time) पर विजय प्राप्त कर उत्पादन में सहस्रगुणी वृद्धि कर दी है। पाठक मनुष्य के इस सामाजिक कला और शिल्प-विज्ञान (Social technology) के विकास से भली भाँति परिचित है, क्योंकि जीवन में पग-पग पर उसका उपयोग करने के लिए वे विवश है। अतः इस औद्योगीकरण का प्रभाव मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों पर पड़ना अनिवार्य था, जिसके फलस्वरूप हमारे सामाजिक जीवन के सामने नित्य नयी समस्याएँ उठीं और नयी परिस्थितियों के अन्दर उनके नये हल पेश होते रहे। भावाभिव्यंजन के रूप-विधानों और सिद्धान्त तथा आदर्श-मूलक विचारों में भी परिवर्तन हुए। सामन्ती काल में भी श्रम-विभाजन की विविधता और सामाजिक जीवन की संश्लिष्टता इतनी बढ़ चुकी थी कि प्रागैतिहासिक अथवा अत्यन्त प्राचीन काल की तरह केवल काव्य ही विज्ञान, गणित, ज्योतिष, दर्शन, नीति और मनुष्य के सामाजिक अनुभव, सौन्दर्यानुभूति और व्यक्तिगत भाव-प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम न रह गया था; गणित, विज्ञान और दर्शन से अलग होकर ललित-साहित्य स्वतन्त्र रूप से विकसित होने लगा था, यद्यपि उसके अंग-उपांग जैसे काव्य, नाटक, कथाएँ आदि उस जीवन की मन्थरता से सामञ्जस्य रखते आये। जब समाज बदला और जीवन की रफ़्तार तेज हो चली तो उसने उससे सामञ्जस्य स्थापित करने वाले भावाभिव्यक्ति के अभिनव रूपों को जन्म दिया। ये अभिनव कलात्मक रूप-विधान

(Forms) नयी सामाजिक वास्तविकता की वस्तु (Content) की कलात्मक अथवा रचनात्मक ग्रहणशीलता का द्योतन करते हैं। जिस प्रकार आधुनिक समाज के अत्यन्त संश्लिष्ट संगठन की अभिव्यक्ति करने वाली सवाक्-चित्र और उपन्यास-कलाएँ विकसित हुईं, उसी प्रकार उसकी द्रुतगामिता की अभिव्यक्ति करने वाली आधुनिक कहानी, रेखाचित्र और रिपोर्ताज की कलाओं का विकास हुआ। कहानी की सर्वप्रियता, स्टेशन पर और बाजार में कहानी-पत्रिकाओं का इतना प्रचार, अन्य बातों के साथ-साथ आधुनिक जीवन की द्रुतगामिता का भी प्रमाण देता है। कहानी से सभी पाठक परिचित हैं, अतः कहानी के विषय में कुछ न लिखकर यहाँ मैं केवल 'रेखाचित्र' पर ही अपने विचार प्रकट करूँगा।

ऊपर से देखने पर रेखाचित्र और रिपोर्ताज दोनों मे समरूपता दिखाई देती है, परन्तु दोनों के विधान भिन्न हैं; और आज जब हिन्दी में भी रेखाचित्र और रिपोर्ताज लिखे जाना शुरू हो गये हैं तो दोनों का भेद समझना, आधुनिक गतिशील वास्तविकता के चित्रण की क्षमता को जान लेना और उनके विकास की आवश्यकता से परिचित होना और भी आवश्यक हो जाता है। हिन्दी मे रेखाचित्र तो यदा-कदा प्रकाशित भी हुए हैं, जैसे श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त की पुस्तक 'रेखाचित्र', हंस का 'रेखाचित्रांक' या सत्यवती मल्लिक, यशपाल, 'अज्ञेय' आदि के फुटकर प्रकाशित रेखाचित्र। रिपोर्ताज का हिन्दी मे अभी अभाव-सा है। रामवृक्ष बेनीपुरी की किसान-आन्दोलन सम्बन्धी कुछ कहानियाँ, दिसम्बर १९३८ के 'रूपाभ' में प्रकाशित इन पंक्तियों के लेखक का 'लक्ष्मीपुरा' रिपोर्ताज की श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त यदि कहीं कुछ और भी प्रकाशित हुए हैं तो लेखक को उनकी सूचना नहीं है। इस प्रकार रेखाचित्र और रिपोर्ताज दोनों ही हिन्दी-साहित्य के लिए नई चीजें हैं, नये अंग हैं। काव्य मे भी रेखाचित्र अंकित करने की प्रवृत्ति प्रमुख हो उठी है, और श्री निराला, पन्त, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल और शिवमंगल सिंह 'सुमन' आदि ने सुन्दर, कलात्मक रेखाचित्र प्रस्तुत किये हैं। लेकिन यहाँ हमारा उद्देश्य गद्य-साहित्य के रेखाचित्र की जाँच है, क्योंकि हमे रिपोर्ताज और रेखाचित्र दोनों के सापेक्ष एवं अन्योन्य महत्त्व को समझना है।

साहित्य में रेखाचित्रकार एक ऐसा कलाकार है जो अपने पारिपार्श्विक जीवन की वास्तविकता के किसी अंग को—पशु-पक्षी, वृक्ष, इमारत, खण्डहर, स्त्री, पुरुष, स्थान, गाँव, मुहल्ला, नगर आदि किसी भी जड़ अथवा चेतन वस्तु को—एक चित्रकार के समान अंकित करता है, वास्तविकता के उस अंग को कल्पनासात कर उसके मर्म को संक्षेपण और पुनर्संगठन द्वारा अधिक प्रभावपूर्ण, संगठित और समतल से उभार

करके अपनी भाव-प्रक्रिया से उसके प्रभावों को अतिरञ्जित कर देता है। चित्रकार के चित्र मे जिस प्रकार वास्तविकता की संक्षेपित-अतिरंजित अभिव्यक्ति केवल देखने का आनन्द ही नहीं प्रदान करती, वरन् भाव भी जागरित करती है, वास्तविकता पर हमारी पकड़ मजबूत करती है, हमे उसे ग्रहण करने में सहायक होती है, उसी प्रकार रेखाचित्र पढ़कर किसी वस्तु का चित्र ही हमारे सामने नहीं खिच जाता, बल्कि अभिव्यक्ति और चित्रण के पीछे अनासक्तिभाव का उपक्रम किये छिपी लेखक की सहानुभूति से भी अप्रत्यक्षरूप से पाठक प्रभावित होता है, वास्तविकता के उस टुकड़े को उसके विराट् संदर्भ से हटाकर जैसे खुर्दबीन से देखकर वह उसे पूरी तौर पर जान लेता है और उसके सम्पूर्ण-स्वरूप (whole) से उसके आन्तरिक सम्बन्धों को पहचान लेता है। लेखक के व्यक्तित्व का प्रक्षेपण तटस्थता का उपक्रम-सा करता इस सूक्ष्म सहानुभूति मे विद्यमान रहता है। इस प्रकार रेखाचित्र मे किसी वस्तु, मनुष्य या स्थान के बाह्य रूप से उसकी आन्तरिक सुन्दरता-कुरूपता, सम्पन्नता-विषमता को पकड़ने की चेष्टा होती है, उसमे अनुभूति और अनुभाव का चित्रण ही मुख्य है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति के रेखाचित्र में यह विशेषता होगी कि उसके व्यक्तित्व ने (जिन परिस्थितियों ने उसके व्यक्तित्व को गढ़ा, उनका भी चित्र की पृष्ठभूमि बनाने के लिए निर्देश हो सकता है) जो विशेष मुद्राएँ, चेष्टाएँ, शारीरिक अवयवों की बनावट मे जो विकृतियाँ ऊपर को उभार दी है, उनके आभास को चित्र में ज्यों-का-त्यों पकड़ा जाय, ताकि लेखक की अनुभूति के साथ उसके व्यक्तित्व की रेखाएँ और भी सघन होकर दिखाई पड़ने लगे। रेखाचित्र साहित्य मे चित्रकला के अनुरूप है। उसमे वर्ण्य-वस्तु का संगठन प्रधानतः कविता और चित्रकला की तरह देश (space) मे होता है। और जिस प्रकार चित्रकला में अनेक आधुनिक प्रवृत्तियाँ—रोमैण्टिसिज्म, प्रतीकवाद, प्रभाववाद, अभिव्यञ्जनावाद, रूपविधानवाद, त्रिपार्श्ववाद, परावस्तुवाद, यथार्थवाद आदि प्रचलित है, उसी प्रकार लेखक की विचारधारा के अनुसार रेखाचित्र के चित्र भी विविध प्रवृत्तियों के द्योतक हो सकते है। रेखाचित्र के चित्र वर्ण्य वस्तु का स्थिर चित्र भी खींच सकते है और गत्यात्मक भी। स्थिर चित्र में वर्ण्य-वस्तु की स्थिर रूप मे यथार्थवादी अभिव्यक्ति करके भी उसके गुण-दोष, सुन्दरता-असुन्दरता, बाह्य और आन्तरिक द्वन्द्व और परस्पर-विरोधी प्रभावों का ज्यों-का-त्यों चित्र ही उपस्थित किया जा सकता है, लेकिन गत्यात्मक चित्र खींचने के लिए उसमे नयी चेतना की अभिव्यक्ति रहेगी, वर्ण्य-वस्तु को एक विशिष्ट वस्तुपरक दृष्टिकोण मे आँकने का आग्रह होगा, अर्थात् नई चेतना की भाव-ग्राहकता चित्र का प्रमुख गुण होगी। तो भी हर दशा में रेखाचित्र एक चित्र है, अतः साहित्य में उसका उपयोग अनुभूति को तीव्र और प्रखर बनाना है।

पाठक कह सकते हैं कि अनुभूति को तीव्र और प्रखर बनाना तो एक प्रकार से प्रत्येक कला का गुण है, यहाँ तक कि साहित्य के सभी अंग यही कार्य करते हैं। काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, ये सभी अपने-अपने ढंग से अनुभूति को प्रखर और तीव्र बनाते हैं। फिर रेखाचित्र में विशेषता क्या है? उसकी विशेषता इसी में निहित है कि वह विशेष ढंग से आधुनिक वास्तविकता का चित्रण करता है, अर्थात् वास्तविकता के किसी अंग को अलग (isolate) करके वह संक्षेपण और अतिरंजन द्वारा उसकी बाह्य और आन्तरिक सुन्दरता-कुरूपता की रेखाओं को उभार देता है ताकि पाठक उसे सन्निकट से देखी वस्तु की तरह शीघ्र अपने अनुभव और चेतना में ग्रहण करले। हम पहले कह चुके हैं कि आधुनिक समाज ने जीवन को इतना द्रुतगामी बना दिया है कि आज की वास्तविकता को अपने अनुभव के दायरे में ग्रहण करना असम्भव-सा हो गया है, अतः रेखाचित्र इस द्रुतगामी वास्तविकता के किसी एक अंग को संक्षेपण-अतिरंजन द्वारा हमारी पकड़ में ले आता है। इससे यह स्पष्ट है कि रेखाचित्र आधुनिक जीवन की द्रुतगामी वास्तविकता से ही उत्पन्न हुआ है, उसके अंगों को टुकड़े-टुकड़े कर ग्राह्य बनाने या पकड़ में लाने के लिए वह इस जीवन की द्रुतगामिता का ऐतिहासिक चित्रण नहीं करता। कहानी या उपन्यास का दायरा इतना सीमित नहीं है, इसी कारण उनमें किसी वस्तु की वैयक्तिक विशेषताएँ इतनी उभरी रेखाओं द्वारा, इतने संक्षेप में प्रस्तुत नहीं की जा सकतीं, उनमें लगातार परिवर्तित होने वाले बाह्य वातावरण या आन्तरिक भाव-प्रक्रियाओं के प्रभाव प्रमुख हो उठते हैं जो काल (time) के अन्दर ही अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। यह ठीक है कि उपन्यास और कहानी में ऐसे स्थल आते हैं जहां मोटी, उभरी रेखाओं द्वारा किसी परिस्थिति, स्थान या पात्र का चित्रण कलाकार करता है; लेकिन वह स्वतन्त्र चित्रण नहीं होता, आगे चलकर बाह्य वातावरण के प्रभावों को ग्रहण करने के लिए ही इन मोटी और उभरी रेखाओं का प्रयोग किया जाता है। किन्तु कला के अन्दर रेखाचित्र की एक स्वतन्त्र सत्ता है, उसे पढ़ने के बाद पाठक को समाज या व्यक्ति की जीवन-धारा के अगले मोड़ या प्रवाहों को जानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह उस पूरी तस्वीर को पढ़कर सन्तुष्ट हो जाता है। और चूँकि रेखाचित्र एक चित्र है इस कारण उसका वर्ण्य-विषय कल्पना-प्रधान भी हो सकता है और वास्तविक भी। वर्ण्य-विषय को आज देखकर लेखक उसका रेखाचित्र एक-दो-चार वर्ष बाद भी अङ्कित करे तो भी उसकी ताज़गी ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी, क्योंकि उसमें काल (time) का तत्त्व गौण होकर ही रहता है। चित्रकला के समान ही वह देश-प्रधान है। इसी कारण आधुनिक समाज के द्रुतगामी जीवन की आवश्यकताओं से उत्पन्न होकर भी वह ललित साहित्य का विशिष्ट अंग होने का गौरव पा सकता है। उसमें सौन्दर्यानुभूति के सापेक्षतः अधिक स्थायी

तत्त्व दिखाई देते हैं, समसामयिकता के कम। लेकिन उसका यह गुण आज के वर्ग-समाज में कला या साहित्य के अन्य रूपों के समान उसके दुरुपयोग का कारण भी बन सकता है। प्रगतिशील लेखक रेखाचित्र में भी यथार्थवाद की शैली को ही अपनाता है, क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म रूप-चित्रों (images) द्वारा ही वह अपने चित्रों को सबसे अधिक मूर्त्त और प्रभविष्णु बना सकता है।

—मार्च १९५१

७

रिपोर्टाज

रिपोर्टाज हिन्दी मे नहीं के बराबर है । यह साहित्य का ऐसा रूप-विधान (form) है जिसका महत्त्व आज की सामाजिक परिस्थिति को जाने बिना नहीं समझा जा सकता, क्योंकि उसका जन्म इन्हीं परिस्थितियों से हुआ है। यूरोप, विशेष-कर सोवियत यूनियन से रिपोर्टाज का प्रारम्भ हुआ, और अमेरिकन लेखकों ने इसको सबसे ज़्यादा अपनाया। यूरोप मे पिछले महायुद्ध के बाद से जो बड़ी-बड़ी घटनाएँ घटीं उनके रिपोर्टाज प्रस्तुत करने की कोशिश लेखकों ने की । जैसे, रूस की समाजवादी क्रान्ति का रिपोर्टाज जॉन रीड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'टेन डेज़ दैट शुक द वर्ल्ड' में किया। और जोज़ेफ़ फ़्रीमन के शब्दों मे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पिछले दिनों यूरोप और अमेरिका मे समाज की नींव हिला देने वाला जो साहित्य लिखा गया है उसमें से अधिकांश रिपोर्टाज है।

आज का समाज इतना द्रुतगामी है, उसका रूप इतनी तीव्रता से बनता, बिगड़ता और बदलता जाता है कि आज की समस्याएँ कल पुरानी हो जाती है, कल की समस्याएँ परसों। उसके साथ पग मिलाकर चलने के लिए इतनी सतत सतर्कता की आवश्यकता है कि ज़रा चूके और पिछड़ गये । आज आर्थिक संकट से विश्व मे त्राहि-त्राहि मचती है। कल क्रान्तियाँ होती है। फिर परसों नात्सी पार्टी सत्ता धारण करती है, और फिर आज इस देश पर तो कल दूसरे देश पर आक्रमणों का क्रूर अध्याय खुल जाता है और सारा विश्व महायुद्ध की आग मे कूद पड़ता है । ये इक्की-दुक्की फुटकर घटनाएँ नहीं है कि उन्हें बिना जाने काम चल जाय। वे आज के समाज की वृहद् वास्तविकता के अन्दर एक सूत्र मे बँधी है। और वे जो समस्याएँ उठाती है उनके हल पर सारी मनुष्य जाति की सभ्यता और संस्कृति का भविष्य निर्भर करता है। इन घटनाओं का व्यक्तियों, परिवारों, समूहों और वर्गों के दैनिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ता है। इन प्रभावों को प्रतिदिन विश्व के करोड़ों व्यक्तियों तक पहुँचाने का कार्य-भार यदि लिखित शब्द अथवा वाणी पर आ पड़ा है तो यह स्वाभाविक है। रेडियो, सिनेमा और प्रेस जैसे यान्त्रिक-आविष्कारों ने इस कार्य को सरल कर दिया है और वास्तविकता के साथ पग मिलाकर चलने की क्षमता मनुष्य को प्रदान की है। ललित-साहित्य सामाजिक प्रभाव और स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक तीव्र अस्त्र है। लेकिन वह आज की समस्या का आज ही हल पेश करने में

असमर्थ है। इसका प्रभाव युगों तक चलता है। दैनिक जीवन की विशिष्ट समस्याओं तक उसकी पहुँच नहीं होती। इसलिए आधुनिक जीवन की इस नयी द्रुतगामी वास्तविकता मे हस्तक्षेप करने के लिए मनुष्य को नये साहित्यिक रूप-विधानों को जन्म देना पड़ा है। रिपोर्ताज उनमे से सबसे प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप-विधान है।

ये घटनाएँ किस प्रकार व्यक्ति और समाज के जीवन पर असर डालती है, यह जानने के लिए हम अपने दैनिक जीवन से एक उदाहरण लें।

यह कलकत्ता शहर है, इसमे क़रीब बीस-तीस हज़ार मेहतर, पाँच हज़ार बिजली के मज़दूर, तीन लाख जूट की मिलों मे काम करने वाले, पाँच हज़ार पानी-कल के मज़दूर और तीन हज़ार ड्राइवर है। बाक़ी व्यापारी, सेठ, साहूकार, राजकर्मचारी, डाक्टर, वकील, क्लर्क, लेखक, कलाकार, विद्यार्थी और घरों मे काम करने वाले नौकर है। यूरोप मे युद्ध छिड़ता है। चीज़ों का भाव गरां हो जाता है। मज़दूरों के काम के घण्टे बढ़ जाते है। अब उनका काम नहीं चलता, पेट नहीं भरता, और वे वेतन मे वृद्धि की माँग करते है। उनके लिए एक-दो रुपये की बढ़ती जीवन-मरण का प्रश्न है। अतः सभी मज़दूर अपने यहाँ के अधिकारियों के पास अपनी माँगे लिखकर भेजते है। शहर के आम लोग अख़बार में पढ़कर जान लेते है कि मज़दूरों में कुछ हलचल पैदा हो रही है। लेकिन वे अपना कार्य किये जाते है। सैर को भी जाते है। 'मैट्रो' मे सिनेमा भी देखते हैं। निश्चिन्त है। उनके आमोद-प्रमोद मे कोई बाधा नहीं पड़ती। इधर कॉरपोरेशन मज़दूरों की माँगों को ठुकरा देता है। मज़दूर काम करना चाहते है। काम से दिल चुराने का बहाना उनके सामने नहीं है। इतनी महँगी के दिनों मे अपने स्वल्प वेतन से अपना या अपने परिवार का पेट वे नहीं पाल सकते। इसलिए, उनके सामने अब कोई चारा नहीं रह जाता। और मेहतर, बिजली-घर और पानी-कल के मज़दूर और ड्राइवर हड़ताल का नोटिस देते है। शहर के लोग यह नोटिस पढ़कर कुछ चिन्तित तो होते है, लेकिन अभी ख़तरा उनसे दूर है। एक दिन जब वे सोकर उठते है तो अख़बार मे पढ़ते है कि आज से मेहतरों ने हड़ताल कर दी। उनकी चिन्ता बढ़ जाती है। शाम होते-न-होते उनके घरों के चारों ओर सड़क और गलियों की नालियाँ भर जाती है और सड़कों पर घरों मे से फेंका कूड़ा-करकट जहाँ-तहाँ छितरा होता है। दूसरे दिन चारों ओर से दुर्गन्ध उठने लगती है। शाम को जब लोग अपने घरों की बत्ती जलाते है तो देखते है कि बिजली फल हो गई है। सारे शहर मे ब्लैकआउट-सा हो गया है। सुबह को पता लगता है कि मेहतरों की हमदर्दी मे और अपनी भी माँगों के लिए बिजलीघर के मज़दूरों ने हड़ताल कर दी है। उसी दिन शाम तक पानी-कल के मज़दूरों ने भी हड़ताल कर

दी और नल से पानी आना बन्द हो गया । सारे शहर में त्राहि-त्राहि मच गई। बाहर-भीतर गन्दगी-ही-गन्दगी । न कहीं रोशनी, न कहीं पानी की बूँद । सारा कारोबार, ट्रामें, मोटर बसें, टैक्सियाँ—ठप । कॉलरा और ऐसी ही बीमारियाँ बस्तियों की बस्तियों को मौत की गोद मे सुलाने लगती है । कुछ लोग मजदूरों को कोसते है तो कुछ कॉरपोरेशन को । वे किसी जवाँमर्द, सूट बूट-धारी अंग्रेज के नेतृत्व मे एक स्वयंसेवक दल तैयार कर कूड़ा ढोने और सड़कें साफ़ करने के काम में जुट जाते है । मजदूरों की सभाओं पर ईंटें बरसाते है, गालियां बकते है—वे जो स्वयंसेवक है, शान्ति के दूत है, अहिंसा-वादी है ! दूसरी ओर जो कॉरपोरेशन को कोसते है, कॉरपोरेशन-भवन के सामने जाकर नारे लगाते है । मेयर से मांग करते है कि मजदूरों की माँगे मंजूर की जायँ, क्योकि दोष कॉरपोरेशन का है, और उसकी हठ-धर्मी या शोषक वृत्ति के लिए वे हैजा, गन्दगी, अन्धकार और प्यास के शिकार नहीं बनना चाहते । इस बीच मे अख़बारों के दफ़्तरों की चहल-पहल देखते ही बनती है। टेलिफ़ोन से कान हटाते ही तड़ाक से घण्टी फिर बज उठती है । नये-नये वक्तव्यों की दोनों ओर से बौछार हो रही है । संवाददाता बेतहाशा पसीने मे भीगे दौड़ते आते है । खबरे देकर धड़ाम से दरवाजा बन्द कर घटना-स्थल की ओर झपट जाते है । अख़बार छपकर तैयार हो रहा है । बेचने वालों का झुण्ड दरवाज़े पर खड़ा है । कापियाँ पाते ही वह झुण्ड तितर-बितर होकर शहर के गली-कूचों मे तीर की तरह चारों ओर से घुस पड़ता है । सैकड़ों हाथ उठते जाते है और अख़बार पर लोग इस तरह टूट पड़ते है मानों वह प्यासों के लिए पानी का सोता हो । वे आँखे फाड़-फाड़ कर देखते है कि हड़ताल के बारे में कोई समझौता हुआ या नहीं । और समझौते के कहीं आसार न देखकर उनके दिल बैठ जाते है । हैजा, गन्दगी, अन्धकार और प्यास, सूखे कण्ठों की आर्त्त दशा उनकी आँखों के सामने फिर नाचने लगती है। अख़बार इस हड़ताल के बारे में लोक-मत तैयार करते है । अगर वे मजदूरों का पक्ष लेते है तो शहर के अन्य लोग भी कॉरपोरेशन पर दबाव डालते है । यदि वे विरोध करते है तो केवल शहर के लोग ही मजदूरों पर ईंट-पत्थर नहीं चलाते, पुलिस तो गोलियाँ भी बरसाती है । इस प्रकार ये दैनिक घटनाएँ हमारे दैनिक जीवन से इतना गहरा सम्बन्ध रखती है कि एक-एक घटना दर्जनों नये प्रश्न उपस्थित कर देती है । इन प्रश्नों का हल हमें इतनी तीव्र गति से करना पड़ता है कि उन पर स्थिर-चित्त होकर सोचने का अवसर ही नहीं मिलता । ऐसी परिस्थिति मे कला और साहित्य की युग-युगीन प्रेरणाएँ निरर्थक जान पड़ने लगती है । लेकिन कला और साहित्य जो मनुष्य के सामूहिक अनुभव की अभिव्यञ्जना करते है, वे इस अनुभव को अङ्कित न करें और जीवन से तटस्थ हो जायँ, ऐसा नहीं हो सकता । और आज की

परिस्थितियों में तो यह और भी असम्भव है । हम जिस संक्रान्ति-काल से गुज़र रहे हैं उसमें तो साहित्य और कला के ऊपर सामाजिक चेतना को जागरित करने का उत्तरदायित्व और भी बढ़ गया है । और हमें हमारा इतिहास का अनुभव बताता है कि क्रान्ति और परिवर्तन के युगों में साहित्य और कला ने लघु रूपों का ही विकास किया है । फ्रांस की पूंजीवादी क्रान्ति से परिचित पाठक जानते हैं कि उन दिनों पैम्फ़लेटों के ज़रिये क्रान्ति का सन्देश घर-घर पहुँचाया जाता था । रूसो, वॉल्तेयर और बाद में विक्तर ह्यूगो आदि ने पैम्फ़लेट-बाज़ी को ही एक श्रेष्ठ कला बना दिया था । आज जब विश्व युद्ध और शान्ति की समस्याओं में फंसा है, कला के लघु रूप ही हमारे जीवन की समस्याओं से हमें अवगत करा सकते हैं, विचार दे सकते हैं, और उनके अर्थ समझा सकते हैं ।

रिपोर्ताज के अन्दर लेखक को वर्ण्य घटना या वस्तु का चित्रण करने के लिए उस पर तीन दिशाओं से आक्रमण करना होता है । अर्थात् उसकी रिपोर्ट में तीन तत्वों का समावेश रहता है । किसी घटना का इतिहास और उसका परिवेश (environment) तो रहता ही है, एक तीसरा तत्त्व भी रहता है जो रिपोर्ताज को कला का क्रान्तिकारी रूप-विधान बना देता है । यह तीसरा तत्त्व है उस घटना में भाग लेने वाली शक्तियों के भीतरी इरादों, उनके कार्य-क्रमों, उनकी गतिविधि, रीति-नीति और उनके संघर्ष के परिणाम पर निर्भर भविष्य की दिशाओं का स्पष्टीकरण ।

और लेखक को यह सब अपने थोड़े से समय में—क्योंकि कल या इस सप्ताह के समाचार-पत्रों में ही उसे प्रकाशित होना है—कला के माध्यम से करना होता है । अर्थात्, वास्तविकता का चित्रण संक्षेपण द्वारा भी हो और वह चित्रण एक सजीव अनुभव के रूप में परिणत भी हो जाय, ताकि अपने पाठकों को घटनाओं को दिखाने और उनकी अनुभूति कराने की उसमें शक्ति हो । कोई घटना कानपुर में हुई या बम्बई में, पहली मई को हुई, छब्बीस जनवरी या सात अक्तूबर को; मिल-मालिकों की ज़्यादती से हुई या सरकार की दमन-नीति की प्रतिक्रिया के रूप में, इनका ज़िक्र तो उसमें रहेगा ही, क्योंकि रिपोर्ताज एक रिपोर्ट है । लेकिन इसके साथ उसमें घटना अपने परिवेश की सम्पूर्ण चित्रात्मकता के साथ, भावों और संवेदना के ज्वार-भाटे की तरंगों से एक सजीव अनुभव भी बन जाती है, और पाठक को सवाक् चित्रपट की भाँति, किन्तु यथार्थ और विश्वस्त रूप से, उनका अनुभव प्रदान करती है ।

और यह एक कष्ट-साध्य कर्म है । वैसे भी लोगों की यह धारणा रही है कि कलात्मक रचना के सृजन में काफ़ी समय लगना ही चाहिए, क्योंकि यह कार्य दुःसाध्य होता है । बात यद्यपि सही है, परन्तु सामन्तवाद या पूंजीवाद के प्रारम्भ-काल में ही यह बात सम्भव थी कि कलाकार या लेखक को अपनी रचना तैयार करने के लिए

काफ़ी समय मिल जाता था। पूँजीवाद का पतन-काल या क्रान्ति का युग, कलाकार या साहित्यकार को अपनी रचना को गढ़ने-सँवारने का अवसर नहीं देता। पूँजीवाद के पतन-काल मे कला व्यावसायिक वस्तु बन जाती है और कलाकार को जीवित रहने के लिए बाजार की माँग के अनुकूल कला और साहित्य की सृष्टि करनी पड़ती है। इसके साथ-साथ यह देखने के लिए कि बाजार मे उसकी कृतियों की माँग बनी रहे, उसे कला की टेकनीक मे लगातार नये-नये प्रयोग करने पड़ते है, ताकि वह समय से पिछड न जाय। यह लेखक या कलाकार की विवशता होती है जो उसकी आत्मा को कुचलकर उसे असामाजिक मनुष्य बना देती है। इसके विपरीत क्रान्ति का संगठन करने वाली कला से यह अपेक्षा की जाती है कि वह संघर्ष से उत्पन्न नई-नई समस्याओं का फ़ौरन उत्तर दे, और उसके किसी पहलू, हार या जीत, का अनुभव नष्ट न होने दे, क्योंकि ये अनुभव बड़े महत्त्व के होते है, जिनके बल पर ही नया समाज पैदा किया जा सकता है। अतः क्रान्तिकारी कला मनुष्य के अनुभव को समृद्ध और मनुष्य को समर्थ बनाती है। लेकिन नित्य के अनुभवों की कलात्मक अभिव्यक्ति करने का जब प्रश्न हो तो फिर कलाकार को रचना गढ़ने-सँवारने का अवसर कैसे मिले ? इसलिए यद्यपि पूँजीवाद का पतन-काल और क्रान्ति का युग, अर्थात् इन दोनों का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्तियाँ कलाकार को अपनी रचना मे संशोधन-परिवर्द्धन का कोई अवसर नहीं प्रदान करतीं, तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि पूँजीवादी कला ह्रासोन्मुखी होकर केवल वाग्वैचित्र्य के दायरे मे ही सीमित हो रहती है जब कि क्रान्तिकारी कला कलाकार से सौन्दर्य-दृष्टि, भावनात्मक चेतनता, अनुभव और शैली के सामञ्जस्य की अपेक्षा कर कलाकार की क्षमता पर एक जबर्दस्त भार डाल देती है। लेकिन क्रान्ति-युगों का इतिहास हमे बताता है कि जिस प्रकार जनता ने संघर्ष की विषमताओं को झेलकर अपने महान् पराक्रम, त्याग और सहन-शक्ति के उदाहरण पेश किये है उसी प्रकार उन युगों मे उत्पन्न जनभावनाओं के ज्वार को एक कलात्मक अभिव्यक्ति देकर जीवन्त और महान् कला के निर्माण में कलाकार भी समर्थ हुए है, यद्यपि समय और साधनों का उनके पास सर्वथा अभाव रहा है।

आज के क्रान्ति-युग में रिपोर्ताज एक ऐसा रूप-विधान है जिसके द्वारा वर्तमान जीवन की संघर्षमयी वास्तविकता का अनुभव पाठकों तक पहुँचाया जा सकता है। रिपोर्ताज में कहानी और उपन्यास के भी कई गुण रहते है। लेकिन उसके अन्दर तैयार किये गये परिवेश, चरित्र और घटना में यथार्थता और सत्यता अधिक मात्रा में रहती है। उपन्यासों और कहानियों के अनुभवी लेखक कह सकते हैं कि उनको वे इतनी गतिशील वास्तविकता की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बना सकते। उनके अन्दर तो वे उसकी तह में अधिक-से-अधिक शक्तियों के विराट् संयोजन, संघटन और संघर्ष

को ही चित्रित कर सकते हैं। किन्तु ज्वार की ऊपरी सामयिक लहरों को अङ्कित नहीं कर सकते। रिपोर्ताज की विशेषता यही है कि वह उन्हें ही अङ्कित कर सकता है; क्योंकि वह लेखक से एक नये प्रकार के अनुभव की अपेक्षा करता है अर्थात् वह लेखक को घटना-स्थल पर मौजूद रहकर उसे जानने-समझने को बाध्य करता है और इस तरह लेखक का समाज के प्रति क्रान्तिकारी संघर्ष से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर देता है; और यह एक महत्त्वपूर्ण बात है।

यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि रिपोर्ताज क्रान्तिकारी संघर्ष का ही माध्यम बन सकता है, प्रतिक्रियावादी साहित्य का नहीं। हड़ताल को ही ले। उसमे पूँजीपति की दिलचस्पी क्या है, उसका स्वार्थ कहाँ है? हड़ताल तोड़ने के लिए (Black legs) की भरती करने मे, पुलिस से दमन कराने में, मजदूरों मे फूट डालने मे। और इन जन-विरोधी कार्यों का समर्थन करने वाला रिपोर्ताज किस प्रकार पाठकों की सहानुभूति अपनी ओर खींच सकता है? पूँजीपतियों की हिंसा, क्रूरता और शोषण से जनता कैसे रागात्मक सहानुभूति पैदा कर सकती है? इसीलिए पूँजीवाद या उसके समर्थक 'कलाकार' रिपोर्ताज की कला का विकास नहीं कर पाते। वे उसे क्रान्तिकारियों के हाथ मे एक तीव्र अस्त्र बनते देख भयभीत भी होते है और उसकी निन्दा भी करते हैं। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि अभी तक भारत में रिपोर्ताज का जन्म नहीं हुआ और अब जो इक्के-दुक्के रिपोर्ताज लिखे गये हैं, वे उन्हीं के द्वारा जो अपने विचारों और कार्यों से साम्राज्यवाद-सामन्तवाद-पूँजीवाद के विरोधी रहे है, तथा जिन्हें वर्तमान समाज के संघर्षों का थोड़ा-बहुत प्रत्यक्ष अनुभव है। भारत की क्रान्तिकारी परिस्थिति मे ज्यों-ज्यों जोर आता जायगा, त्यों-त्यों रिपोर्ताज भी विकास करता जायगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि हमारे तरुण लेखक साहित्य के अन्य रूप-विधानों के साथ-साथ रिपोर्ताज की कला को भी अधिक-से-अधिक अपनायें, क्योंकि वह उनमे और संघर्षरत जनता मे सीधा सम्बन्ध स्थापित करके पूँजीवादी समाज की उस असंगति के बन्धन तोड़ देगा जिसमे कलाकार और जनता के जीवन का व्यवधान निरन्तर बढ़ता जाता है और कला और साहित्य मे रहस्यवाद और निराशावाद को जन्म देता है।

—मार्च १९४१

८

कबीर : युग-चित्रण

कबीर भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण (रिनेसां) के युग-प्रवर्त्तक संत और महाकवि हैं। उनका सुदीर्घ जीवन-काल पूरी पन्द्रहवीं शताब्दी और सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक उन्नीस वर्षों को घेर लेता है। इस समय तक उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न प्रदेशों में यत्र-तत्र मुसलमान सामंतों ने अनेक राज्य स्थापित कर लिये थे। दिल्ली की गद्दी पर लगभग दो सौ वर्षों से मुसलमान सुलतानों का राज्य रहा था। एक प्रकार से मुसलमान तब तक इस देश के ही निवासी बन चुके थे।

इस घटना का केवल भारतीय राजनीति पर ही नहीं, बल्कि समूचे भारतीय जीवन पर—भारतीय समाज, कला, संस्कृति और विचार-पद्धति पर व्यापक, युगांतरकारी प्रभाव पड़ा।

देश के कोने-कोने में फैले हिन्दू और मुसलमान शासक जाति और धर्म का विचार न करके अपने-अपने राज्यों के सीमा-विस्तार के लिए परस्पर लड़ते रहते थे, या दिल्ली के सुलतान अपने साम्राज्य को सुगठित और सुव्यवस्थित बनाने या अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए निरन्तर युद्धों मे ही जूझते रहते, या कि कुछ मुसलमान शासक अपने धर्मांध उलमाओं के आदेश पर हिन्दुओं पर विशेष रूप से अत्याचार करते, उन पर जज़िया कर लगाते या हिन्दुओं के मंदिरों और मूर्तियों को तोड़ते थे—ये घटनाएँ तो आए दिन होती ही रहती थीं। यह सारी अंतःकलह और अराजकता तो मध्य-युग के अंत की द्योतक उथल-पुथल थी। लेकिन उस युग के काव्य और कला मे इस राजनीतिक अव्यवस्था का चित्रण ज्यों-का-त्यों सीधे ढंग से ढूँढ़ना व्यर्थ होगा, क्योंकि उस युग की सबसे बड़ी वास्तविकता यह ऊपरी राजनीतिक उथल-पुथल नहीं है, और न मुसलमानों का हिन्दुओं को पराजित करके अपना राज्य स्थापित करना ही ऐसी बड़ी घटना थी कि कविता और कला की प्रवृत्तियों में कोई मौलिक युगांतर पैदा कर देती। ऐसे बाह्य आक्रमण भारत पर बार-बार होते आए थे और आक्रमणकारी किरात, हूण, यवन, खस और शक आदि जातियाँ यहाँ आकर बसती भी गई थीं, लेकिन उन्होंने यहाँ के धर्म-मत और जाति-वर्ण पर आधारित समाज-व्यवस्था को कभी इस तरह नहीं झकझोरा था और न समाज में उन प्रगतिशील शक्तियों को ही शक्ति और प्रेरणा दी थी जो उठकर रूढ़ियों से टकरातीं और दलित और वंचित लोगों को आत्मगौरव प्रदान करके सांस्कृतिक नवजागरण के मार्ग पर

अग्रसर करतीं। वे स्वयं अपनी विशेषता खोकर भारतीय समाज में घुल-मिल गईं। परन्तु इस बार ऐसा नहीं हुआ था। इस्लाम स्वयं एक सुसंगठित संप्रदाय था। उसके आने से और यहाँ की अनेक दलित जातियों के मुसलमान बन जाने से दो धर्मों और संस्कृतियों का संगम तो हुआ, लेकिन यह संगम ऐसा था जिसमें दोनों धाराएँ जीवन के हर क्षेत्र में और हर स्तर पर एक-दूसरे से प्रभावित होकर भी अपना वैशिष्ट्य और स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखती आई थीं। इस्लाम के एकेश्वरवाद, सामाजिक न्याय और धार्मिक समानता के सिद्धान्तों ने यहाँ की दलित, जाति-भ्रष्ट, शूद्र जातियों में सहज ही एक नई आशा का संचार किया और एक विराट् जन-आन्दोलन को जन्म देने में परोक्ष रूप से सहायता भी दी। साथ ही उच्च वर्गों और जातियों के उदारमना शास्त्रज्ञ विद्वानों में भी उसने यह चेतना जगा दी कि पौराणिक मत और जाति-व्यवस्था के बन्धन ढीले करने में ही कल्याण है।

भारतीय नवजागरण के प्रारम्भिक इतिहास और धर्म-आन्दोलनों को समझने के लिए यह याद रखने की बात है कि उन दिनों विभिन्न वर्गों के आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों को धर्म-व्यवस्था ही विचार-क्षेत्र में व्यक्त और प्रतिबिंबित करती थी, क्योंकि धर्म ही मनुष्य के समस्त कार्य-व्यापारों का नियमन करता था—वही तब के ह्रासोन्मुखी सामन्ती समाज का स्वीकृत विधान था। सर्व-साधारण की आर्थिक-सामाजिक गुलामी के बन्धनों को और कठोर बनाने के लिए विधि-विधान, तीर्थाटन, पर्व-स्नान, वेदपाठ, व्रतोद्यापन, छुआछूत, अवतारोपासना, कर्मकाण्ड आदि बाह्याचारों की शृंखला को और जटिल तथा सर्व-साधारण के लिए दुरभिसाध्य और कठोर बनाया जाता था। इसी कारण समाज की निम्न, अधिकार-वंचित श्रेणियों की ओर से सामन्ती आर्थिक-सामाजिक गुलामी पर आक्रमण करने के लिए भी हमेशा धर्म के कठोर विधान पर आक्रमण किया जाता था। इसे यों भी कह सकते हैं कि उस काल में धार्मिक बन्धनों को ढीला करने की जो चेष्टाएँ होती थीं वे मूलतः सामन्ती आर्थिक-सामाजिक गुलामी की जड़ों पर ही कुठाराघात करती थीं। उन दिनों लोक-मानस में मनुष्य की मुक्ति का वर्ग-संघर्ष धार्मिक स्तर पर जनता की लोक-परम्परा या उच्च वर्गों की शास्त्रीय परम्परा से प्राप्त विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच धार्मिक-दार्शनिक शब्दावली और रूपकों का आश्रय लेकर ही अभिव्यक्ति पाता था। उस समय धर्म ही युग-चेतना का रूप और माध्यम था। ईश्वरोपासना के समान अधिकार की माँग वास्तव में आर्थिक-सामाजिक न्याय की माँग थी। जाति-कुल-वर्ग-श्रेणी की भिन्नता के बावजूद भक्त-पद प्राप्त करने की माँग उस समय के अमानवीय, अन्यायपूर्ण समाज-सम्बन्धों के मानवीयकरण की मांग थी और उन बनावटी, ऊपर से थोपी गई मर्यादाओं को तोड़ने की माँग थी जो विशाल जन-समूह को अपने अधिकारों से वंचित

रखती है । यही कारण है कि उस काल के तमाम जन-आन्दोलनों का बाह्य-रूप धार्मिक था, तमाम प्रगतिशील जन-नेता और मनीषी धर्म के नाम पर ही मानव-मुक्ति और मानवमात्र की समानता और एकता पर जोर देते थे और उन तमाम सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों, साम्प्रदायिक कट्टरताओं, बाह्याचारों और कर्मकाण्डों पर खुलकर आक्रमण करते थे जिनका आश्रय लेकर उच्च वर्ग और उच्च जातियाँ सर्व-साधारण का शोषण-दोहन करती थीं । यदि इस ऐतिहासिक तथ्यपरक दृष्टि से हम देखे तो हमें कबीर के काव्य मे अपने युग की सभी मूलभूत समस्याओं का अत्यन्त मार्मिक और यथार्थ चित्रण मिलेगा ।

कबीर के युग-चित्रण को गहराई से समझने के लिए उन धार्मिक आन्दोलनों को जानने-समझने की भी जरूरत है जो कबीर से पहले और कबीर के समय लोक-मानस को आलोड़ित कर रहे थे, जिनकी परम्पराएँ बन चुकी थीं और जिनको स्वीकार करके भी कबीर ने जिनसे सम्बन्ध-विच्छेद किया था और स्वयं एक नई परम्परा गढ़कर भारतीय चिन्ताधारा मे एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था ।

मुसलमानों के आगमन से सत्ताधारी उच्च वर्गों और उच्च जातियों पर यह प्रतिक्रिया हुई कि उन्होंने भी संघ-बद्ध इस्लाम का मुक़ाबला करने के लिए देश में फैले विभिन्न मत-मतान्तरों को संघबद्ध करने की कोशिश की । उस समय यहाँ ब्रह्मवादी. कर्मकाण्डी, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त आदि अनेक मत प्रचलित थे जो स्मृति, पुराण, लोकाचार, कुलाचार आदि अनेक आधारों पर सगठित थे । स्मार्त पण्डितों ने शास्त्रीय वचनों के आधार पर एक सर्व-सम्मत मत निकालने की कोशिश की और शास्त्र-वाक्यों की छानबीन करके एक आचार-प्रवण धर्म-मत स्थिर करने के लिए निबन्ध-ग्रंथों की रचना की । वस्तुतः इन निबन्ध-ग्रंथों की आचार-प्रवणता उच्च जाति के हिन्दुओं को ही संघबद्ध कर सकती थी, क्योंकि तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचार की परम्परा ही उनका केन्द्र-बिन्दु थी और मूलतः उनका लक्ष्य अंत्यजों और निम्न श्रेणियों के प्रति सामाजिक रूप मे वर्जनाशील रहकर उच्च जाति के हिन्दुओं को और भी अधिक हिन्दू बनाना था । सिद्ध, योगी और संत कवि इस आचार-प्रवण, संकीर्ण मतवाद पर लगातार आक्रमण करते रहे, क्योंकि इस प्रकार की संघबद्धता से जनता का हित-साधन नहीं होता था ।

इसके विपरीत, मुसलमानों के प्रारम्भिक आक्रमणों के समय से ही पूर्व और उत्तर भारत में निम्नवर्ग की जातियों की ओर से विद्रोह का झंडा लहराया जाने लगा था । बिहार में बौद्ध-धर्म का प्रभाव समाप्त होते ही वज्रयान-संप्रदाय के रूप में बौद्ध तान्त्रिकों या सिद्धों का प्रभाव बढ़ा जो अधिकतर समाज की उपेक्षित और निम्न श्रेणियों से आते थे । बिहार से लेकर बंगाल और आसाम तक इन 'चौरासी

सिद्धों' का जन-साधारण पर अनन्य प्रभाव था। सिद्ध और योगी-सम्प्रदाय में, जिसमें सबसे प्रमुख गोरखनाथ हैं और जिनके नाम पर नाथ-सम्प्रदाय चला, यद्यपि वामाचार, रहस्य और गुह्य की प्रवृत्तियाँ प्रमुख थीं तथा और भी अनेक उच्छृङ्खलताएँ और दुराचार प्रचलित थे, लेकिन यह उच्च वर्णों और उच्च जातियों द्वारा आरोपित धार्मिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति निम्नवर्ग के लोगों का अन्ध, अनियंत्रित विद्रोह था, इसमें कोई सन्देह नहीं। यही कारण है कि इन सिद्धों और नाथ-पंथी योगियों ने शास्त्रीय स्मार्त मत को तो ठुकराया ही, साथ ही वे उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता पर आधारित किसी भी दार्शनिक मतवाद को भी मानने को तैयार न हुए। नाथ-सम्प्रदाय वर्णाश्रम-व्यवस्था पर सीधी चोट करता था और ईश्वरोपासना के बाह्य-विधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट करता था। इनकी उपासना ध्यान और समाधि के द्वारा होती थी। वे न हिन्दू-आचारों के कायल थे, न इस्लामी आचारों के—यद्यपि योगी जाति के लोग कालान्तर में मुसलमान हो गये थे। वे हठयोग-साधना और अलौकिक चमत्कारों के लिए प्रसिद्ध थे—जो इस तथ्य को ही सिद्ध करता है कि यह विद्रोह मूलतः लक्ष्यहीन, अंध और अनियंत्रित था। साधारण जनता इन सिद्धों और योगियों के प्रति सहज ही आकर्षित होती थी, क्योंकि उसे लगता था कि वर्ण-व्यवस्था, पौराणिक धर्म और भाग्यवाद को इनका हठयोग चुनौती देता है।

कबीर स्वयं नाथ-पंथी परम्परा के संत थे, लेकिन उनका विद्रोह विनाशक न था। उन्होंने एक दूसरे धार्मिक आन्दोलन की परम्परा से इस विद्रोह को सम्बद्ध करके उसे एक जनकांक्षित उद्देश्य देकर मानवमात्र के लिए परस्पर मिलन और एकता का मार्ग प्रशस्त किया। धार्मिक आन्दोलन की यह दूसरी धारा प्रेम-भक्ति की धारा थी जो दक्षिण से चलकर उत्तर भारत को आप्लुत कर रही थी।

सुदूर दक्षिण के आलबार भक्तों में भक्तिपूर्ण उपासना-पद्धति वर्तमान थी। इन्हीं लोगों की परम्परा में वैष्णव आचार्य रामानुजाचार्य हुए थे। उन्होंने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर नीच जातियों को ऊँचा किया। उनका श्री-सम्प्रदाय मायावाद का विरोधी था। इनकी ही शिष्य-परम्परा में स्वामी रामानन्द हुए जो कबीर के गुरु थे। वह दक्षिण से उत्तर भारत में आए थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानन्द ही थे। उनके अनुसार 'जो भक्ति के पथ में आ गया उसके लिए वर्णाश्रम का बन्धन व्यर्थ है।' .... इसी प्रकार 'सभी भाई-भाई हैं। सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म से नहीं।' उन्होंने देश भाषा में कविता लिखी और ब्राह्मण से चाण्डाल तक को राम-नाम का उपदेश दिया। स्वामी रामानन्द के बारह शिष्य थे जिनमें से रैदास

(चमार), कबीर (जुलाहा), धन्ना (जाट), सेना (नाई) आदि निम्न जातियों के लोग भी थे।

कबीर के समय देश मे धर्म की एक और धारा प्रवाहित हो रही थी। वह थी सूफी साधना की धारा। सूफी साधक इस्लाम के एकेश्वरवाद से संतुष्ट न थे और भगवान् को विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्तियों की तरह मानते थे। पहले ये साधक पंजाब और सिंध मे आकर बसे। फिर धीरे-धीरे उनकी परम्परा सारे भारतवर्ष मे फैल गई। ये साधक मुसलमान उल्माओं की तरह कट्टर और संकीर्ण मतवादी न थे। इसीलिए मुईन उद्दीन (११४२ ई०), कुतुबुद्दीन काकी, फरीद शकरगंज (१२०० ई०), शेख चिश्ती (१२६१ ई०), निजामुद्दीन औलिया (१२३५) आदि सूफी साधक समान भाव से हिन्दू और मुसलमानों का विश्वास और सम्मान प्राप्त कर सके थे। बाद मे इन सूफी साधकों ने पौराणिक आख्यानों के बदले लोक-प्रचलित आख्यायिकाओं का आश्रय लेकर जनता तक अपनी बात पहुँचाई।

इस प्रकार कबीर के समय और उनसे पहले देश मे धार्मिक आन्दोलनों के रूप मे जनता का विद्रोह जिन तीन परम्पराओं के मार्ग से व्यक्त हुआ था, कबीर को उन सबको आत्मसात् करने का सुयोग मिला था। इसी कारण उनकी वाणी इतना विशद युग-चित्रण है और इतना अक्खड़पन, सहज भाव, साहस और गहरा व्यंग्य है, जो उन्हें एक युगावतारी व्यक्ति की कोटि मे रख देता है।

अपने युग के विराट् सामाजिक और सांस्कृतिक जन-आन्दोलन की इन तीन धाराओं को अपने अन्दर आत्मसात् करके भी कबीर किसी एक के ही नहीं बने। वे एक ऐसी युग-संधि के काल मे पैदा हुए थे, जिसमे हिन्दू और मुसलमान जातियों के उच्च वर्गों मे एक दूसरे के प्रति चाहे जितनी असहिष्णुता क्यों न रही हो, लेकिन निम्नवर्ग और जातियों में परस्पर एक दूसरे के निकट आने की और मिल-जुलकर रहने की भावना बलवती होती जा रही थी। और युग की आवश्यकता थी कि कोई सर्वसाधारण के अनियंत्रित विक्षोभ और विद्रोह को एक सरल और सीधा मार्ग दिखा सके। कबीर ने निर्गुण प्रेम-भक्ति का मार्ग लोगों को दिखाया और उन्होंने प्रेम को ही साध्य और साधन दोनों माना—

"पोथा पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय।।"

भगवत्प्रेम के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए जहाँ एक मनुष्य दूसरे से मनुष्य की हैसियत से ही मिले, उन्होंने जातिगत, वंशगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत और शास्त्रगत विशेषताओं के फैले हुए जाल को छिन्न-भिन्न करने के लिए एक अदम्य साहस लेकर उच्च वर्ग की मान्यताओं की तीखी आलोचना की। पण्डित और शेख

इन दोनों पर उन्होंने समान रूप से व्यंग्य कसे हैं और उनकी इन झकझोर देने वाली व्यंग्योक्तियों मे ही उस युग की सारी समस्याएँ मूर्तिमान हो जाती हैं। कहीं वे पूछते हैं—'यदि नग्न घूमने से योग मिलता तो वन के सभी मृग मुक्त हो जाते—सिर का मुण्डन कराने से यदि मुक्ति मिल जाती तो सिद्धि की ओर भेड़ क्यों नहीं चली गई ?' कहीं वे वर्णाश्रम-व्यवस्था पर व्यंग्य कसते हुए पूछते हैं—'जो तू ब्राह्मण है और ब्राह्मणी से उत्पन्न हुआ है तो तू इस संसार मे किसी दूसरे रास्ते से क्यों नहीं आया। तुम किस प्रकार ब्राह्मण हो और हम किस प्रकार शूद्र हैं, हम किस प्रकार घृणित रक्त हैं और तुम किस प्रकार पवित्र दूध हो ?' छुआ-छूत के विरुद्ध तर्क करते हुए कबीर कहते हैं—'जल में छूत है, थल मे छूत है और ग्रहण के अवसर पर किरणों में भी छूत है, जन्म मे भी छूत है और फिर मरने मे छूत है। कह तो रे पंडित, कौन पवित्र है। आँखों में भी छूत है (कहीं शूद्र की दृष्टि न पड़ जाय), कानों में भी छूत है (कहीं शूद्र की बात कान में न पड़ जाय), बोली मे छूत है (कहीं शूद्र से बात न हो जाय), उठते-बैठते तुझे छूत लगती है, यहाँ तक कि भोजन में भी छूत है। इस प्रकार कर्म-बन्धन मे फँसने की विधि तो सभी कोई जानते है, मुक्त होने की विधि कोई एक ही जानता है। कबीर कहता है कि जो राम को हृदय में विचारते है उन्हें छूत नहीं लगती।'

बनारस के सन्तों का वर्णन करते हुए कबीर कहते है—'साढ़े तीन-तीन गज की धोती पहने हुए, पैरों में तिहरे तागे लपेटे हुए, गले में जय-माला डाले हुए और हाथ में लोटे लिये हुए इन कम्बख्तों को हरि के संत नहीं कहना चाहिये। ये लोग तो बनारस के ठग हैं। मुझे ऐसे संत अच्छे नहीं लगते जो टोकरे भर-भरकर पेड़े गटक जाते है। बरतन माँजकर ऊपर खाना खाते है कि कहीं किसी की छाया भोजन पर न पड़ जाय और लकड़ी धोकर जलाते है।'

राज्य की ओर से की गई न्याय-व्यवस्था के आडम्बर पर चोट करते हुए कबीर कहते है—'ए काज़ी, तुमसे ठीक तरह बोलते नहीं बनता, हम दीन बेचारे तो ईश्वर के सेवक हैं और तुम्हारे मन को राजसी बातें ही भाती है। लेकिन इतना समझ लो कि ईश्वर यानी धर्म के स्वामी ने कभी अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी।' एक और स्थान पर वे काजी को नसीहत देते हुए कहते हैं कि 'ए पागल, तू दीन से सहानुभूति नहीं रखता, इसलिए तेरा जन्म किसी काम का नहीं है।'

कबीर जनता के कवि थे, और जनता के प्रति उनके हृदय में असीम करुणा और अनुराग का भाव था। उन्हें राजा के घर जाने में आपत्ति थी। एक पद में उन्होंने कहा भी है कि 'हे राजन्, तुम्हारे घर कौन आयगा ? तुम्हारे दूध से अधिक मैंने विदुर के पानी को अमृत करके माना है। तुम्हारी खीर की तुलना में मैंने उनका

साग पाया, जिसका गुण गाते-गाते मैंने सारी रात बिता दी। कबीर का स्वामी आनन्दमय विरोध करने वाला है जिसने किसी के जाति-बन्धन को नहीं माना।'

इस प्रकार कबीर ने अपनी वाणी द्वारा अपने युग की आचार-प्रवणता और सामाजिक अन्याय और हिन्दू-मुसलमानों के वैमनस्य पर लगातार आक्रमण करते हुए जिन मानवीय आदर्शों की स्थापना की वे निश्चय ही युगानुरूप थे। यह कहकर कि 'सा ँ के सब जीव हैं, कीरी, कुँजर दोय' उन्होंने मानव-मात्र की समानता का सिद्धान्त प्रचारित किया और ईश्वर की धर्मोपासना के हित सबके लिए समान अधिकार की माँग की। इस विराट् जन-आन्दोलन के सबसे प्रमुख और कृती नेता के रूप में उन्होंने अपने मुख से जो कहा उसमें हमें उनके युग का पूरा चित्रण मिलता है और भविष्य के लिए एक जीवन्त सन्देश भी।

—जनवरी १६५२

९

छायावादी कविता में असन्तोष की भावना

भारत के नवोत्थित पूँजीवाद द्वारा प्रेरित राष्ट्रीय जागरण की प्रथम स्वाभाविक प्रतिक्रिया साहित्य में भारतेन्दु-काल से लेकर द्विवेदी-काल तक की इतिवृत्तात्मक कविता के रूप में व्यक्त हुई। कतिपय राजनीतिक और सामाजिक सुधार ही मुक्ति-भावना के चरम लक्ष्य थे। सामाजिक जीवन के संगठन में आमूल परिवर्तनों और उनके अनुकूल ही समाज-चेतना के नूतन संस्कार की आवश्यकता का अनुभव अभी तक स्पष्ट रेखाएँ नहीं बना पाया था। सारे प्रश्न सरल और सुबोध थे, अतएव उनकी अभिव्यक्ति भी अत्यन्त सरल और सुबोध थी। अपनी राष्ट्रीय अधोगति के कारणों की खोज प्राचीन संस्कृति के आदर्शों से च्युत हो जाने के तथ्य को प्रमाणित करने तक ही सीमित थी और आकांक्षित समाज का आदर्श निरूपित करने के लिए गोपालक कृष्ण की जनवादी परम्पराओं को गौरवान्वित किया गया था। 'भारत-भारती' और 'प्रियप्रवास' इस युग की राष्ट्रीय चेतना के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। सरल समस्याओं का सरल समाधान! परन्तु १९१४-१८ के महायुद्ध, भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति साम्राज्यवाद की निर्मम उपेक्षा, राष्ट्रीय असन्तोष, असहयोग आन्दोलन और दमन, मुक्तिकामी राष्ट्रीय चेतना का सामाजिक जीवन की रूढ़ियों और जर्जर परम्पराओं के कठोर बन्धन को तोड़ते हुए वैज्ञानिकता अथवा आधुनिकता की ओर स्वाभाविक प्रवाह—आदि घटना-सूत्रों ने हमारे राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं और उनके प्रति हमारे दृष्टिकोण एवं अनुभूति की सरलता को एक झटके से छिन्नतार कर दिया। हमारे कवियों के अति संवेदनशील मानस ने अनुभव किया कि ये सारी घटनाएँ और ये सारे प्रश्न एक दूसरे पर निर्भर, और एक-दूसरे से सम्बद्ध और संगुम्फित हैं—केवल आत्मनिर्भर और निरपेक्ष नहीं हैं—और यह तथ्य हमारे राष्ट्रीय जीवन में एक महान् संघर्ष का सूत्रपात करता है। इस संघर्ष में समाज और व्यक्ति, वर्ग और जाति, पुरुष और नारी सभी समानरूप से अपनी भूमिका खेलेंगे। सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में इस महान् संघर्ष की दुन्दुभी बजी है। देश के जनजीवन में एक अपूर्व हलचल व्याप्त हो गई, जाग्रति की नई भावनाओं ने भारतीय जनता के अन्तर के ओर-छोर को झकझोर दिया और जो संघर्ष जीवन के व्यापक क्षेत्रों को उद्बुद्ध और आन्दोलित कर रहा था वह अब प्रत्येक व्यक्ति को आशा और निराशा, मुक्तिकामना और अनिश्चितता, दृढ़ संकल्प और अधीरता, विश्वास और आशंका की प्रबल लहरों

पर डुबाने-उतराने लगा। इस संघर्ष ने सारे प्रश्नों को जटिल और संश्लिष्ट बना दिया। साम्राज्यवादी पराधीनता से मुक्ति पाने की आकांक्षा, पुरातन के बन्धनों से भी एक साथ ही मुक्ति पाने की लालसा में परिणत हो गई और इस चतुर्मुखी संघर्ष में सामाजिक जीवन का हर अङ्ग जाग्रति की भावना के साँचे में ढलकर नया संस्कार पाने लगा। हमारे छायावादी कवियों ने इसी संश्लिष्ट वास्तविकता का उत्कृष्ट भावगम्य चित्रण किया। निराला ने अपने बादल-गीतों में नूतन का आवाहन किया, पन्त ने निष्ठुर परिवर्तन का स्वागत ही किया। काव्य में स्वाभिमान का नया भाव फूट निकला। छायावाद का कवि हिन्दी की काव्यधारा में 'चिर-विद्रोही' और 'चिर-अधीर' के रूप में अवतरित हुआ। 'असन्तोष' और 'प्रतिवाद' के भावों से उसकी कविता ओतप्रोत है। अपनी चरम जिज्ञासा, विस्मय-भावना, अधीरता और विशद कल्पना के द्वारा छायावाद के कवि ने समूचे राष्ट्र के जीवन में नया स्पन्दन भर दिया और उसे जीवन के प्रति देखने की नई दृष्टि दी। संक्षेप में नई संस्कृति का निर्माण किया। परन्तु छायावाद का कवि अनेक ऐतिहासिक कारणों से इस परिवर्तन, आन्दोलन और संघर्ष के मूल कारणों को नहीं समझ पाया, अतः आशा और निराशा, नूतन और पुरातन के बीच जो तीव्र संघर्ष हो रहा था, उसने उसकी अनुभूति को गहरे विषाद और मर्मान्तक वेदना से रंगकर करुण बना दिया।

छायावाद की कविता के बारे में आलोचकों की भी सम्मति है कि आधुनिक जीवन की विषादपूर्ण अवस्था ने उसे करुण और वेदनामय बना दिया है। लेकिन यह विषादमय परिस्थिति क्यों उत्पन्न हुई और उसने हमारे काव्य-साहित्य पर केवल ऐसा ही प्रभाव क्यों डाला, और इस 'करुण-क्रन्दन' और 'वेदना' में 'असन्तोष-भावना' की कितनी व्यापक किन्तु क्षीण रेखाएँ अङ्कित हैं, इस तथ्य की गहराई में जाना उन्हें अरुचिकर प्रतीत होता है। वे इस असामंजस्य, इस विषमता को ज्यों का त्यों, बिना वास्तविक कारण की खोज किये 'नैसर्गिक' मानकर स्वीकार कर लेते हैं। पूँजीवादी समाज ने इन आलोचकों के संस्कारों, उनके विचार और भाव-जगत पर जो प्रभाव डाला है, उससे वे निर्लिप्त नहीं हो पाते। फलतः वे इस विचित्र परिस्थिति का मूल कारण नहीं खोज पाते। उनकी संकीर्ण सीमाएँ स्पष्ट हैं।

प्रश्न है, क्यों अधिकांश छायावादी कवियों की 'वीणा के तार' टूटे और अस्त-व्यस्त हैं? क्यों उनके हृदय में 'क्रन्दन', नेत्रों में 'तप्त अश्रु' और मानस में 'सूनापन' है? क्यों उनकी 'आशाएँ', 'अभिलाषाएँ' और 'स्वर्ण कल्पनाएँ' नष्ट हो गई हैं? सारे जगत् को आप्लावित करने वाली इन कवियों के नेत्रों की 'सावन घन' वर्षा का कारण क्या व्यक्तिगत है? क्या यह 'मेरी-तेरी' अनुभूति का प्रश्न है? आज क्यों सभी का जीवन आशङ्कित है, क्यों सभी विक्षुब्ध और विक्षिप्त हैं? इस महारुदन के

अन्दर 'असन्तोष' का 'चीत्कार' कहाँ और क्यों छिपा है ?

इन प्रश्नों की गहराई में जाने के लिए हमें नये सिरे से अपने कला-विषयक विचारों का मूल्यांकन करना होगा।

कविता का समाज से अविच्छेद्य सम्बन्ध है, क्योंकि कविता का मनुष्य के भावों से सम्बन्ध है । आदिकाल से मनुष्य प्रकृति से युद्ध करता आया है—उस पर विजय प्राप्त करने, उसके अन्तरतम प्रदेशों मे प्रविष्ट होकर उसके निगूढ़ रहस्यों का उद्घाटन कर, उसके साथ उच्चतम स्तर पर सन्तुलन स्थापित करने के लिए—क्योंकि मनुष्य प्रकृति के अन्ध प्रकोपों और बन्धनों से मुक्त होना चाहता है, क्योंकि वह स्वतन्त्रता चाहता है। लेकिन एक मनुष्य इस कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता, इसलिए वह सामूहिक जीवन व्यतीत करता है, समाज में रहता है । सामाजिक श्रम ही उसकी स्वतन्त्रता का अस्त्र है। मनुष्य की आर्थिक व्यवस्था या उत्पादन-प्रणाली ही उसकी प्रगति या उन्नति की द्योतक है । जितनी ही उन्नत आर्थिक प्रणाली होगी उतनी ही हद तक मनुष्य प्रकृति से स्वतन्त्र होगा । मनुष्य के इस सामाजिक विकास ने ही उसमें ज्ञात-चेतना उत्पन्न की। सामाजिक चेतना मनुष्य के श्रम को संगठित और संघटित करती है । समाज ने मनुष्य की जिन अन्तर्वृत्तियों को ग्रहण किया, वे स्वतन्त्र होकर समाज की ज्ञान-चेतना के चिर-परिवर्धित कोष में परिवेष्टित होती गई; अस्वीकृत पथ-भ्रान्त पथिक की भाँति भटकती फिरी। सामाजिक जीवन और सामाजिक अनुभव से जिनका सम्बन्ध रहता है वही अन्तर्वृत्तियाँ इस कोष में स्थान पाती है।

कविता कला है। मनुष्य के श्रम की तरह वह भी स्वतन्त्रता का अस्त्र है। जिस प्रकार मनुष्य वास्तविकता के बदलने में ही वाह्य-वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त कर पाता है (विज्ञान द्वारा) उसी प्रकार अन्य मनुष्यों के 'अहं' की अनुरूपता का ज्ञान भी उसे 'अहं' को बदलने के प्रयत्न द्वारा ही प्राप्त होता है। (कविता और कला द्वारा) । भौतिक जगत् के समान मनुष्य के सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन अनिवार्य है, केवल बाह्य जीवन मे ही नहीं वरन् उसके आन्तरिक जीवन या भाव-जगत् में भी। इसीलिए समाज के सामूहिक भाव समाज के विकास के साथ-साथ परिवर्तित होते जाते है। यह आवश्यक नहीं कि उनके परिवर्तन की गति समान ही हो—अतः कला की भी यह विशेषता है कि वह परिवर्तनशील और प्रगतिशील है।

प्रकृति और चतुर्दिक् वातावरण से संघर्ष करने वाले मनुष्य के भावों में उसके बाह्य जीवन की प्रतिक्रिया होती है, मन में भावों का संघर्षण होता है, आकांक्षाएँ उत्पन्न होती है, सामाजिक संघर्ष की कठोर-कटु विषमताओं को मधुर बनाने की उत्कण्ठा पैदा होती है, परिवर्तित सामाजिक जीवन से तादात्म्य स्थापित

करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। तात्पर्य यह कि बाह्य संघर्ष के साथ-साथ आन्तरिक संघर्ष या भाव-जगत् का द्वन्द्व भी चलता रहता है। और कविता, जो भावों को संगठन या उन्हें तरतीब देती है, नवीन अन्तर्प्रेरणाओं द्वारा भाव-जगत् की सीमा विस्तृत करती जाती है। वह जीवन-श्रम या संघर्ष को भावों के रस से सींचकर मधुर बनाती जाती है। कविता का यही उद्देश्य रहा है। वह सामाजिक जीवन और सामाजिक श्रम के साथ मनुष्य का 'मानवी लगाव' उत्पन्न करती है। यह कार्य कविता मनुष्य के भावों को एक नवीन श्रेष्ठतम कल्पनात्मक संसार में अवतरित करके करती है। इस कल्पनात्मक संसार की वास्तविकता अवास्तविक नहीं होती, वरन् एक उच्चकोटि की वास्तविकता होती है। कविता का जन्म ही इस श्रेष्ठतम वास्तविकता की कल्पनात्मक रूपरेखा अङ्कित करने से होता है। यद्यपि हम इस कल्पनात्मक वास्तविकता का स्पर्श नहीं कर पाते, तथापि इस 'भ्रम' के दीपक को लेकर भविष्य के तमपूर्ण गर्भ मे घुसने का साहस संचित कर लेते है। यह भ्रम, यह श्रेष्ठ जीवन की कल्पना मृग-मरीचिका के समान अप्राप्य नहीं होती, क्योंकि वर्तमान के गर्भ में उसके बीज होते है, जिन्हें सम्पूर्ण मानवता की श्रम-शक्ति भविष्य में अंकुरित करने में सफल होती है—कल्पना सत्य हो जाती है आकांक्षाएँ वास्तविकता के रूप में परिणत हो जाती है।

अतः कविता मनुष्य की स्वतन्त्रता का अस्त्र है।

आदिकाल में जब कविता का जन्म हुआ था, समाज बहुत आगे बढ़ आया था। उस समय कविता का जीवन से सीधा सम्बन्ध था। हम ऋतु-उत्सवों के गीतों में अर्ध-ऐतिहासिक समाज का सामाजिक तथा सामूहिक श्रम से जो सम्बन्ध था, उसका भावपूर्ण चित्रण पाते है। इनमे कोठियों अनाज और सुख-समृद्धि की कल्पना की जाती थी, केवल इसलिए कि फ़सल पैदा करने का श्रम मधुर बन सके, हल्का हो सके, उसमे तत्परता और उत्साह भरा हो। कविताओं के उच्चारण का सम्बन्ध कलात्मक रूप से मनुष्य के कार्य के साथ रहता था और उसके पीछे मनुष्य की सामूहिक भावनाएं निहित रहती थीं। इस प्रकार फ़सल के गीत से मधुसिंचित कार्य चलता जाता था; उत्पादन बढ़ा, और नयी आवश्यकताएँ उत्पन्न हो गईं। प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा ने नवीन कल्पनाओं को जन्म दिया। इन्द्र, वरुण, गरुड़, पवनसुत, नभ-यान (विमान) आदि की अनेक कल्पनाएँ बनीं, जो परिश्रम-कुशल अनुभवी थे उन्हें देवताओं का पद-गौरव प्राप्त हुआ। और मनुष्य नये कल्पना-चित्रो को आँखों में रमाये एक नयी उमंग से प्रकृति के नव-प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता गया।

संक्षेप में, कविता सत्य के एक नूतन कल्पनात्मक संसार की रचना करती है,

और इस कल्पनात्मक संसार के विशिष्ट गुणों के साथ हमारा भावात्मक तादात्म्य स्थापित करती है। इस कल्पनात्मक संसार से हमारा सम्बन्ध अन्तर्वृत्तियों की चेतना द्वारा होता है। इस कल्पनात्मक संसार की सृष्टि सामूहिक अनुभूति के आधार पर होती है।

निष्कर्ष निकला कि कविता का जन्म स्वतन्त्रता के साथ होता है। इतिहास के आदिकाल में, जब तक समाज परस्पर-विरोधी वर्गों मे स्पष्ट रूप से नहीं बँट जाता अर्थात् जब तक मनुष्य सामूहिक जीवन व्यतीत करता है और मनुष्य का दुश्मन न बनकर केवल प्रकृति का कोप-भाजन ही बना रहता है, कविता सम्पूर्ण मानवता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है, मनुष्य के सामूहिक भावों और श्रमों की अभिव्यंजना करती है। किन्तु इसके पश्चात् एक अति-उन्नत एवं सभ्य वर्ग के समाज में कविता समस्त समाज की आकांक्षाओं और उनके श्रमों को व्यक्त न कर केवल उच्च वर्ग की भावनाओं को व्यक्त करने लगती है। समस्त मानवता का दामन छोड़कर वह शक्ति-सम्पन्न वर्ग का वरण कर लेती है।

समाज के विकास के साथ, अर्थात् उत्पादन की प्रणाली के विकास के साथ, समाज में श्रम-विभाजन होने लगता है। समाज की उन्नति और प्रत्येक मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए यह श्रम-विभाजन अनिवार्य है। उत्पादन की वृद्धि ने वर्ग उत्पन्न किये। शासक वर्ग के ध्रुव पर मानव-समाज की सम्पूर्ण चेतना केन्द्रीभूत हो गई। कलाकार या कवि भी इसी ध्रुव पर मँडराते रहे और शासक वर्ग की तरह उन्हें भी श्रम से छुट्टी मिली। शनैः-शनैः कला या कविता सामूहिक श्रम से भिन्न, दूरस्थ होती गई। कवि अकेला, निराला व्यक्ति बन गया।

पूँजीवाद अपनी प्रारम्भिक अवस्था में एक क्रान्तिकारी समाज था। सामन्त-शाही का अन्त करके उसने मनुष्य को मनुष्य की गुलामी से स्वतन्त्र कर दिया, उत्पादन-प्रणाली में क्रान्तिकारी उन्नति की, और पूरे समाज की रूपरेखा ही बदल दी। 'बराबरी', 'भाईचारे' और 'स्वतन्त्रता' के नाम पर सामन्ती समाज का अन्त करके उसने नये समाज सम्बन्ध स्थापित किये।

अठारहवीं सदी की यूरोपीय क्रान्तियां, मुख्यकर फ्रांस की पूँजीवादी सामाजिक क्रान्ति! पूँजीपति वर्ग के सिद्धान्त-प्रतिपादक समझे कि 'स्वतन्त्र रूप से जन्म लेने वाला जो मनुष्य हर जगह बन्धन-ग्रस्त' है वह पूँजीवाद के शुभागमन से उन्मुक्त हो गया। लेकिन यह पूँजीपति वर्ग की स्वतन्त्रता थी। व्यापार-वृद्धि और साम्राज्य-विस्तार के लिए वह निश्चय ही स्वतन्त्र हो गया था। जहाँ तक आर्थिक प्रणाली का सम्बन्ध है पूँजीपति वर्ग एक क्रान्तिकारी वर्ग है। उत्पादन-यन्त्रों में निरन्तर क्रान्तिकारी उन्नति करके वह उत्पादन-प्रणाली की बुनियाद को इतना विस्तृत और

सामाजिक बना देता है कि समस्त मानव-जाति सामूहिक रूप से उत्पादन-कार्य में भाग लेने लगती है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपने साथ नये सामाजिक बन्धन नहीं लाता। इस संश्लिष्ट समाज के बन्धन और भी कठोर निरंकुश होते हैं। लाभ की प्रेरणा, उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वाधिकार, औद्योगिक प्रतियोगिता और इनसे उत्पन्न साम्राज्यवाद, फ़ासिज़्म, आर्थिक संकट, बेकारी और युद्ध करोड़ों प्राणियों के जीवन में विभ्राट् पैदा कर देते हैं, और उन्हें बाज़ार और वस्तु का ग़ुलाम बना देते हैं। पूँजीवाद के पतनोन्मुख काल की यह बीभत्स, विकराल, रक्त-पिपासु वास्तविकता श्रमजीवी-वर्ग में अपने श्रम की सामूहिकता और पूँजीवाद का नाश करके इतिहास चक्र को आगे ले जाने की अपनी क्षमता की चेतना उनमें उत्पन्न कर देती है। इन दो परस्पर विरोधी वास्तविकताओं के सामने पड़कर आज का पूँजीपति अपनी अन्तर्वृत्तियों और पूँजीवाद के निरंकुश सामाजिक नियमों का दयनीय-निरुपाय दास बन गया है। वह समाज के हितों के विरुद्ध खड़े होकर उसके बन्धनों की शृंखला को और भी जकड़कर स्वतन्त्र होने की व्यर्थ चेष्टा कर रहा है। समाज की असंगतियों का यह निरूपाय दास आज व्यक्तिवादी, आत्मापेक्षी और समाज का शत्रु बन गया है।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। भारत में पूंजीवाद एक क्रान्तिकारी के रूप में नहीं बल्कि एक सौदागर के रूप में आया। उसका चरम उद्देश्य भारतीय बाज़ारों, यहाँ के प्राकृतिक साधनों, और यहाँ के श्रम का शोषण करना था; उन पर अपना आधिपत्य जमाना था, क्रान्ति करना नहीं। निदान सामन्ती आर्थिक प्रणाली बदलकर पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली हो गई, लेकिन सामन्त सामन्त रहे, समाज-सम्बन्ध, धर्म, संस्कृति, सभ्यता और मतमतान्तरों के जर्जरित रूपों को उँगली तक न छुआई गई। इस कूड़ा-करकट के नीचे दबकर भारतीय सभ्यता-संस्कृति की जीवन-प्रदायिनी निधियाँ भी निर्जीव हो चलीं। लेकिन साम्राज्यवाद के रूप में पूँजीवाद के आगमन से हमारी जीवन-समस्याएँ आधुनिक और अन्तर्राष्ट्रीय होती गईं। इसलिए प्राचीन कूप-मण्डूकता और दकियानूसी रुढ़िवादिता के विरुद्ध स्वयमेव सुधार-आन्दोलन उठ खड़े हुए; किन्तु उनमें तीव्र साम्राज्य-विरोधी भावना का अभाव था, क्योंकि हमारी सारी जहालत, बर्बरता क़ायम रखकर साम्राज्यशाही ने हम पर अपनी निष्पक्षता और उदारता की छाप लगा दी थी, यद्यपि इस प्रकार वह हमारे सारे जीवन-स्रोतों को बन्द करती जा रही थी। तो भी साम्राज्यवाद भारत में एक भारतीय पूंजीवादी वर्ग के जन्म को न रोक सका। यह पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद का प्रतिवादी है। अतः एक सीमा तक क्रान्तिकारी है।

भारत में आधुनिक कविता का विकास भी इसके अनुरूप ही हुआ। रोमैण्टिक कविता की उद्भावना जिसे हम 'छायावाद' की कविता कहते हैं, केवल पूँजीवाद के काल में ही हो सकती थी। छायावादी कवि भी अधोगति-प्राप्त सामन्ती समाज की शृंखलाओं और अनैसर्गिक बन्धनों, उसकी संकीर्ण सौन्दर्य-भावनाओं, कुत्सित सौन्दर्य मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह करता है। वह एक ऐसे क्रान्तिकारी के रूप में अवतरित होता है जो नवोत्थित वर्ग के भावों को विगत जीवन की वास्तविकता के विरुद्ध संगठित कर भावों की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सचेत प्रेरणा प्रदान करता है, और नवजीवन की वास्तविकताओं से भाव-जगत् का तादात्म्य स्थापित कराने के लिए मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों और उसके 'अहं' में परिवर्तन करता है। भारत में पूँजीवाद का अनैसर्गिक विकास होने पर भी छायावादी कवियों ने रीतिकाल की मृत परिपाटी के विरुद्ध जो संघर्ष किया है, वह इस कथन का स्पष्ट प्रमाण है। 'भक्ति-काल' के कवियों के सीमित दायरे का वर्णन करने के बाद रीतिकाल की सामन्ती कविता की 'संकीर्णता' और 'स्थविरता' की विशद व्याख्या करते हुए कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में लिखा है कि 'इस तीन फुट के नख-शिख के संसार के बाहर यह कवि-पुंगव नहीं जा सके।' केवल इतना ही नहीं, पन्त परिवर्तित समाज की वास्तविकता और उसके अनुरूप ही भावाभिव्यञ्जन की शैली की आवश्यकता के प्रति भी सचेत थे। रीतिकाल के कवियों के भाव-जगत् की संकीर्णता पर ही उन्होंने घातक प्रहार नहीं किये, वरन् उनकी शैली और छन्दों पर भी, जो नवीन, अत्यधिक विकसित वास्तविकता की भावात्मक कल्पना को अपनी लघु सीमा में चित्रित करने में असमर्थ थे। पन्त ने लिखा कि, 'ब्रज-भाषा की उपत्यका' का वक्षस्थल इतना विशाल नहीं कि उस में सब-कुछ सजाया जा सके।' इसलिए 'हम ब्रज की जीर्ण-शीर्ण छिद्रों से भरी पुरानी छींट की चोली नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारा में बन्द हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है। यह नक़ाब पहना हुआ हास्यास्पद चेहरों का नाच हमारी सभ्यता के प्रतिकूल है।'

यह 'सभ्यता' जिसको छायावाद का कवि अभिषिक्त करना चाहता है, कोई प्राचीन सभ्यता नहीं, बल्कि आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता है। उसकी वास्तविकता ने कवि का दृष्टिकोण इतना व्यापक बनाया कि वह पुरानी 'संकीर्ण कारा' का परित्याग कर स्वतन्त्र होने की आवश्यकता का अनुभव करने लगा। इस प्रकार छायावादी कवि एक प्रकार का क्रान्तिकारी था, क्योंकि उसकी वाणी, उसके भाव-चित्रों में सामन्ती प्राचीन के प्रति गहरा प्रतिवाद था।

अतः हिन्दी की आधुनिक छायावाद की कविता का जन्म भी स्वतन्त्रता की भावना को लेकर हुआ। रीतिकाल की कविता की संकीर्णता, स्थविरता नष्ट करके

छायावाद ने अपने प्रारम्भिक काल में व्यापक दृष्टिकोण और प्रगतिशील भावनाओं की अभिव्यजना की, सामन्ती युग की समाज-शृङ्खलाओं और रूढ़ियों की दासता के विरूद्ध संघर्ष करके, जिसके कारण मनुष्य के व्यक्तिगत विकास के समस्त द्वार बन्द हो चुके थे, उसने 'व्यक्ति' की श्रेष्ठता प्रतिपादित की।

२

हिन्दी की छायावादी कविता अत्यन्त संश्लिष्ट है। भारतीय पूंजीवाद के समान ही इसका विकास भी अनैसर्गिक रूप से हुआ है, अतः इसकी दुर्बलताएँ भी अनेक है। अंग्रेजों, अंग्रेज़ी सभ्यता और साहित्य के सम्पर्क मे आने से हमारे साहित्य और विशेष-कर काव्य-साहित्य पर उसका असर पड़ा। इंगलैण्ड के उन्नतिशील रोमैण्टिक कवियों—वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन—की 'रोमैण्टिक' शैली ने हमारे काव्य-साहित्य को एक नवीन काव्य-शैली तो अवश्य प्रदान की, लेकिन उसमें इंगलैण्ड के 'रोमैण्टिक' कवियों की संजीवनी शक्ति, आशावादिता और प्रगतिशालता न आ पाई। उनकी व्यापक अनुभूति, विशाल हृदयता, प्रकृति और वातावरण पर विजय प्राप्त करने की अक्षय जीवट और जीवन को एक उच्च मानवीय आदर्श पर क़ायम करने की कल्पना का छायावादी कविता मे एक दुर्बल स्वरूप ही निखर पाया। इसके अतिरिक्त आधुनिक अंग्रेज़ी कविता से भी छायावादी कविता की अनुभूति और भाववस्तु को प्रेरणा मिली है और उसकी समाज-विरोधी भावनाओं की प्रतिच्छाया छायावादी कविता पर पड़ी है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि छायावाद की कविता में गहरे प्रतिवाद और असन्तोष की भावना का अभाव है। भारतीय पूंजीवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समक्ष प्रतिवादी है, उसका प्रतिद्वन्दी है। यद्यपि विश्व का पूँजीवाद पतनोन्मुख है; भारतीय पूँजीवाद अपने शैशव-काल में है और विकासोन्मुख है। साम्राज्यवादी शृङ्खलाओं ने उसका स्वतन्त्र विकास रोक रखा है। इन प्रतिबन्धों से उन्मुक्ति चाहने वाला भारतीय पूँजीवाद साम्राज्यवाद से सघर्ष कर रहा है। इन असङ्गतियों ने छायावादी कविता पर भी प्रभाव डाला है। उसमें परस्पर विरोधी मनोवृत्तियाँ प्रत्यक्ष हो चुकी है। तो भी किसी न किसी रूप मे आधुनिक समाज के प्रति असन्तोष की भावना उसमें सर्वत्र पाई जाती है।

रीतिकालीन बन्धनो से उन्मुक्त कविता ने जीवन को उच्चतम आदर्श पर प्रतिष्ठित करने के लिए एक नये संसार की कल्पना का अनुभव किया—

"चाहता है यह पागल प्यार,
अनोखा एक नया ससार।"

—महादेवी वर्मा

किन्तु इस नये संसार की कल्पना आधुनिक समाज की विषमताओं को दूर करने और नये समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले के रूप में नहीं की गई। बल्कि उसकी रूपरेखा की कल्पना में इन विषमताओं द्वारा किये गये घावों पर मरहम का काम करने वाले आत्मतुष्टि के भावों और रागों की सर्वमान्यता है। अर्थात् यह कामना की गई कि इस नये संसार मे 'सपने प्रहरी' हों, वहाँ 'जलने में विश्राम' और 'मिटने में निर्वाण' हो, वहाँ 'अरमानों' के बदले 'मूक व्यथा से भरा पागलपन' हो और 'दृग आँसू का व्यापार' करते हों। तो भी अपने 'पागल प्यार' के लिए 'अनोखा एक नया संसार' की आवश्यकता का अनुभव करना ही इस बात का द्योतक है कि महादेवी जी वर्तमान संसार से असन्तुष्ट हैं। लेकिन उनकी चेतनाहीन अनुभूति वास्तव में एक ऐसे संसार की कल्पना न कर सका, जिसमें आधुनिक विषमताएँ नष्ट हो चुकी हों। इन विषमताओं के प्रति सहनशीलता उत्पन्न करके श्रेष्ठ जीवन का विकास तो नहीं किया जा सकता ?

अपनी उन्मुक्ति से आशान्वित होकर छायावादी कवि ने 'वसन्त की प्रतीक्षा' की, सोचा कदाचित् ये विषमताएँ दूर हो जायँगी और फिर 'मल्लिकाकुंज' खिल उठेगा, वसन्त-श्री चारों ओर छा जायगी। लेकिन आधुनिक जीवन की परिस्थितियों ने उसकी 'आशालता' को 'पल्लवित' नहीं होने दिया, 'दृग-जल' से सींचकर भी वह 'वसन्त' को न बुला सका। उसकी आशावादिता प्रश्नवाचक रूप में परिणत हो गई—

"शून्य हृदय में प्रेम जलद माला, कब घिर आयेगी ?
वर्षा इन आँखों में होगी, कब हरियाली छायेगी ?"

—प्रसाद

यदि कभी छायावादी कवि आकांक्षाओं से उत्प्रेरित हो अपनी कल्पना के 'सोने के संसार' को जीवन में प्राप्त करने की कोशिश भी करता है—ऐसे सोने के संसार को जिसमें 'धरा का अनन्त शृङ्गार' है, जहाँ की 'अनन्त झंकार' में 'असीम का प्यार' भरा है, जहाँ सभी में 'स्वर्गीय विकास' है—तो उसे ज्ञात होता है कि—

"घोर तम छाया चारों ओर
... ...
वेग मारुत का है प्रतिकूल"

और जब कवि के हाथ से 'पतवार' छूट गई, उसकी आशा का केन्द्र 'नक्षत्र-प्रकाश' भी बुझ गया, तो निस्सहाय हो उसने अनुरोध-भरा आर्त्तनाद किया—"कौन पहुँचा देगा उस पार?" छायावाद का कवि अपने समाज की विडम्बनाओं से बिना अपनी वर्ग-भावनाएँ और वर्ग-सहानुभूतियाँ छोड़े, बचकर कहाँ जाय ? अकेला पड़कर एक ही निश्चय पर पहुँच सकता है कि 'डूबना' निश्चित जानकर वह 'विसर्जन' को

ही अपना 'कर्णधार' मान ले ! अर्थात् अन्ध शक्तियों के प्रकोपों के समक्ष आत्मसमर्पण करदे !

तो भी वह इस विषम जीवन को स्वीकार नहीं कर पाता और न अपनी सन्तोष-भावना मे वृद्धि कर वह अपने अन्तर के असन्तोष को शान्त कर पाता है। अतः यदि वह सचेत सामाजिक चेष्टा की आवश्यकताओं की चेतना से अनभिज्ञ रह कर एक नया 'सोने का संसार' नहीं प्राप्त कर पाता तो वह स्वयं अपना आत्मिक (आध्यात्मिक) विकास करने मे संलग्न हो जाता है। पूंजीवाद के सामाजिक सम्बन्धों की क्रूर निरंकुशता, कवि और कला के प्रति उसकी उदासीनता, कवि को उसके विरुद्ध अपने प्रतिवाद की घोषणा करने और अपने कवित्व का विकास करने के लिए मजबूर कर देती है। व्यक्तित्व के मार्ग मे जो बाधाएँ उपस्थित होती है, कवि उनके विरुद्ध असन्तोष और प्रतिवाद की ध्वनि उद्घोषित करता है। उसे ज्ञात होता है कि जीवन का बाह्य रूप उसके हृदय की अन्तरतम शक्तियों तक को शृङ्खला-बद्ध किये हुए है, अतः वास्तविक विषमताओं की अभिव्यक्ति करता हुआ वह अपनी आत्मशक्ति के बाह्य-प्रचलन द्वारा इस शृङ्खला को तोड़कर उन्मुक्त होना चाहता है। पन्त की निम्न पंक्तियाँ कि—

"कभी तो अब तक पावन प्रेम
नही कहलाया पापाचार
हुई मुझ को ही मदिरा आज
हाय, गङ्गाजल की धार !!"

या 'वासना' में 'बच्चन' की यह आत्म-वेदना कि—

"प्राण प्राणों से सकें मिल
किस तरह दीवार है तन,
... ...
अल्पतम इच्छाएँ यहाँ
मेरी बनी बन्दी पड़ी है
विश्व क्रीड़ा-स्थल नही, रे
विश्व कारागार मेरा !"

या 'पथभ्रष्ट' और 'कवि की निराशा' आदि कविताएँ व्यक्ति के इसी विद्रोह की अभिव्यक्ति करती है। किन्तु उनके परोक्ष में व्यक्तिवाद का एक और दूसरा रूप भी विद्यमान है—उसका समाज-विरोधी रूप। चूंकि 'विश्व' उनका कोई 'अरमान' पूरा नहीं कर पाता इसलिए यदि 'बच्चन' जी के पाँव 'कुपथ' पर है, तो वे इसकी चिन्ता क्यों करें और किसी को उनसे शिकायत भी क्यों हो ?

'रक्त' से 'सींची गई' 'मन्दिर और मस्जिद' की राह को छोड़कर छायावादी कवि उस 'मधु सिञ्चित डगर' में पाँव रखना चाहता है जहाँ 'बुलबुल' 'सन्देश' सुनाती है। लेकिन समाज की सभी राहें रक्त से सींची गई हैं, हर तरफ़ 'वेद लोकाचार प्रहरी' व्यक्ति की 'हर चाल' का निरीक्षण कर रहे हैं। अतः वह अपने व्यक्तित्व का विकास कहाँ करे, किस प्रदेश में, किस परिस्थिति में? समाज में रहकर यह सम्भव नहीं और समाज से बाहर मानव-जीवन नहीं। अतः भौतिक जीवन का परित्याग करो, स्वप्नों के संसार में भावों को मूर्त्तिमान् बनाने की कोशिश करो, इसी अव्यक्त प्राप्ति में जीवन की सन्तुष्टि है, सार्थकता है! ज्ञात और अज्ञात रूप से इसी तर्क की धारा में बहकर व्यक्तिवादी कवि स्वप्नों के सुनहरे संसार में अनायास पहुँच जाता है। उसे आशा होती है कि यदि भौतिक जगत् में अरमान पूरे नहीं हुए, सारे प्रयत्नों के फलस्वरूप चिर-अतृप्ति, असन्तुष्टि और आत्मवेदना ही मिली तो स्वप्न-जगत में तो ये कामनाएँ-आकाक्षाएँ फलीभूत होंगी! क्या उससे आवश्यक आत्म-विकास न होगा? इसलिए यदि,

> "तुम्हें बाँध पाती सपने में!
> तो चिर प्यास बुझा लेती उस छोटे क्षण अपने में!"

जीवन में अप्राप्य प्रियतम को 'सपने' में प्राप्त कर व्यक्तित्व का इतना सर्वाङ्गपूर्ण विकास हो जाता कि वे 'पावस घन' की तरह 'उमड़' कर अपने 'लघु आँसू कण' से 'जग का विषाद' धो लेतीं, अपने 'जर्जर जीवन' में 'संसृति का क्रन्दन' भर लेतीं और अपने 'प्राणों के स्पन्दन' में न जाने कितने 'स्वर्ग' रचतीं! किन्तु 'प्रियतम' को अब 'स्वप्नों में बाँधना' भी सम्भव नहीं!

इस अन्तर्विकास की सुन्दर कल्पना, कामना या प्राप्ति से जीवन की वास्तविक समस्याएँ हल नहीं हो पातीं, सामाजिक बन्धन उतने ही कठोर और निर्दय बने रहते हैं, कल्पित सन्तोष की आह खींचने का प्रयास जीवन का विषाद कम नहीं कर देता। इसलिए 'आशा' का भी दामन छोड़ो, केवल 'अपने मिटने का अधिकार सुरक्षित' रखो, क्योंकि जलने में ही 'जीवन की निधि' निहित है! इस प्रकार विद्रोही कवि अपने विद्रोह का अस्त्र फेंककर आत्म समर्पण कर देता है, उसके हृदय में केवल आत्म-पराजय, आत्म-विसर्जन का भाव ही शेष रह गया है; प्रेम में न अब स्पर्श-लालसा है, न प्रेम की शृङ्खलाबद्ध प्रतिमा को उन्मुक्त करने का उत्साह है। अतः दुरवस्था को सु-अवस्था का भ्रम बनाकर गौरवान्वित करने की चेष्टा, 'पीड़ा के साम्राज्य' की प्राप्ति पर हर्षोन्माद!

छायावाद का कवि अपने भावों पर चारों ओर बन्धन-ही-बन्धन देखता है। उसके मध्यम-वर्गी सुख-स्वप्न टूट चुके हैं। वह सामाजिक जीवन की चेतना को

विकराल और भयानक पाता है। उसकी चेतना आज उसे ही काट रही है। पूंजीवाद की तरह उसकी चेतना भी आज मानवता का प्रतिनिधित्व नहीं करती। निदान इतना रुदन-क्रन्दन, इतनी निराशावादिता। वह चतुर्दिक 'विषाद' देखता है, जो 'प्रकृति' के 'करुण काव्य' की तरह मनुष्य की 'नश्वर काया' में 'अचल' पड़ा है। वह प्रश्न करता है—

"शिथिल पडी प्रत्यंचा किसकी
धनुष भग्न सब छिन्न जाल है ?"

इसके उत्तर मे वह स्वयं ही उत्तर देता है :—

"किसी हृदय का यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुख का कण है;
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का विश्रान्त चरण है।"

कवि प्रसाद की मानव-सहानुभूति से ओत-प्रोत इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि मे मनुष्य का जीवन विषादमय है, क्योंकि वह परतन्त्र है। लेकिन उसकी परतन्त्रता ही आज उसका सुखद गुण बन गई है, उसे नष्ट करने की जरूरत नहीं।

इस प्रकार छायावादी कविता और जीवन का व्यवधान बढ़ता ही जाता है और छायावादी कवि एकान्त-प्रिय हो उठता है। चूंकि समाज मे रहकर उसके भाव स्वच्छन्द नहीं हो पाते इसलिए वह शून्य, निर्जन, नीरव जगत् में जाकर शरण लेता है। उसके लिए स्वतन्त्रता का एक मात्र आश्रय एकान्त या सूनापन बन जाता है। महादेवी जी कहती है—

"यहाँ मत आओ मत्त समीर
सो रहा है मेरा एकान्त !'

वे नहीं चाहतीं कि 'यौवन पर भूल' कर 'लालसा की मदिरा मे चूर' उपवन के 'विलासी फूल' उस एकान्त मे स्फुटित हों ! वे अपने एकान्त को 'लीलाभूमि' नहीं बनाना चाहतीं क्योंकि उनका एकान्त एक 'तपोवन' है। वे नहीं चाहतीं कि 'कलकल मोहक मादक गान' द्वारा 'निर्भर' उनके एकान्त की 'समाधि' भंग करे क्योंकि उनका एकान्त 'विरागी' है। उन्हें 'सजीले सपनों' की मुस्कान भी प्रिय नहीं है क्योंकि उन्हें भय है कि कदाचित् इससे उनके 'आशा दीपक' फिर जल उठे, और उनका 'एकान्त' खो जाय।

किन्तु अपने 'एकान्त' के तमपूर्ण गह्वर में प्रवेश करके भी क्या महादेवी जी वास्तविक जगत के भावों से पीछा छुड़ा पाता है ? भावों की उत्पत्ति और उनका विकास मनुष्य के एकान्त जीवन में नहीं होता, वे सामाजिक जीवन-द्वारा ही प्रसूत

होते हैं। अतः एकान्त में भी कवि के साथ उसके सामाजिक भाव जाते हैं। स्वानुभूतानुरागी कवि भी अपने भाव-जगत् की सृष्टि सामाजिक चित्रों द्वारा ही करता है। 'तपोवन', 'समाधि', 'साधना', 'विरागी' आदि यद्यपि आधुनिक वास्तविकता के नहीं, पर प्राचीन मनुष्य के व्यावहारिक जीवन के भाव-चित्र हैं। अतएव जब आधुनिक कवि आधुनिक वास्तविकता का तिरस्कार कर प्राचीन वास्तविकता और प्राचीन जीवन के सौन्दर्य मूल्यों की सुखद कल्पना करता है तो केवल इसलिए कि आधुनिक जीवन की वास्तविकता अत्यन्त असन्तोषप्रद है। कठोर और निरंकुश आधुनिक जीवन को बदलने में असमर्थ छायावादी कवि अन्तर्वृत्तियों के दास की तरह जीवन की वास्तविकता से भागकर कल्पित 'एकान्त' या 'मृत प्राचीन' में जाकर शरण लेता है।

छायावादी कवि इस सत्य को स्वीकार भी करता है। बच्चन जी ने इस प्रश्न का प्रश्न के ही रूप मे उत्तर देकर अपनी स्थिति स्पष्ट की है।

"क्या मै जीवन से भागा था ?
स्वर्ण शृङ्खला प्रेम पाश की
मेरी अभिलाषा न पा सकी
क्या उससे लिपटा रहता, जो कच्चे रेशम का तागा था ?"

चूँकि आधुनिक पूँजीवादी समाज को बदलकर, जिसने उनकी अभिलाषाओं को चूर-चूर कर दिया है, एक नये साम्यवादी समाज की स्थापना करने का मार्ग बच्चन को सूझा ही नहीं, अतः वे जीवन से भागे न तो क्या करें ? इसलिए बच्चन जी का यह सोचना अस्वाभाविक नहीं कि उनके 'हृदय का स्वप्न चकनाचूर' करने वाली 'क्रूर' 'दुनिया' आज उनसे 'दूर' हो गई है। उन्हें यह देखकर कष्ट होता है कि—

"वह समझ मुझको न पाती
और मेरा दिल जलाती
है चिता की राख कर में माँगती सिन्दूर दुनिया !"

जिसने 'जीवन-समर' मे खड़े होकर प्रारम्भ में अपने गीत लिखे थे, उस कवि की यह मनोव्यथा कारुणिक है। पूंजीवाद-साम्राज्यवाद की तो यह व्यावहारिक नीति है कि वह प्रत्येक मनुष्य के हाथ मे 'चिता की राख' देकर 'सिन्दूर' की माँग करता है अतः किसी भी भावुक आत्मा को इस वास्तविकता की चेतना से क्लेश तो होगा ही। लेकिन सामूहिक जीवन पर आधारित शोषित मानवता भी तो ऐसे कवियों को नहीं समझ सकती जो 'जीवन-समर' से पराङ्मुख हो 'दुनिया' का ही परित्याग कर चुका हो। शोषित मानवता जीवन से भागकर अपनी रक्षा नहीं करती, वरन् शोषण के विरुद्ध संगठन और संघर्ष करती है। अतः वह इस कवि को कैसे समझ पाये ? कवि उसकी भावनाओं और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कब करता है ? फिर इसमें आश्चर्य की

क्या बात है कि जब छायावादी कवि अपने 'जीवन' को अंकित कर, उसे 'मानवता' का 'विस्तृत हृदय' और उसका 'स्वच्छ मुकुर' समझकर 'राजमार्ग पर' 'फेंक' देता है, तो उसकी आशाओं के विपरीत 'मानव' उसमें अपनी 'मानवता' को 'बिम्बित' देखकर लज्जित होते हैं ? 'मानव' अपने सामूहिक संघर्षमय अनुभव के विपरीत जीवन से भागने वाली पराजित 'मानवता' को अपनी मानवता के रूप में ग्रहण करने में लज्जा-संकोच क्यों न करे ? अपनी कविता के प्रति पूँजीपति वर्ग की कला-विरोधी उदासीनता और शोषित वर्ग की सिद्धान्तगत उपेक्षा को देखकर स्वाभिमानी कवि को आत्म-वेदना होती है ।

इतना ही नहीं । वह जीवन से भागकर जीवन की विषमताओं से सन्तुष्ट होने और तज्जनित करुणावस्था को गौरवान्वित करने की कोशिश करता है ! यह जानकर भी कि समाज का एक वर्ग 'रंगरेलियाँ' करता रहता है, उसका जीवन 'उल्लास', 'हर्ष' और प्रेम से परिपूर्ण है. छायावादी कवि उस जीवन की आकांक्षा नहीं करता, वह उसे असार और क्षणिक समझने लगा है । अतएव बच्चन जी उस पथ से हट जाना चाहते हैं, जिस पर ऐसे 'युवक और युवती' 'मदमाते' 'उत्सव मनाने' आते हैं, जिनके 'नयन में स्वप्न, वचन में हर्ष. हृदय में अभिलाषाएं' भरी हैं । वे नहीं चाहते कि उनकी इन 'मधुमय घड़ियों' में वे कोई 'अमंगल शब्द निकालें' या 'अमंगल अश्रु बहावें' । लेकिन सुखमय जीवन की अस्थिरता और क्षण-भंगुरता के व्यक्तिगत कटु अनुभव से इतना जरूर सोचते हैं कि यदि 'उनका सुख-सपना टूटे' और उन्हीं की तरह यदि 'काल उन्हें भी लूटे' तो उनकी 'करुण कथाएँ' इन नये दुखियों को 'धैर्य बँधायें ।'

जीवन से भागकर अपने निराले एकान्त में बैठा-बैठा छायावादी कवि यह कल्पना करता है कि समाज ने जिन्हें अस्वीकृत कर दिया है, उसकी वे अन्तर्प्रेरणाएँ और भावनाएँ ही वास्तव में समस्त जीवन, सुख, समृद्धि का स्रोत हैं । और वह चरम 'अहंवादी' हो जाता है । वह अनुमान करता है कि समाज, प्रकृति और विश्व का समस्त जीवन उसके 'अहं' द्वारा ही निःसृत हुआ है । महादेवी जी का कथन है—

"जग पतझर का नीरव रसाल
पहने हिम जल की अश्रु माल
मैं पिक बन गाती डाल-डाल
सुन फूट-फूट उठते पल-पल
सुख-दुख मंजरियों के अंकुर"

बच्चन जी का कथन है—

"लें तृषित जग ओंठ तेरे
लोचनों का नीर मेरे !
मिल न पाया प्यार जिनको आज उनको प्यार मेरा !"

यद्यपि महादेवी जी अपने 'एकान्त' में 'निर्झर' को 'कलकल मधुमय मादक गान' करने से रोकती हैं और बच्चन जी को 'प्रेम-पाश की' 'स्वर्ण शृङ्खला' प्राप्त नहीं हो सकी, तो भी जीवन से बाहर जाकर एकान्त में 'संगीत और प्रेम' से उनका 'अहं'-कोष इतना परिपूर्ण हो गया है कि वे 'नीरव', 'तृषित' संसार के लिए उसके अक्षय भण्डार उदारतापूर्वक खोल देते हैं ! यह कहना अनुचित न होगा कि अपने आप को सन्तोष देने के लिए 'अहं' के सागर में ऐसी डुबकियाँ लगाने का ख़याल बुरा नहीं है।

तो भी प्रश्न उठता है कि क्रूर सामाजिक जीवन के प्रति असन्तोष की अभिव्यक्ति करके भी छायावादी कवि निराशावादी और अहंवादी क्यों है ?

कला-विरोधी पूंजीवाद ने कला को अन्य उत्पादित वस्तुओं की तरह बाज़ार में क्रय-विक्रय की वस्तु बना दिया है। अतः कला की सृष्टि समाज के लिए नहीं, बल्कि बाज़ार के लिए की जाती है। इस अराजक बाज़ार में प्रत्येक कलाकार अपने व्यक्तिगत लाभ के ही लिए कला की वस्तुओं का उत्पादन करता है। विवश होकर कवि इस बाज़ार को ही अपना पाठक, अपना श्रोता, दर्शक या जनता मान लेता है। लेकिन उसकी यह मध्यमवर्गी 'जनता' भावशून्य, अस्थिर-चित्त और उत्साह-हीन होती है। पूंजीवादी शोषण और बाज़ार की अराजकता की शिकार होकर भी इस मध्य-वर्गी जनता की आशाओं, अभिलाषाओं का केन्द्र पूंजीपति वर्ग ही होता है, उसका प्रतिष्ठित सदस्य बनने की आकांक्षा से वह आकुल रहती है। अतः उसकी मनोवृत्ति अत्यन्त संकुचित, भावनाएँ छिछली और कला-पारखी रुचि अत्यन्त विकृत होती है। छिछली, निकृष्ट कला ही इस जनता को अधिक सन्तोष प्रदान करती है, क्योंकि अपनी पराधीनता को स्वीकार कर वह अपने जीवन को उसी के अनुकूल ढालने की कोशिश करती है।

यह भ्रामक जनता, जिसे छायावादी कवि 'मानवता' मान बैठे हैं, वास्तव में कामायनी, पल्लव, गुंजन, नीहार, सान्ध्यगीत, परिमल, गीतिका या अनामिका की उत्कृष्ट कला का रस नहीं परख पाती, क्योंकि साम्राज्यवाद ने भावों का इतना गहरा शोषण कर रखा है कि मध्यमवर्गी जनता की सौन्दर्य भावनाएँ इतनी परिष्कृत नहीं हो पातीं कि कला के परिमार्जित रूप की माधुरी का रसास्वादन कर सकें। इसलिए यदि छायावादी कवि को इस बात का खेद है कि दुनिया उसे समझ नहीं पाती तो यह स्वाभाविक

ही है। और इसके फलस्वरूप उसमें समाज-विरोधी दृष्टिकोण का जन्म लेना भी स्वाभाविक है।

आधुनिक कवि के इस खेद ने और तदनन्तर उसके समाज-विरोधी रूप ने ही 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त को जन्म दिया है। यदि यह (भ्रामक) जनता उच्चकोटि की कला का रसास्वादन करने मे असमर्थ है तो रुचि देखकर कला को निकृष्ट नहीं बनाया जा सकता। यदि समाज उसे नहीं अपना पाता तो यह समाज की कमजोरी है, उसकी सांस्कृतिक हीनता की द्योतक है, लेकिन कला की चीज तो अपने में उत्कृष्ट एवं प्रशंसनीय हो सकती है। हरेक व्यक्ति कवि के समान भावुक, और सौन्दर्य-पारखी तो नहीं होता, इने-गिने ही कला की क़द्र जानते है, अतः कला उन्हीं के लिए है। एक प्रतिभावान कवि के मस्तिष्क मे इस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है और वह कला को कला के लिए ही मानकर उसकी आराधना करने लगता है।

छायावादी कवि नहीं चाहता कि कोई 'अनधिकारी कल्पनाशून्य व्यक्ति' उसके कविता-कानन में प्रवेश कर उसके सौन्दर्य की बेक़द्री करे। किन्तु उसकी संकीर्ण रुचि वाली जनता आज भी वही है। इससे दुखित हो वह अपने चारों ओर 'अहं' की दीवारें खड़ी कर कला के लिए कला के बन्द स्तूप मे अपने-आपको बन्द कर लेता है। समाज से 'दूर, सुदूर, निभृत, निर्जन' मे ले जाकर वह अपनी 'कविता-कामिनी' से अभिसार करता है, उसके रूप को सँवारता है, उसे रिझाता है, अश्रु-हार पहनाता है, अपने हृदय के सङ्गीत से मुग्ध करता है, और इस प्रकार अपने हृदय की अतृप्त तृष्णा को शान्त करने की चेष्टा करता है। वह नहीं चाहता कि निर्दय समाज उसकी इस 'एकान्त साधना' में दखल दे या उसकी तन्मय एकाग्र अनुराग-रति को भंग करे। इस एकान्त-साधना मे निरत छायावादी कवि 'कविता कामिनी' के रूप की विभिन्न प्रकार की रंग-बिरंगी साड़ियों, ऊँची एड़ी के जूतों, जैकेट, ब्लाउज, पाउडर, क्रीम, सेण्ट, स्नो आदि से सँवारने की कोशिश करता है। आज उसके अथक प्रयत्नों से इस कामिनी ने 'नख-शिख' का शृंगार छोड़ दिया। अंगिया, लहँगा, दुपट्टा, चोली आदि का तिरस्कार कर वह अब आधुनिक वेष-भूषा में बाहर निकलने योग्य हो गई है। तात्पर्य यह कि छायावादी कवि ने समाज से हटकर भी हिन्दी की काव्य-शैली में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया है।

छायावादी कवि प्रारम्भ में एक क्रान्तिकारी के रूप में अवतरित हुआ। उसने कविता को सामन्ती बन्धनों से मुक्त कर दिया; किन्तु पूंजीजीवी मनोवृत्ति होने के कारण वह नवीन समाज (पूंजीवादी समाज) के संश्लिष्ट बन्धनों की कल्पना न कर पाया। उनमें स्वयं को भी जकड़ा पाकर वह समस्त बन्धनों और समाज-सम्बन्धों के प्रति विद्रोही बन गया। जिस अनियमित स्वतन्त्रता की उसने

कल्पना की थी वह उसे प्राप्त न हो सकी। इस भ्रम का पर्दा हटते ही जीवन उसे और भी विकराल और कठोर लगा। वह इस आघात को सहन न कर पाया, क्योंकि पूँजीवाद ने उसे न केवल अपनी व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का उत्तराधिकारी बनाया, वरन् अपनी ही तरह सामूहिक जीवन और सामाजिक श्रम से अलग करके भाग्य की अन्ध-शक्तियों का दास भी बना दिया। उसके जीवन का विषमता-जनित विद्रोह और असन्तोष पूँजीपति वर्ग की लघु-परिधि के अन्तर्गत ही सीमित रहा। फलतः समाज का तिरस्कार करके वह चरम अहंवादिता की ओर झुका। लेकिन इस प्रयत्न में उसने जो भाव व्यक्त किये है, वे न केवल आधुनिक जीवन की असंगतिपूर्ण वास्तविकता का व्यञ्जना करते है, वरन् उसकी विषमता के प्रति अपना तीव्र असन्तोष भी प्रकट करते हे। उदाहरण के लिए छायावादी कवि के अन्दर सौन्दर्य-भावना उत्पन्न करने वाली वास्तविकता के उस अंश को ले लीजिए जिसके प्रति उसकी आसक्ति है। विषाद, अश्रुकण, वेदना, निश्वास, निर्जन, टूटी वीणा के अस्तव्यस्त तार, रजनी, पीड़ा, क्रन्दन, अतृप्त अभिलाषाएँ, उपवन, नीरव संसार, मूक व्यथा, विश्राम, स्वप्न, एकान्त, साधना, शून्य आदि के प्रति छायावादी कवि के हृदय में कोमल स्थान हैं, क्योंकि ये सब वस्तुएँ या मनोदशाएँ उसके हृदय मे सौन्दर्य की सृष्टि करती हैं। अतः क्रियाशील जीवन के अभाव की द्योतक वस्तुएँ यदि उसके सौन्दर्य-मूल्यों की आधार बन गई है, तो इसका केवल एक ही अर्थ है कि छायावादी कवि को जीवन के अभाव की चेतना प्राप्त हो गई है, यद्यपि उसकी अन्तर्प्रेरणाएँ जीवन की दूसरी व्यापक वास्तविकता के प्रति अचेतन हैं, इसलिए इस अभाव को ही वह मानव या मानव-जीवन की श्रेष्ठतर वास्तविकता समझने लगा है। लेकिन अभाव की चेतना पाकर कोई भी उससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता, चाहे अपनी दुर्बलताओं के कारण उसके प्रति कृत्रिम सन्तुष्टि का भाव वह कितना ही प्रदर्शित क्यों न करे। इसी कारण छायावादी कविता में असन्तोष-भावना की प्रधानता है। तो भी यह सम्भव है, जैसा हम चलकर देखेंगे, कि जीवन के अभाव के प्रति उसकी आसक्ति इतनी नैराश्यपूर्ण हो जाय कि वह एक क्रान्ति-विरोधी रूप धारण कर ले। क्योंकि यद्यपि अधिकांश मनुष्यों का जीवन आज जर्जरित है, पर जीवन-धारा में प्रगति की धारा भी तो प्रवाहित हो रही है, जो अधिकांश मनुष्यों को एकदम निराशावादी होने से रोकती है, और उनमें जीवन के अभावों के प्रति आसक्ति नहीं उत्पन्न होने देती। अतः छायावादी कवि के सौन्दर्य-मूल्य व्यापक होकर भी सीमित है, और संघर्ष-रत मानवता के सौन्दर्य-मूल्यों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। वे केवल आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं से पराङ्मुख व्यक्ति के प्रच्छन्न असन्तोष के प्रतीक हैं। बन्धनों से उन्मुक्ति पाने के लिए असन्तोष की अभिव्यक्ति करके भी छायावादी कवि सच्चा क्रान्तिकारी न हो सका, क्योंकि

पूंजीपति वर्ग की ही तरह उसकी अभिलषित स्वतन्त्रता का आधार आवश्यकता की चेतना नहीं वरन् उसकी अज्ञानता है। उसका विचार है कि उसकी वृत्तियाँ ही केवल स्वतन्त्र हैं, लेकिन समाज उन्हें भी बद्ध कर रहा है, इसलिए केवल अन्तर्वृत्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा करना ही उसका कर्त्तव्य है। और चूंकि वह अपने लक्ष्य या उद्देश्य के प्रति सचेत नहीं है, इसलिए उसके अनुकूल आवश्यकताओं के प्रति भी सचेत नहीं है। यदि वह उनके प्रति सचेत होता तो जो निरंकुश अन्ध-शक्तियाँ या क्रूर सम्बन्ध उसकी चेतना का मार्ग रोधकर शिला बने पड़े हैं, वह उन्हें हटाने, उन्हें बदलने के लिए संघर्ष करता। फलतः भाव-जगत् में उसने जिस विद्रोह या असन्तोष की ध्वजा फहरायी, उसके नीचे वह लगातार उन्हीं असंगतियों को और भी प्रबल रूप में समक्ष लाता रहा जिनके विरुद्ध वह असन्तोष की पताका फहरा रहा था।

परन्तु यह परिस्थिति अधिक दिनों तक न चल सकती थी। कवियों की एक पीढ़ी-की-पीढ़ी संघर्षपूर्ण वास्तविकता के प्रति उदासीन नहीं रह सकती। आज जब भारत क्रान्ति के पथ पर है और साम्राज्यशाही के आतङ्क, शोषण, हिंसा और अत्याचार से उसकी मानवता का हृदय पदाक्रान्त और विदीर्ण हो रहा है, कवि को भी निर्णय करना पड़ा कि वह किस के पक्ष का समर्थन करेगा—प्रतिक्रिया का या प्रगति का। अतः आज के क्रान्तिकारी युग में साहित्य में भी दो धाराएँ फूट निकली हैं। एक क्रान्ति की आकांक्षाओं की अभिव्यंजना करती है, दूसरी शोषित एवं अधिकार-वंचित वर्ग के सन्देह-संशयों की अभिव्यक्ति करती है।

अतएव छायावाद के कुछ कवि, जिन्होंने जीवन से भागकर अपने को 'अहंवाद' की चहारदीवारी में बन्द कर रखा था, आकाश को क्रान्ति के बादलों से घिरे हुए देखकर सशंकित हो उठे हैं। सर्वप्रथम उन्होंने असंगठित जनता में जीवन की असारता सम्बन्धी जो विकृत रूप में भ्रम और सन्देह फैले हुए थे, उन्हें संकलित और व्यवस्थित करके, 'फ़िलॉसफ़ी' का रूप देने की चेष्टा की, 'जीवन' और संसार की व्याख्या की। महादेवी जी का कथन है—

> विकसते मुरझाने को फूल
> उदय होता छिपने को चन्द्र
> यहाँ किसका अनन्त यौवन
> अरे अस्थिर छोटे जीवन !

रामकुमार वर्मा के विचार में—

> यह जीवन समय-भवन में
> टूटा-सा टेढ़ा जाला

जो रेशम-सा दिखता है
पर जीर्ण अन्त में काला

इन कवियों के लिए संसार की अस्थिरता या परिवर्तनशीलता 'असारता' अथवा 'क्षणभंगुरता' की द्योतक है। संताप और दुख की जनक है। महादेवी जी का कथन है कि 'निशा का शयनागार' जब 'विश्वासों का नीड़' बनता है—

तब बुझते तारों के नीरव नयनों का हाहाकार
आँसू से लिख जाता है कितना अस्थिर संसार !

यह 'अस्थिर संसार' कभी 'मादक' तो कभी 'निष्ठुर' प्रतीत होने लगता है।

'जीवन' या 'संसार' की ऐसी प्रतिक्रियावादी विवेचना करके ही इन छायावादी कवियों का प्रतिगामी विकास अवरुद्ध नहीं हो जाता। वे इस खाई की निम्नतर गहराइयों में गिरते जाते हैं। और वे जीवन की असारता के प्रति उन अबुद्धिवादी, तर्कहीन भावों की अभिव्यक्ति करने लगते हैं जो अक्सर सड़क, बाज़ार या कुटुम्ब में दकियानूसी विचारों के शिक्षित-अशिक्षित लोगों के मुख से सुनने में आते हैं। भेद केवल इतना होता है कि काव्य-कला-कुशल कवि उन्हें व्यवस्थित कर अभिव्यंजना का तीव्र गुण प्रदान कर देता है। बच्चन जी के 'निशा-निमन्त्रण' मे इस प्रकार के भाव प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। 'निशा-निमन्त्रण' की विशेषता यह है कि उसकी भाव-सामग्री में गम्भीरता, दार्शनिकता या गहराई कम किन्तु शैली के प्रसाद गुण और सदियों से परिचित वास्तव के रागात्मक भाव-संकेतों के प्रयोग के कारण प्रभविष्णुता और स्पष्टवादिता अधिक है। इसलिए अनुन्नत एवं चेतनाहीन हृदयों पर उनकी कविता का प्रभाव भी अधिक है। उनके अनुसार 'स्वप्न' और 'जागरण' दोनों 'छल' हैं, 'भूत', 'भविष्य' या 'वर्तमान' अवास्तविक हैं, फिर—

मनुज के अधिकार कैसे
हम यहाँ लाचार ऐसे
कर नहीं इन्कार सकते, कर नहीं सकते वरण भी !

या, चूंकि 'मानव', 'जगती' और 'संसृति' सभी एक के बाद दूसरे के बन्धन में बँधी हैं, और 'जगती सर' में मनुष्य का अस्तित्व ही क्या, इसलिए—

आओ अपनी लघुता जानें
अपनी निर्बलता पहचानें
जैसे जग रहता आया है, उसी तरह से रहना होगा !

'भारतीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शोषित मानवता को अपनी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने की क्या आवश्यकता ? आदिकाल से मनुष्य गुलामी में रहा है, और अन्तकाल तक गुलामी में ही रहता जायगा; इसलिए व्यर्थ के लिए संगठन, आन्दोलन,

हड़ताल, प्रदर्शन, क्रान्ति या नये समाज की आवश्यकता क्या है ? अगर किसी पूंजीपति या प्रतिक्रियावादी के इस कथन का हम इस कविता को काव्यपूर्ण रूपान्तर समझें तो इसमें अनुचित क्या है ? आम जनता की अनुन्नत भावनाओं पर इस प्रकार की कविताओं का कैसा प्रभाव पड़ता है ? क्या उनकी सन्दिग्ध भावनाएँ और भी सन्दिग्ध, और उनकी चेतना की धार और कुण्ठित नहीं हो जाती ? इस प्रश्न को यह कहकर नहीं टाला जा सकता कि कवि-विशेष की व्यक्तिगत परिस्थितियों की विषमता की उसके मन में ऐसी प्रतिक्रिया हो सकती है। 'अभिलाषाएँ' अप्राप्य रहने से कवि-विशेष का जीवन से भागना बुद्धिगम्य है, और उसके लिए हम सहानुभूति का अनुभव भी कर सकते हैं। लेकिन उपरोक्त पंक्तियों में व्यक्तिगत जीवन की परिधि को छोड़कर कवि आधुनिक वास्तविकता के विषय में अपने 'विचार' प्रकट करने लगा है और चाहता है कि अन्य लोग भी उससे सहमत होकर उसके दृष्टिकोण को अपना लें। और चूंकि हम जानते हैं कि ये विचार प्रतिक्रियावादी हैं इसलिए हम उनकी सत्य-प्रकृति का विश्लेषण किये बिना नहीं रह सकते। कवि होने से किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता कि वह राजनैतिक अथवा अन्य विषयों पर प्रतिक्रियावादी विचार प्रकट करता जाय और लोग उन्हें सुनते जायँ। और विशेषकर आजकल, जब कि अधिकार-वंचित वर्ग के सन्देह को ये कवि 'सत्य, शिव और सुन्दर' का रूप देकर पेश करते हैं। 'कला कला के लिए' की दुहाई देकर भी ये कवि समाज की वास्तविकता का ही असत्यपूर्ण एकांगी चित्रण करते हैं। जीवन की जिस 'स्थविरता' के विरुद्ध उन्होंने विद्रोह किया था, वे उसी का समर्थन करके आज जीवन की परिवर्तन-शीलता का तिरस्कार कर उसका उपहास करते हैं। उदाहरण के लिए—

जग बदलेगा किन्तु न जीवन ...
प्रणय-स्वप्न की चंचलता पर
जो रोयेंगे सिर धुन-धुन कर
नेताओ के तर्क वचन क्या उनको दे देंगे आश्वासन ?

भावी समाज की कठिनाइयों को विकृत रूप में हमारे सामने पेश करके बच्चन ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि जो कठिनाइयाँ आज हैं, वे भविष्य में भी दूर नहीं की जा सकतीं, क्योंकि 'नियति के न्याय की' तरह वे 'मानव भाग्य-पटल' पर अंकित हैं, इसलिए नवीन समाज के निर्माण की जरूरत क्या ? जीवन कभी बदलता नहीं, फिर उसे बदलने की व्यर्थ चेष्ट क्यों ? इस अवैज्ञानिक तर्क में गम्भीरता की झलक अवश्य है। लेकिन आधुनिक विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र इस तर्क का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु विकासोन्मुख है, परिवर्तनशील है, और जीवन इसकी परिधि से बाहर नहीं रहता। कदाचित् 'युग-युग की वाणी' लिखने के

भ्रम से भ्रमित बच्चन जी का इशारा इस ओर है कि जीवन के भाव और सौन्दर्य-मूल्य सनातन हैं और सदैव इसी रूप में रहेंगे। लेकिन समाजशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र इस धारणा को भी स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार मनुष्य के भाव-मूल्यों की सृष्टि सामाजिक जीवन में ही होती है और समाज-विशेष के व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा उनकी अभिव्यक्ति होती है। प्रेम, क्रोध, ईर्ष्या, अभिमान आदि-भावों की अभिव्यक्ति समाज-व्यवस्था के अनुरूप ही होती आई है। तुलसी, बिहारी और पन्त के भाव-मूल्यों में क्या कोई अन्तर नहीं है? इसी सिद्धान्त के आधार पर पूँजीवादी कला के आलोचकों ने क्या सामन्ती कला के भाव-मूल्यों और उसकी सौन्दर्य-भावनाओं की हेयता सिद्ध नहीं की? फिर आज 'आलोचकों के आलोचक' देखकर 'शाश्वत' और 'सनातन' के पर्दे की आड़ में क्यों शरण ली जा रही है? किन्तु बच्चन जी का इशारा भाव-मूल्यों के गहरे प्रश्न की ओर नहीं लगता, क्योंकि न वे एक 'निष्पक्ष' कलाकार हैं और न युग-युग की वाणी ही लिखते हैं। उनकी वाणी इसी युग के असंगठित मनुष्य के समाज-विरोधी सन्देहों और अन्ध-विश्वासों की प्रतिध्वनि है। इसीलिए उन्होंने एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठाया है। उन्हें सन्देह है कि शायद समाज बदल जाने पर भी मनुष्य की मनोदशा इतनी ही विकृत या विक्षिप्त बनी रहेगी जितनी वह आज है। लेकिन वैज्ञानिक समाज-ज्ञान उनके इस सन्देह को निर्मूल कर देगा। आज जो अधिकांश व्यक्तियों की मनोदशा इतनी विकृत है, वह समाज से अलग कर व्यक्ति विशेष के मनोऽवरोध के कारण ही नहीं है, बल्कि समाज-सम्बन्धों की आधुनिक वास्तविकता ही व्यक्ति के इस मनोऽवरोध का मुख्य कारण है। अतः जब समाजवाद में समाज-सम्बन्ध इस रूप में बदल जायँगे कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं भावात्मक विकास का पूरा अवसर और सुविधा मिलेगी, तो मनोदशा की विकृति का स्रोत भी बन्द हो जायगा। इसका यह अर्थ नहीं कि समाजवाद में मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठेंगे ही नहीं, बल्कि यह है कि उनका स्वरूप बदल जायगा और वे एक उच्चतर धरातल पर उठेंगे।

संक्षेप में पूँजीवादी समाज की वास्तविकता ने इन छायावादी कवियों के एक वर्ग को इतना अहंवादी, आत्मापेक्षी, समाज-विरोधी और व्यक्तिवादी बना दिया है कि वे अपने 'असन्तोष' का अस्त्र भी फेंक चुके हैं। उन्होंने समाज और जीवन से भाग निकलने की लाख कोशिश की लेकिन आधुनिक समाज की असंगतिपूर्ण वास्तविकता ने उन्हें बरबस अपनी ओर खींच रखा है, और वे पूँजीपति वर्ग तथा आधुनिक काल के समाज-सम्बन्धों के सामूहिक भावों की ही अभिव्यक्ति करते हैं। उनका 'मैं', उनकी अन्तर्वृत्तियाँ, 'सामूहिक व्यक्ति का' 'मैं' या समाज द्वारा ग्रहण की गई वृत्तियाँ नहीं रहीं। न वे अपने 'मैं' को समस्त मानव-जाति का 'मैं' बनाना चाहते हैं, और न अपनी अन्तर्वृत्तियों को सामूहिक जीवन और सामाजिक चेष्टा के अनुभव द्वारा

सचेत ही बनाना चाहते हैं। इसके विपरीत अधिकार-वंचित-वर्ग के सन्देहों को ही शाश्वत और चिरन्तन भाव मानकर वे उन्हीं की अभिव्यक्ति करना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं। खेद केवल इस बात का है कि जीवन और स्वतन्त्रता की आवश्यकता की चेतना के अभाव ने उनकी 'चिर-अधीरता' और 'चिर-असन्तुष्टि' का दुरुपयोग कर, उनमें अपने जीवन की निरर्थकता में सार्थकता का आभास प्रदान करने वाली निरर्थक कला के प्रति आसक्ति उत्पन्न कर दी है। और परिवर्तनशीलता के ये समर्थक कवि अब जीवन की परिवर्तनशीलता की चेतना का तिरस्कार कर रहे हैं। इसीलिए उनकी दशा प्रतिदिन दयनीय होती जा रही है, और उनके प्रथम उत्थान की शुभ्र प्रतिमा पर कालिमा छाने लगी है।

छायावाद की यह प्रतिक्रियावादी धारा अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रही है। श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री बच्चन जी और रामकुमार वर्मा अधिकार-वंचित वर्ग के सन्देहों की अभिव्यजना करने वाली धारा के प्रमुख कवि हैं। इसके विपरीत, आधुनिक जीवन की संघर्षपूर्ण वास्तविकता की चेतना ने छायावादी कविता में एक और धारा प्रवाहित कर दी है, जिसे हम क्रान्ति की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करने वाली धारा कह सकते हैं। इस लेख में मेरा उद्देश्य इस दूसरी धारा के कवियों या उनकी कविता की विवेचना करना नहीं है, क्योंकि यद्यपि यह नवीन धारा छायावाद से निकली है और उसकी शैली भी अभी तक छायावाद की शैली है, तो भी उसकी भाव-सामग्री, उसकी विषयवस्तु, उसके सौन्दर्य-मूल्य छायावादी कविता से भिन्न हैं। इसलिए हम इस नवीन धारा को छायावाद के अन्तर्गत नहीं रख सकते।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने युगवाणी में कवियों से एक प्रश्न किया है—

> कवि नवयुग की चुन भावराशि
> नव छन्द आभरण रस विधान
> तुम बन न सकोगे जन मन के
> जाग्रत भावों के गीत यान ?

अधिकार-वंचित-वर्ग के सन्देहों की अभिव्यक्ति करने वाले छायावादी कवि इस प्रश्न का अनुकूल उत्तर देकर ही छायावाद की 'असन्तोष' प्रधान परिपाटी को जीवित एवं विकसित कर सकते हैं।

—मार्च १९३९

१०

द्विवेदी-काल से हिन्दी पत्र-कला का विकास

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् १९०३ में 'सरस्वती' का सम्पादन करना शुरू किया। उस वक़्त भी हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं की काफ़ी तादाद थी और उनसे भी कहीं ज्यादा पत्रकारों की। लेकिन पत्र-कला नाम की कोई चीज़ न थी।

पत्र-पत्रिकाओं में हिन्दी प्रदीप, आनन्द कादम्बिनी, भारत-जीवन, भारत मित्र, उचित वक्ता, सारसुधानिधि, हिन्दी बंगवासी, आर्य-मित्र, हिन्दुस्तान, हितवार्ता, और नागरी प्रचारिणी पत्रिका ख़ास थीं। ज्यादातर पत्र कलकत्ते से निकलते थे और हिन्दी पाठकों पर उन्हीं का सबसे ज्यादा असर था।

इन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक होते थे। यह बड़े-बड़े लेखक, जो अक्सर संस्कृत-फ़ारसी के भी पण्डित थे, उस वक़्त हिन्दी के गद्य का स्वरूप बनाने और हिन्दी का प्रचार करने में लगे हुए थे। इनमें बाबू बालमुकन्द गुप्त, पण्डित बदरीनारायण चौधरी, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० गोविन्द नारायण मिश्र, पं० माधव प्रसाद मिश्र, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं० सदानन्द मिश्र, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, लाला भगवान दीन और बाबू गुलाबराय जैसे ऊँची चोटी के लेखक थे।

यह पत्र दो क़िस्म के थे। एक साप्ताहिक, दूसरे मासिक-त्रैमासिक। साप्ताहिक-पत्रों में सम्पादकीय टिप्पणी, देश-विदेश की ख़बरें, बाज़ार के भाव, और कभी-कभी एक-दो छोटे-छोटे लेख रहते थे। यह पत्र दो या ज्यादा-से-ज्यादा चार सफ़े के, और कोई-कोई तो एक आफ़िस-टेबिल की साइज़ के इसलिए होते थे कि छोटी साइज़ के पत्रों को देखकर पाठक कहता—"यह कैसा पतला-पतला-सा अख़बार है!" इन समाचार पत्रों का सम्पादन ठीक से न होता था। अंग्रेज़ी के अख़बारों से अनुवाद करके ख़बरें दी जाती थीं। तार, संवाददाता, सहकारी सम्पादक, बाक़ायदा दफ्तर, प्रूफ़रीडर वग़ैरा की ज़रूरत न पड़ती थी। ख़बरों की भाषा बड़ी चटकती-मटकती और लच्छेदार होती थी, जिसकी नाज़ो अदा से ख़बर का तो कचूमर निकल जाता था। महत्त्व के अनुसार मोटी-पतली हेडलाइनें देकर ख़बर छापने का उन दिनों चलन न था। ख़बरों का चुनाव, उनका डिस्प्ले, उनकी भाषा आज की पत्र-कला से बहुत पीछे थी; आर्यसमाज और सनातन धर्म के झगड़े और बाल-विवाह, विधवा-विवाह के सवालों को लेकर देश में चले समाज-सुधार आन्दोलन की चर्चा तो उनमें ख़ूब रहती थी,

लेकिन राजनैतिक विषयों की चर्चा या सरकार के कार्यों की नुक्ताचीनी कम होती थी।

इसके अलावा जो मासिक-त्रैमासिक पत्र थे उनमें सम्पादन-कला की कमी खटकती थी। उन पत्रों का रूप-रंग तो मामूली दर्जे का होता ही था, लेखों का चुनाव, उनमे संशोधन, उनका सम्पादन आदि भी न होता था; विषय भी इने-गिने होते थे।

इस तरह सम्पादन-कला और पत्र-कला उस समय या तो थी नहीं या अपने प्रारम्भकाल में थीं। इसके दो कारण थे। पहला तो यह कि पाठक बहुत कम थे और ग्राहक बढ़ाने का मसला हमेशा सामने पेश रहता था। अक्सर पत्रों के सौ-दो सौ से ज्यादा ग्राहक न होते थे। फिर पत्र-कला पर ध्यान देने या उसका विकास करने के साधन जुटाने का मौक़ा ही कहाँ था? इसीलिए ज्यादातर पत्र लीथो पर छपते थे।

दूसरा सवाल था भाषा का। उस समय तक हिन्दी के गद्य की कोई साफ़-सुथरी शक्ल न बन पाई थी। प्रान्तीय प्रयोगों, व्याकरण की ग़लतियों और अलंकारों की भरमार से भाषा चुलबुली और व्यंगपूर्ण होते हुए भी बेढङ्गी थी, यहाँ तक कि लिखावट का भी कोई स्टैण्डर्ड रूप न था।

आचार्य द्विवेदी ने सबसे पहले लेखों का सम्पादन, संशोधन करना शुरू किया, बाक़ायदा विषयों का चुनाव कर 'सरस्वती' को सजधज के साथ निकाला और जिस एक कारण से हिन्दी पत्र-कला ही नहीं बल्कि समूचे गद्य-साहित्य का विकास रुका हुआ था उसे उन्होंने मिटा दिया। यानी हिन्दी के गद्य की भाषा का स्वरूप निश्चित कर दिया।

व्याकरण की ग़लतियाँ दूर करने के लिए उन्होंने सरस्वती में एक लेख 'भाषा की अनस्थिरता' नाम से लिखा। कुछ दिनों के लिए हिन्दी पत्र-कला में बड़ी सरगरमी रही और इस मसले पर लोगों ने विद्वत्तापूर्ण विचार प्रगट किये। बाबू बालमुकुन्द गप्त ने जब आत्माराम के नाम से 'भारत-मित्र' में द्विवेदी जी के ख़िलाफ़ लिखा तो पंडित गोविन्दनारायण झा ने 'आत्माराम की टें टें' नाम के लेख में उनको जोरदार जवाब दिया। इन्हीं दिनों पंडित सखाराम देउस्कर ने विभक्तियों का सवाल उठाया। पं० गोविन्दनारायण मिश्र ने कलकत्ते की 'हितवार्ता' में एक पांडित्यपूर्ण लेखमाला निकाली उसमे उन्होंने कहा कि विभक्तियों को शब्दों के साथ मिलाकर लिखना चाहिए। लाला भगवानदीन और आचार्य द्विवेदी ने इसका विरोध किया। इससे लेखक दो दलों मे बँट गये। इस बहस और चर्चा से यह लाभ हुआ कि अब लेखक अपनी भाषा के बारे मे सतर्क रहने लगे और हिन्दी गद्य का स्वरूप स्थिर हो चला।

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी के गद्य की साहित्यिक भाषा बनाई और उनके समय के दूसरे लेखकों ने हिन्दी के समाचारपत्रों की। इससे नये-नये विषय सामने आये

और उनकी अपनी-अपनी शैलियाँ और शब्द-योजनायें बन चलीं। इन लेखकों और पत्रकारों की कोशिश से हिन्दी के गद्य-साहित्य और पत्र-कला के विकास के लिए अनुकूल जमीन तैयार हो गई।

सरस्वती की देखा-देखी इन्दु, लक्ष्मी, प्रभा, शारदा, मनोरमा, मर्यादा बहुत-सी पत्रिकाएं निकलने लगीं। खास-खास विषयों को लेकर भी पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं।

हम पहले कह चुके हैं कि क्यों द्विवेदी जी के जमाने मे राजनैतिक विषयों को लेकर बहुत कम चर्चाएँ रहती थीं। लेकिन समाचारपत्रों और पत्र-कला का किसी देश के राजनैतिक जीवन से गहरा सम्बन्ध रहता है। इसलिए जैसे ही भाषा का मसला हल हुआ, और दूसरी ओर बंगभंग आन्दोलन से देश में राजनैतिक चेतना की लहर फैली, हिन्दी पत्र-कला की यह कमी भी दूर हो चली। बाबू बालमुकन्द गुप्त ने लार्ड कर्जन के खिलाफ़ अपना 'शिवशम्भू का चिट्ठा' लिखा जो कलकत्ते के 'भारत-मित्र में धारावाहिक रूप से छपा। श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर, पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र, पंडित अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने गंभीर राजनैतिक लेख लिखने शुरू किये। हितवार्ता, भारतमित्र और हिन्दुस्तान मे राजनैतिक चर्चाएँ होने लगीं। इसी बीच पं० सुन्दर लाल का कर्मवीर, प्रताप और अभ्युदय निकले। इन पत्रों ने हिन्दी-भाषी जनता की राजनैतिक चेतना पर गहरा असर डाला। यह पत्र राष्ट्रीय थे और इनकी पूरी सहानुभूति राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ रही। अभ्युदय को पंडित मदन-मोहन मालवीय और पं० कृष्णकान्त मालवीय का सहयोग प्राप्त था। पिछला महायुद्ध जब छिड़ा तो हिन्दी पत्र-कला का विकास रुक-सा गया। क्योंकि लड़ाई के जमाने में उन पर और भी पाबन्दियाँ लग गयीं। सन् १९२० तक यही हाल क़ायम रहा।

युद्ध के बाद देश की राजनैतिक फिजाँ बदल गई। राजनैतिक बचैनी बढ़ी और असहयोग और खिलाफ़त-आन्दोलन का जमाना आया। इस हलचल के युग ने श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर और श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी जैसे दो जबरदस्त पत्रकार-व्यक्तित्व पैदा किये। सन् १९२० में बनारस से दैनिक 'आज' निकला। पराड़कर जी उसके सम्पादक हुए। उन्हीं दिनों कानपुर का साप्ताहिक 'प्रताप' दैनिक बना और स्वर्गीय श्री गणेशशङ्कर जी ने उसका सम्पादन-कार्य सँभाला। अंग्रेजी पत्र-कला का गहरा अध्ययन होने के कारण ये दोनों व्यक्ति सही अर्थों में पत्रकार थे। इन्होंने हिन्दी की पत्र-कला की कायापलट कर दी। आजकल की पत्र-कला के अन्दर महत्त्व की खबरें पाने और उन्हें आकर्षक ढंग से विस्तारित करने के अतिरिक्त उन खबरों के अच्छे-बुरे असर के बारे में जनहित की दृष्टि से सम्मति प्रकट करना एक बहुत जरूरी कर्त्तव्य होता है। और देशों में समाचारपत्रों की ताक़त सभी स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे जनता की राय का इजहार करते हैं और तात्कालिक प्रश्नों पर जनता को अपनी

राय क़ायम करने में मदद देते हैं। 'आज' और 'प्रताप' ने हिन्दी पत्रों में एक नयी शक्ति पैदा कर दी जिससे वे देश की राजनैतिक गतिविधि पर असर डालने योग्य हो गये। पराड़कर जी और गणेशशङ्कर जी की टिप्पणियां सुलझीं, गम्भीर और देश की राष्ट्रीय हलचलों, संघर्षों और आकांक्षाओं को प्रकट करने वाली होती थीं, इसलिए 'आज' और 'प्रताप' का प्रभाव इतनी तेजी से बढ़ा कि कलकत्ते के समाचार-पत्र हिन्दी-भाषी प्रान्तों में धाक खो बैठे।

अब हिन्दी पत्र भी तार से ख़बरें मँगाने लगे। संवाददाता तैनात किये गये। ख़बरों का बाक़ायदा सम्पादन कर के उचित हेडलाइनें देने लगे और अंग्रेजी अख़बारों की तरह उनमें भी ताज़ी ख़बरें रहने लगीं। सन् १६२० के बाद हिन्दी में जितने भी दैनिक पत्र निकले हैं वे न सम्पादन या पत्र-कला की दृष्टि से और न जनता पर असर डालने की नज़र से ही 'आज' और 'प्रताप' से आगे बढ़ पाये हैं। सन् १६२० और १६३० के बीच में कई दैनिक निकले, जिनमें 'अर्जुन', 'विश्वामित्र', 'लोकमत', 'वर्तमान', 'हिन्दी-मिलाप' और 'लोकमान्य' मुख्य थे।

इस बीच में अनेक साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाये भी निकलीं, जिन्होंने साहित्य की प्रशंसनीय सेवा की। साप्ताहिकों में 'सैनिक', 'मतवाला', 'भविष्य', 'विश्वामित्र', 'जागरण', 'स्वदेश', 'पाटिलपुत्र' आदि अपने-अपने विषय के प्रसिद्ध पत्र थे। मासिक-पत्रों में 'माधुरी', 'सुधा', 'विशाल भारत', 'विश्वामित्र', 'चाँद' आदि प्रसिद्ध पत्रिकाएँ निकलीं, जिन्होंने महायुद्ध के बाद की सभी साहित्यिक धाराओं को ग्रहण किया और हिन्दी के कहानी, उपन्यास, कविता, आलोचना साहित्य का विकास करने में सराहनीय कार्य किया।

सन् १६३० से अबतक हिन्दी के दैनिक समाचार-पत्रों में पत्र-कला की दृष्टि से कोई महत्त्व का विकास नहीं हुआ, सिवा इसके कि इस ज़माने में दर्जनों नये दैनिक प्रकाशित हुए और जनता पर सिर्फ़ उन्हीं पत्रों का प्रभाव बढ़ा जिनकी नीति राष्ट्रीय और काँग्रेस के पक्ष में थी। लेकिन साप्ताहिक और मासिक पत्रों ने ज़रूर नये क़दम उठाये। इस ज़माने में देश की राजनैतिक चेतना उग्र हो गई और उसके साथ-साथ किसान-मज़दूरों का समाजवाद के सिद्धान्तों के अनुसार सङ्गठन होने लगा, जिससे एक नये क़िस्म के राजनैतिक साप्ताहिक का जन्म हुआ। वर्ग-संघर्ष की बुनियाद पर जनता और समाजवादी दलों का सङ्गठन इन पत्रों ने किया। इनका काम सिर्फ़ रायज़नी करना ही नहीं, बल्कि रोज़मर्रा की तहरीक में जनता की रहनुमाई करना भी था। 'जनता', 'संघर्ष' और 'नया हिन्दुस्तान' ऐसे पत्रों में मुख्य थे। व्यवसाय की दुनिया से पत्र-कला को अलग कर और एक नये ढाँचे में ढाल करके उन्होंने यह साबित कर दिया कि समाचार पत्र उथल-पुथल के ज़माने में एक नेता का भी काम कर सकते

हैं जिनके प्रति पाठकों का वही प्रेम, वही वफ़ादारी और इशारे पर क़ुरबान होने की वही मुस्तैदी हो सकती है जो एक नेता के प्रति कार्यकर्त्ता की होती है।

मासिक पत्रों में भी इस ज़माने मे काफ़ी चहल-पहल रही। देश के विद्वानों के सामने राष्ट्रभाषा का सवाल उठा। राष्ट्रभाषा हिन्दी हो, उर्दू हो, या दोनों के मेल से हिन्दुस्तानी हो, इस पर मासिक पत्रों में जोरदार बहसे चलती रहीं। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी, जो सन् १९३० से ही 'हंस' निकाल रहे थे, हिन्दुस्तानी के हामी थे। सन् १९३५ के अन्त में गांधी जी की सलाह से उन्होंने और श्री कन्हैयालाल मुन्शी ने देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दुस्तानी का अन्य भाषी प्रान्तों में प्रचार करने के लिए और हिन्दुस्तान की सभी बड़ी-बड़ी भाषाओ को नजदीक लाने के लिए हिन्दी, उर्दू और दूसरी भाषाओं के प्रतिनिधियों के सहयोग से 'भारतीय साहित्य परिषद्' की नींव डाली और 'हंस' उसका मुखपत्र बना। प्रेमचन्द जी की मृत्यु के समय तक 'हंस' इसी रूप में निकला। उसमें देश की ख़ास-ख़ास भाषाओं के लेखको की चीज़े देवनागरी लिपि में हिन्दुस्तानी अनुवाद के साथ छपती रहीं। भारतीय भाषाओं की एकता साबित करने और उन्हें एक दूसरे के नजदीक लाने की यह अनूठी कोशिश थी, और उसने हिन्दी पत्रकला के सामने नये उद्देश्य और कर्त्तव्य रख दिये। हिन्दी के मासिक पत्र-जगत् मे प्रेमचन्द एक बहुत बड़ी हस्ती थ।

इस ज़माने मे मासिक पत्रों मे कई बड़ी महत्त्वपूर्ण बहसे चलीं। पश्चिमी साहित्य की जानकारी रखने वाले लेखक अपने साथ नये विचार लाये थे। इसलिए अब की बहसो मे साहित्य के उद्देश्य, उसकी शैली और जीवन के प्रति दृष्टिकोण पर विचार-विनिमय हुआ जिससे हिन्दी लेखकों को नई प्रेरणाये मिलीं। बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादन-काल में 'विशाल भारत', श्री सुमित्रानन्दन पन्त के 'रूपाभ' और 'हंस' ने यह बहसे छेड़ीं। ज़माने की रफ़्तार के साथ साहित्य की प्रगति बनाये रखने में इन पत्रों ने प्रशंसनीय कार्य किया है। मासिक पत्रों की पत्र-कला की उन्नति की एक यह भी कसौटी होती है। आजकल 'विशाल भारत' साहित्यिक चर्चाएँ करना छोड़ गाय-बैलों की नस्लों की चर्चा करने में मग्न है। 'रूपाभ' बन्द हो चुका है। सिर्फ़ 'हंस' एक ऐसा पत्र है जो नये उत्साह से साहित्य की सबसे नई धारा 'प्रगतिवाद' की रूपरेखा गढ़ने में लगा है। 'साहित्य-संदेश', 'माधुरी', 'सुधा', 'सरस्वती', 'वीणा', 'आरती', 'विश्ववाणी' आदि दूसरी पत्रिकाएँ भी उपयोगी काम कर रही है लेकिन उनमें से कुछ तो सन् १९१४ और १९३० के बीच की विचारधाराओं मे ही बह रही है और कुछ नयी प्रगतियों के साथ चलने की कोशिश कर रही है। पत्र-कला में कुछ नये प्रयोग भी किये गये हैं। मुरादाबाद का 'प्रदीप' ऐसा ही मासिक पत्र है। लाक्षणिक शैली में 'प्रदीप' राजनीति, इतिहास और साहित्य की गतिविधि को परखने की चेष्टा करता है। ऐसे प्रयोग यह

सिद्ध करते हैं कि प्रबुद्ध पत्रकार अपनी कला के लिए नये मार्ग खोजने में यत्नशील हैं। आज हिन्दी पत्र-कला में जो बात खटकती है वह यह कि एक-दो को छोड़कर कोई बड़ा पत्रकार नहीं है और ज्यादातर आजकल के उथल-पुथल के जमाने के लिए रिपवान विंक्लस हैं। थोड़े में यह हिन्दी पत्र-कला के विकास का इतिहास है।

हिन्दी पत्र-कला का विकास अनेक बाधाओं और पाबन्दियों के बीच हुआ है। पाठकों और उचित साधनों की कमी आज भी उसका हाथ-पैर बाँध देती है। हिन्दी के 'आज' और अंग्रेजी के 'स्टेट्समैन' के दफ़्तरों को देखने से हिन्दी पत्र-कला की मजबूरियाँ अपने आप मालूम पड़ जायँगी। हिन्दी में रायटर या असोसियेटेड प्रेस जैसी कोई एजेन्सी भी नहीं है और खबरों के लिए अंग्रेजी तारों का अनुवाद भाषा को तो बिगाड़ता ही है वक़्त से ताजी खबरें पहुँचाने में भी काफ़ी दिक़्क़तें पेश कर देता है। जनमत बनाने के लिए प्रेस की स्वतन्त्रता पर सख़्त क़ानूनी पाबन्दियाँ हैं। इतने कम साधनों और इतनी पाबन्दियों के बावजूद हिन्दी पत्र-कला तरक़्क़ी करती आई है। लेकिन यह तरक्की एक बँधे घेरे मे हुई है, जिसमें शायद अब गुञ्जायश नहीं रही। इसलिए स्वतन्त्र देशों की पत्र-कला तक आगे की मंजिलें पूरी करने के लिए इस घेरे को टूटना चाहिए।

—नवम्बर १६४१

११

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

रात्रि के घने अन्धकार में अनेक टिमटिमाते दीपकों के बीच प्रखर ज्योति से जलते हुए एक विद्युत-गैस की चमकती रोशनी मे बैठकर हम निविड़ अन्धकार के घनत्व को भूल-सा जाते हैं। किन्तु जब वह गैस अचानक बुझ जाता है तो सहसा हमारी आँखों तले चारों ओर से घेरकर आत्मा को आच्छादित कर लेने वाला अँधेरा छा जाता है, यद्यपि अनेक दीपक अपनी लौ हिला-हिलाकर अन्धकार की धारा को चीरते हुए क्षीण प्रकाश की रश्मियाँ वातावरण में फैलाते रहते हैं, और जैसा-कुछ-तैसा प्रकाश बनाये भी रखते हैं। दो दिन पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हठात् देहावसान से हिन्दी-भाषियों के नेत्रों के आगे ऐसा ही अन्धकार छा गया है।

भारतवर्ष एक ऐसा अभागा गुलाम देश है जहाँ असमय मृत्यु हमारे जीवन की स्थायी स्थिति-सी बन गई है, दुःखद और मर्मान्तक पीड़ाजनक। हम अपने प्रेमचन्द या शरतचन्द्र को टॉलस्टाय, विक्टर ह्यूगो, बर्नर्ड शॉ की तरह, या अपने जयशंकरप्रसाद को, वाल्ट ह्विटमैन और वर्ड्सवर्थ की तरह दीर्घजीवी नहीं बना सके, उन्हें और न जाने कितने असंख्य भारत-पुत्रों को असमय मृत्यु की गोद में हम सौंप चुके हैं, सौंपते जाते हैं। इसका उत्तरदायित्व किसी सत्ताहीन, अज्ञात, सन्दिग्ध दैव के मत्थे मढ़कर क्या हम अपने क्षोभ को कम कर सकते हैं? यह हमारे राष्ट्रीय पराभव और पिछड़ेपन का स्वाभाविक परिणाम है, इसका दायित्व हम सब पर है। हमारे समाज पर है कि हम वह स्वास्थ्यकर परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं कर पा रहे, जिनमें मनुष्य सुखी और दीर्घजीवी हों। अतः हमारे साहित्य की अमा-निशा में दिनकर की तरह प्रचण्ड ज्योति से जलने वाले विद्युत्-गैस एक-एक करके बुझते जाते हैं, बुझते जाते हैं, और अब चारों ओर छोटे-छोटे दीपक ही टिमटिमा रहे हैं। इसका दायित्व हम पर ही है, इसकी चेतना हमें क्षुब्ध कर रही है।

आचार्य शुक्ल जी का जन्म सन् १८८४ ई० में बस्ती जिला के अगोना गाँव में हुआ था। आपने विश्वविद्यालय की डिगरी के अर्थ में उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त की थी, केवल एफ़. ए. पास किया था, किन्तु हिन्दी पर आपका जितना असाधारण अधिकार था उतना ही अंग्रेजी, संस्कृत, बंगला, उर्दू, फ़ारसी आदि भाषाओं पर। एफ़. ए. पास कर और क़ानून की परीक्षा में विफल होकर आपने मिर्जापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक की नौकरी कर ली। किन्तु आज से ३४ वर्ष

पूर्व की असाहित्यिक परिस्थितियों में भी शुक्ल जी साहित्य से अनुराग बनाये रहे, अ.र 'आनन्द कादम्बिनी' और 'सरस्वती' में लेख लिखते रहे। आपके लेखों की गम्भीर विचार-वस्तु ने और गवेषणात्मक समीक्षा-शैली ने हिन्दी संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया, और सन् १९०८ में काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने आपको 'हिन्दी-शब्दसागर' का सहकारी सम्पादक नियुक्त किया। स्कूल की अध्यापकी छोड़ आप एकदम साहित्य-सेवा में लग गये। 'हिन्दी-शब्दसागार' के सम्पादन में आपका सहयोग जितना महत्त्व रखता है, उतना शायद ही अन्य किसी व्यक्ति का। एक-एक शब्द की व्युत्पत्ति का निर्णय करने के लिए शुक्ल जी जैसे अध्यवसायी व्यक्ति ही देश के कोने-कोने का भ्रमण कर सकते थे। आठ-नौ वर्षों तक आप नागरी प्रचारिणी पत्रिका का सम्पादन करते रहे। फिर जब मालवीय जी ने आपकी विद्वत्ता और प्रतिभा का परिचय पाया तो आपको काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी का अध्यापक नियुक्त कर दिया। बाबू श्यामसुन्दर जी के पश्चात् शुक्ल जी हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हो गये और इस समय वे काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के सभापति भी थे।

शुक्ल जी का जीवन घटनाओं की तड़क-भड़क, उतार-चढ़ाव से परिपूर्ण न था। वे शान्तिप्रिय थे, और शान्तिपूर्वक ही साहित्य-सेवा में आजीवन लगे रहे।

जिस समय शुक्ल जी ने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया उस समय हिन्दी का आलोचना-साहित्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। भारतेन्दु बाब के पश्चात् श्री बदरीनारायण चौधरी, पद्मसिंह शर्मा, बालकृष्ण भट्ट और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने यद्यपि समालोचना की परिपाटी बना ली थी किन्तु उसमें गम्भीर शास्त्रीय समीक्षा का अभाव था। आचार्य शुक्ल ने संस्कृत और अंग्रेजी की समीक्षा-शैलियों का तुलनात्मक अध्ययन करके उनका समन्वय किया और एक अर्वाचीन समालोचना शैली की सृष्टि की, जो विचारात्मक और गवेषणात्मक होने के कारण अब तक की सभी शैलियों से अधिक प्रौढ़, सबल और परिष्कृत थी, और जिसकी प्रणाली केन्द्रित और संकेतात्मक थी।

उनके आलोचना-ग्रन्थ हिन्दी साहित्य में अनूठे हैं। जायसी, सूर और तुलसी की समालोचनाएँ उनके गम्भीर पाण्डित्य का दिग्दर्शन कराती हैं। उनको पढ़ने से ज्ञात होता है कि शुक्ल जी की समीक्षा दृष्टि कितनी पैनी और भारतीय साहित्य और संस्कृति में उनकी पैठ कितनी गहरी थी। इन कवियों की कृतियों का मूल्यांकन करते समय शुक्ल जी ने उनके समकालीन समाज का भी विशद वर्णन करके यह पहिली बार प्रतिपादित किया कि कवि या कलाकार अपने समाज से अविच्छेद रूप से सम्बद्ध है और उसकी कृतियों में उसके मानस पर पड़ी समाज की प्रतिक्रिया

का ही व्यक्ति-विशिष्ट प्रतिबिम्ब रहता है। अतः कवि अपने समाज की विचार-धाराओं और मनोवृत्तियों से अपने को अछता नहीं रख सकता।

शुक्ल जी की पुस्तक 'काव्य में रहस्यवाद' उस समय निकली जब कि रहस्यवाद के नाम पर हिन्दी-काव्य क्षेत्र में ऊल-जलूल और मनोविकारपूर्ण साहित्य की बरसाती बाढ़ आ गई थी। रहस्यवाद क्या है, क्या कोई कवि जीवन से अलग होकर किसी इतर जगत् के गीत भी गा सकता है, इन प्रश्नों का उन्होंने ऊहापोह पूर्ण उत्तर दिया और साहित्य की रूढ़ बौद्धिक विलासिता का पूर्ण रूप से निरसन और समाधान किया।

यों तो हिन्दी-साहित्य के इधर कई इतिहास निकल चुके हैं किन्तु उनके 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' का स्थान सबसे ऊँचा है। इतना प्रामाणिक इतिहास अभी तक और कोई नहीं लिखा गया है। न जाने कितने कवियों को, जिनका अस्तित्व हम भुला बैठे थे, शुक्ल जी ने खोजकर ढूँढ़ निकाला और हमारी काव्य परम्परा की विशृंखलित कड़ियों को एक सम्बद्धता और तारतम्यता प्रदान की। पहले उन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त विवेचन ही किया था; किन्तु अभी कुछ दिन हुए उन्होंने उसके नये संस्करण में हिन्दी की नूतनतम विचारधाराओं और प्रवृत्तियों का भी विशद उलेख कर दिया है।

शुक्ल जी एक महान् आलोचक ही नहीं थे, वे एक श्रेष्ठ निबन्धकार और कवि भी थे। उनकी पुस्तक 'चिन्तामणि' में क्रोध, करुणा, उत्साह, घृणा, श्रद्धा, प्रेम आदि भावों और मनोविकारों पर स्वतन्त्र और विश्लेषणात्मक लेख हैं, ये लेख, प्रतिपादन की शैली और सूक्ष्म पर्यवेक्षण में, बेकन और कार्लाइल के लेखों की कोटि में आते हैं। उनमें उनकी भाषा इतनी सबल, साहित्यिक और स्फूर्तिदायक है कि उनके प्रति अनायास ही श्रद्धा का भाव उत्पन्न हो जाता है। इस पुस्तक पर उन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला था।

एक कवि के रूप में वे उतने सफल न हो सके, क्योंकि उनकी दार्शनिकता और गम्भीर विवेचनात्मक वृत्ति ने उनके कवित्व को भी गम्भीर बना दिया था, जिसके कारण उनकी कविता में वह सहज सरलता न आ पाई जो कि एक कवि को लोकप्रिय बनाने के लिए आवश्यक है। तो भी 'लाइट ऑफ़ एशिया' के आधार पर लिखा 'बुद्धचरित' ब्रजभाषा का सुन्दर काव्य ग्रन्थ है। उससे ज्ञात होता है कि शुक्ल जी प्रकृति के कितने भावुक प्रेक्षक थे।

शुक्ल जी ने बंगला और अंग्रेजी से कई पुस्तकों के अनुवाद भी किये।

आचार्य शुक्ल भाषा-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। वे भाषा की प्रगति और प्रवृत्ति को विशिष्ट रूप में ग्रहण करते थे। इनकी निखिल रचनाओं में भाषा-विषयक

प्रयोगों में इतनी सावधानी पाई जाती है जैसी कि अन्यत्र दुर्लभ है। उनके प्रयोग इतने सन्तुलित और अर्थ-गाम्भीर्यपूर्ण हैं कि किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्याय-वाची शब्द कभी उपयुक्त नहीं हो सकता और इसी से उनकी जागरूकता और महिमा का प्रकाश है। उनकी रचनाओं के व्यासंग में हिन्दी आत्म-निरीक्षण और अपनी उपजीव्यता के लिए परीक्षण करती जान पड़ती है। उन्होंने हिन्दी भाषा को स्वस्थ और जीवन-विधायक साहित्य देकर उसे गौरवास्पद बनाया है।

आजकल हिन्दी संक्रान्ति-काल से गुज़र रही है। समय नाज़ुक है। अनेक बाधाएँ सामने हैं। उन संकटों से बचने के लिए हम अपने अनुभवज्ञान-वृद्ध विद्वानों से बहुत कुछ सहायता पा सकते हैं। ऐसे समय उनकी परम आवश्यकता होती है। और नहीं तो उनके होने से एक प्रकार का मानसिक धीरज रहता है। आचार्य शुक्ल तो अपने जीवन के अधिकांश वर्षों में साहित्य-चिन्ता में ही साँस लेते रहे। उनके देहा-वसान से हिन्दी ने अपना जो खो दिया है उस स्थान की पूर्ति की आशा निकट भविष्य में नहीं है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के साहित्याकाश मे अपनी ओजस्विनी प्रतिभा से सूर्य के समान प्रकाशमान है जिनकी अपेक्षा मे हिन्दी-साहित्य अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर रहा है।

उन्होंने साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में जिस अभिनव दृष्टिकोण की स्थापना की उसको लेकर अभी बहुत कुछ काम करने की आवश्यकता है। नवीन क्रान्तिकारी दृष्टिकोण के कारण जो नवीन प्रभाव इस समय विश्व साहित्य में आये हैं उनको भारतीय समीक्षा-पद्धति में अवतरित करना शुक्ल जी द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को सम्पूर्ति देना है। और उनकी विरासत को आगे ले जाने का जो दायित्व हमारे कमज़ोर कन्धों पर आ पड़ा है, उसके गुरुत्व का हम अनुभव कर रहे हैं।

—फरवरी १९४१

१२

एक महान् बौद्धिक परम्परा का अन्त

वाल्मीकि और कालिदास के बाद भारत ने रवीन्द्रनाथ टैगोर इतना बड़ा कवि उत्पन्न नहीं किया, और न कभी अपनी आत्मा का सन्देश देकर उसने इतना महान् प्रतिनिधि विश्व के अन्यान्य देशों में भेजा। अभी तक भारत की आत्मा, बुद्धि, कार्य-क्षमता सदियों से कसी दासता की शृङ्खलाओं में ऊर्ध्व-श्वास ले रही थी; किन्तु ऐसे अवरूद्ध विकास के इतिहास की स्मृतियों का भार लेकर भी यदि वह रवीन्द्रनाथ को जन्म दे सकता है तो यह इस बात का सूचक है कि भारतीय जनता में नव-जीवन की चेतना उत्पन्न हो रही है, और अपने इस नव-जागरण के साथ, चकबस्त और जोश के शब्दों में, इस 'कौम ने करवट ली' है।

रवीन्द्रनाथ भारत के नव-जागरण के प्रारम्भिक काल के गायक थे, और उन्होंने अपने गीतों से देश की सुप्त आत्मा को जाग्रत कर स्फूर्ति प्रदान की, मानवीय स्वाभिमान का भाव भरा और भारत को एक आदर्शपूर्ण भविष्य की नई दृष्टि दी। किसी ग़ुलाम देश के राष्ट्रीय नव-जागरण के प्रारम्भिक काल के सृजनात्मक प्रयत्नों में जो अदम्य उत्साह, जो अटूट आशा, जो आनन्दातिरेक, जो सौन्दर्य-कल्पना, जो आदर्श-वादिता, जो निराशा और अवसाद रहता है, वह रवीन्द्रनाथ के काव्य में भी है, और इतनी प्रचुर मात्रा में कि सहसा प्रतीति नहीं होती, आश्चर्यचकित होकर निहारते रह जाना पड़ता है।

यह एक महान् बौद्धिक परम्परा थी, जो पुरातन से प्रेरणा लेती थी, वर्तमान के रूद्ध-जीवन में चेतना भर उसे उज्ज्वल भविष्य की ओर उन्मुख करती थी; जो स्वयं एक रूढ़ि न बन, नित अभिनव रूपों में अपने को जीवित करती चलती थी। आज क़ौम को अपने मधुर, प्रेरक गीतों से जगाने वाले गायक की वीणा बन्द हो गई है, और उसके साथ उस महान् परम्परा का भी अन्त हो गया है जिसके ये गीत थे, क्योंकि क़ौम अब करवट लेकर उठ खड़ी हो रही है, और संघर्ष-पथ पर चलने वाली क़ौम के अनुभव में अब कदाचित् वह उन्मद उल्लास, वह रंगीन आदर्श कल्पनाएँ न हों, अब कदाचित् अविराम संघर्ष के हर्ष-विमर्ष, अभावपूर्ण जीवन के अवसाद और उसके प्रति विद्रोह की चिनगारियों, प्रेम और प्रणय की आशा और निराशा की कठोर वास्तविकता के ऐसे अनुभव हों जिनका रवीन्द्रनाथ और उनकी परम्परा में एक अस्पष्ट संकेत ही मिलता है; करवट बदलकर, खड़ी होकर, संघर्ष-निरत मानवता का यह

अभिनव रूप भी महान् है, और एक नई महान् बौद्धिक परम्परा का सूत्रपात करता है; लेकिन जिन मधुर रागनियों ने उसे जगाया है, उनकी स्मृति वह कभी भूल नहीं सकती, उनके गायक के आभार को अस्वीकृत नहीं कर सकती।

रवीन्द्रनाथ की महत्ता इस बात में निहित है कि परिस्थितियों के अनुकूल जिस परम्परा को उन्होंने जन्म दिया था, अन्त तक वे उसके सूत्रधार बने रहे, उसे अपनी अद्वितीय बहुमुखी प्रतिभा से समृद्ध बनाते रहे, और भारत को इस बात का गर्व है कि उसके नव-जागरण के ऐतिहासिक प्रारम्भ-काल की कला और साहित्य की नवोन्मेषी परम्परा का सृजनकर्त्ता, प्रसारक और नेता रवीन्द्रनाथ जैसा महान् व्यक्तित्व था; और आज जब भारत अपने जागरण के दूसरे ऐतिहासिक काल मे पदार्पण कर रहा है, तब वह रवीन्द्रनाथ और उनकी परम्परा द्वारा छोड़ी समृद्ध विरासत की ओर सगर्व नेत्रों से देखता है, और उसके महान् शिल्पी के प्रति गर्व, प्रेम और कृतज्ञता के आँसू उमड़ पड़ते हैं।

अपने अन्तिम पतन-काल में विश्व के पूँजीवाद ने, हर्बर्ट रीड के शब्दों में, केवल दो महान् कवि उत्पन्न किये हैं, वाल्ट ह्विट्मैन और डी० एच० लारेंस; लेकिन ये दोनों महाकवि अपने प्रतिवाद के स्वर मे ही महान् थे, आनन्द और उल्लास की अनुभूति की अभिव्यक्ति में नहीं। फ़ासिज़्म की ओर बढ़ने वाला पूँजीवाद एक कलाकार से प्रतिवाद की ही अपेक्षा कर सकता है; लेकिन अपने सीमित दायरे में अनेक अवरोधों के बीच विकासमान और साम्राज्य का प्रतिपक्षी भारतीय पूँजीवाद एक श्रेष्ठ राष्ट्रीय कलाकार को एक हद तक पहले आनन्द और उल्लास की अनुभूति भी प्रदान कर सका था, और रवीन्द्रनाथ मे इस अनुभूति की अभिव्यक्ति का स्रोत भी प्रबल वेग से बहा है। [यदि स्वतन्त्र भारत पूंजीवादी देशों के ही मार्ग पर चला तो शायद रवीन्द्रनाथ की परम्परा से मिली इस आनन्द और उल्लास की विरासत का भविष्य के कवि उपयोग न कर सकें, और यह विरासत नष्ट हो जाय; अतः रवीन्द्रनाथ की जीवन्त विरासत की रक्षा का भार न केवल कवियों पर है, वरन् भारत की सम्पूर्ण संघर्ष-रत जनता पर है।]

गत अस्सी वर्ष के भारतीय जीवन की शहज़ोरियाँ और कमज़ोरियाँ कवि रवीन्द्रनाथ के काव्यों, नाटकों, उपन्यासों, कहानियों, दार्शनिक विचारों, राजनीतिक-सामाजिक पुनर्संगठन की व्यवस्थाओं में समान रूप से व्यक्त हैं। मध्यकाल में एक राष्ट्र के जीवन में साठ वर्ष कुछ नहीं होते थे, लेकिन आज के क्रान्ति और संक्रान्ति-काल में साठ वर्ष एक युग का विस्तार घेर लेते है, जिसमे अनेक परस्पर-विरोधी परिवर्तन हो जाते हैं, एक दूसरे को काटती हुई अनेक विचारधाराएँ बहती रहती है, जीवन में एक अपूर्व तीव्रगामिता, विरोधाभास और आध्यात्मिक अभाव और अवसाद

रहता है। ऐसे साठ वर्षों की सम्पूर्ण आध्यात्मिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई भी परम्परा इन परस्पर-विरोधी क्रिया-प्रतिक्रियाओं, विचारधाराओं और भावनाओं का अभिव्यंजन करेगी, यह एक सामान्य सत्य है। रवीन्द्रनाथ ऐसी ही परम्परा के स्रष्टा थे और साठ वर्षों तक अपनी रचनाओं और कलाकृतियों द्वारा वे इस परम्परा को इतनी व्यापक और विशद बनाने में समर्थ हुए कि उसके अन्तर्गत इस काल की सम्पूर्ण भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति समाहित रही। ऐसी दशा मे रवीन्द्रनाथ की कृतियों में कोई एक विचारधारा, दृष्टिकोण या भाव-स्वर न मिलेगा। वह एक विविध रंगों का पुञ्ज है, जिसका सामूहिक दृश्य यद्यपि अत्यन्त मनोरम है, तथापि उसमें श्रेष्ठ रंग भी हैं, और साधारण, फीके, नष्टप्राय रंग भी है। अतः इस महान् परम्परा की कामयाबियों की विरासत को सञ्चित कर अक्षुण्ण बनाने का कार्य नई परम्परा का सूत्रपात करने वाली सजग शक्तियों को उठाना चाहिए, क्योंकि इसके विविध रंगों की राशि में से प्रतिक्रियावादी, विकृत रुचि के पोषक उन क्षीण, विवर्ण, नष्टप्राय रंगों को इंगित कर, उनके ही कारण रवीन्द्रनाथ की महत्ता प्रतिपादित कर रहे है। इसमें सन्देह नहीं कि रवीन्द्रनाथ दार्शनिक दृष्टि से एक आदर्शवादी थे, और आदर्शवाद अपने चार हज़ार वर्षों के विकास मे इतनी ऊँची-ऊँची चोटियों तक चढ़ चुका है, और इतने नीचे आध्यात्मिक पतन और विकृतियों के गर्त में गिर चुका है कि उसके कवि, कलाकार या विचारक के काव्य, कला या विचारों का मूल्यांकन करके उसकी विरासत को सञ्चित करते समय एक बड़ा खतरा उपस्थित हो जाता है। ज्ञात या अज्ञात रूप से प्रतिक्रिया-वादी शक्तियाँ उस परम्परा के, विचारों की दृष्टि से अस्वस्थ, काव्य और कला की दृष्टि से नगण्य अंशों को उच्च स्वर से उच्चरित कर कहती है—टैगोर इनके कारण महान् थे, टैगोर इनके कारण अमर रहेंगे।

यह खतरनाक प्रवृत्ति हमारे देश मे कुछ हमारे गौरांग प्रभुओं ने उत्पन्न की है, कुछ हमारी तर्कहीन, पिछड़ी मानसिक दशा ने।

उदाहरण के लिए; कुछ लोग रवीन्द्रनाथ को एक दैवी शक्ति, एक ईश्वरीय प्रेरणा-प्राप्त व्यक्तित्व और अलौकिक महापुरुष सिद्ध करने की चेष्टा में संलग्न है, और इस प्रकार वे रवीन्द्रनाथ की विचारधारा के जीवन-सूत्र तोड़कर—वह सूत्र जिसके द्वारा वे हमारे, जनता के जीवन से सीधे बँधे थे—रवीन्द्रनाथ को देवताओं के समान आकाश में स्थित करना चाहते है, और जनता से, उसके दुःख-सुख के क्षणों के गायक को, छीन लेना चाहते है।

इतना ही नहीं, वे रवीन्द्रनाथ के काव्य के रहस्यवादी अंशों को जनता के समक्ष रखकर यह सिद्ध करते है कि चूंकि उनके काव्य और विचारों में एक अलक्ष्य शक्ति की उपस्थिति का संकेत है, जिसमें अपने को अन्तस्थ करने के लिए कवि की

आत्मा आकुल है, इस कारण वे एक महान् रहस्यवादी और सन्त थे, मानो रहस्यवादी और सन्त होना काव्य की श्रेष्ठता का एकमात्र मापदण्ड हो।

रवीन्द्रनाथ के काव्य और अन्यान्य प्रकार की साहित्यिक और कला-कृतियों की महत्ता को विकृत करने वाले ये लोग रवीन्द्र-परम्परा (जो, हम ऊपर कह चुके हैं, गत साठ वर्षों से समस्त भारत की बौद्धिक परम्परा थी) के रहस्यवाद के विरद गाया करते हैं, लेकिन इस प्रकार वे रवीन्द्रनाथ की असली महत्ता की अवमानना करते हैं। क्योंकि, और हम इस बात को पूरे जोर से स्पष्ट कर देना चाहते हैं, रवीन्द्रनाथ अपने रहस्यवाद के कारण महान् नहीं हैं; वे महान् हैं तो अपने कल्पना-प्रधान यथार्थवाद के कारण, अपने गीतों के उत्कृष्ट काव्य के कारण, और अपनी चतुर्मुखी प्रतिभा के कारण, जिसने एक व्यक्ति के दायरे में कला और साहित्य का कोई भी अंग संयोजित करने से न छोड़ा था।

रवीन्द्रनाथ एक साथ ही कवि, दार्शनिक, उपन्यासकार, नाटककार, कहानी-लेखक, व्यंग-लेखक, गीतकार, संगीतज्ञ, स्वरकार, निबन्धकार, विचारक, आलोचक, राजनीति, समाज-शास्त्र और विज्ञान पर पुस्तकें लिखने वाले, देशभक्त, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के प्रतिपादक, शिक्षाविशारद, नृत्य-कला के विशेषज्ञ, अभिनेता, बालकों के लिए कविता पुस्तकों के लेखक, पत्रकार, पत्र-लेखन कला के सफल लेखक, शिक्षक और नेता थे। उनका रहस्यवाद इस अनेकमुखी प्रतिभा का केवल एक अंग था, और गत साठ वर्षों की देश और काल की परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ था। पाश्चात्य पूँजी-वादी लेखकों में भारतीय रहस्यवाद के प्रति जो श्रद्धा और प्रेम उमड़ पड़ा है, और जिसकी नजीर देकर भारतीय प्रतिक्रियावादी विचारक गर्व से भर जाते हैं, वह निरु-द्देश्य नहीं है।

यह श्रद्धा और प्रेम भारत को अपने प्राचीन में ही सीमित रहने का प्रोत्साहन है, ताकि विज्ञान और दर्शन की नई प्रगतियों से परिचित होकर भारतीय विचारक अपनी नई चेतना का उपयोग अपने गौरांग प्रभुओं के विरुद्ध न करने लगें। इसी का परिणाम है कि पाश्चात्य देशों में लोग रवीन्द्रनाथ को एक भारतीय सन्त और रहस्यवादी के रूप में अधिक जानते हैं, मनुष्य और असाधारण सौन्दर्य के कवि के रूप में कम।

ऊपरी सम्मान की ओट में रवीन्द्रनाथ की मौलिक प्रतिभा और महत्ता का पश्चिम में बहुत दिनों से अपमान होता आया है, और हमारे देश के कुछ लोग भी इस अपमान को सम्मान के रूप मे ग्रहण कर हमारे ऊपर लादते आये हैं। रवीन्द्र-परम्परा की सजीव निधियों की इस प्रकार रक्षा नहीं की जा सकती।

रवीन्द्रनाथ अपने इन प्रशंसकों की तरह दकियानूसी या प्रतिक्रियावादी न थे।

वे आजीवन भारत और विश्व की नई प्रगतियों को अपनी सहानुभूति प्रदान करते आये थे। कला और साहित्य के क्षेत्र में वे एक प्रकार से सच्चे क्रान्तिकारी थे, उन्होंने बंगाली भाषा का मार्जन किया, अथवा यों कहें कि उसे फिर से गढ़कर सुष्ठु और सरल-सुगम रूप दिया, काव्य मे अनेकानेक नये रूप-विधानों की सृष्टि की, उपन्यासों में बंकिम-परम्परा की सीमाएँ तोड़कर एक नया यथार्थवाद भरा, नाटकों में संगीत और नृत्य के साथ काव्य का समन्वित संयोग कर एक अत्यन्त भावना-प्रधान रूप की सृष्टि की तथा प्राचीन नाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघन कर उनका क्षेत्र व्यापक बनाया, पुराने संगीत की तान और आलाप-प्रधान प्रवृत्ति का परित्याग कर, जिसके कारण काव्य और संगीत का सहयोग अनावश्यक हो गया था, उन्होंने संगीत को काव्य-प्रधान बनाया, अर्थात् उसे भावना के संयोग से अधिक हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी बना दिया, उन्होंने अनेक नई रागिनियाँ, नये स्वर-विधान बनाकर, और अपने अत्यन्त सुन्दर २,००० गीतों को स्वर-बद्ध करके, बंगाल ही नहीं वरन् सारे भारत के संगीत में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी, नृत्य-कला की पुरानी वासना-प्रधान भाव-भंगी का परित्याग कर उन्होंने उच्च भावनाओं के कवित्वमय नृत्य की सृष्टि की। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने कला और साहित्य की सीमाओं को इतना व्यापक बना दिया, जितनी कि वह पहिले कभी न थीं और ऐसा करने में उन्हें दक़ियानूसी लेखकों और कलाकारों के विरोध का कम सामना नहीं करना पड़ा।

इसके विपरीत प्रगतिशील लेखक संघ और प्रगतिवाद के स्वागत और समर्थन में जो प्रेरक शब्द उन्होंने कहे हैं, वे आज भी कानों में गूँजते हैं। एक विचारक की दृष्टि से यद्यपि वे आदर्शवादी थे, तथापि वे जीवन से विरक्त नहीं थे। गीतांजली में उन्होंने लिखा था :

'Deliverence is not for me in renunciation. I feel the embrace of freedom in a thousand bonds of delight.'

इसके अतिरिक्त वे एक मानववादी और शान्तिवादी थे, और एक ऐसी स्वतन्त्रता मे विश्वास करते थे जिसमें न केवल बाह्य बन्धनों का अभाव हो, बल्कि अज्ञान, स्वार्थ, अन्ध-विश्वास, मृत-रूढ़ियों, निष्क्रियता, धर्माचार्यों और धर्म-ग्रन्थों के अनुशासन द्वारा लगाये आत्मा के बन्धन भी न हों; और वे पाश्चात्य और प्राच्य की एकता के हामी थे क्योंकि ज्ञान-विज्ञान की नई प्रगतियों को वे किसी एक देश की निजी सम्पत्ति नहीं समझते थे। उनके विश्व-पर्यटनों ने उनके अन्दर यह भावना और भी दृढ़ कर दी थी।

सामाजिक क्षेत्र में तो वे अपने समकालीन व्यक्तियों से कहीं आगे थे। उन्होंने अशिक्षा दूर करने के लिए अनेक प्रयत्न किये और शान्ति-निकेतन स्थापित करके

शिक्षा का ऐसा आदर्श रखा जो अति आधुनिक और गौरव-पूर्ण है। यह उनके ही प्रयत्नों का फल है कि नृत्य और अभिनय की कलाओं का प्रतिपादन शिक्षित लड़कियों द्वारा होने लगा है। वे केवल सहशिक्षा के ही पक्षपाती न थे, वरन् स्त्रियों की स्वतन्त्रता के भी हामी थे।

मौजूदा भारतीय राजनीति मे यद्यपि उन्होंने सक्रिय भाग नहीं लिया, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वे लिबरल थे, या भारत या विश्व की राजनीति से तटस्थ थे। बंग-भंग और स्वदेशी आन्दोलन में उन्होंने जो कार्य किया था, स्वदेशी-समाज की स्थापना के लिए जो व्यवस्था बनाई थी, उससे सभी परिचित है। जलियाँवाला बाग़ के विरुद्ध स्वर ऊँचा करने वाले वे प्रथम भारतीय नेता थे, और यद्यपि वे गांधी जी के सत्याग्रह के कभी समर्थक नहीं रहे, तो भी उन्होंने भारत की सजग शक्तियों के स्वातन्त्र्य-संग्राम का हमेशा समर्थन किया, यहाँ तक कि विद्यार्थी-आन्दोलन भी, जिसे गांधी जी और दूसरे व्यक्ति शंका की दृष्टि से देखते रहे है, उनकी सहानुभूति से प्रेरणा पाता रहा। जर्मन, इतालवी और जापानी फ़ासिज्म के वे सदैव विरोधी रहे, स्पेन और चीन की बहादुर जनता को अपने प्रेरक संदेशों से बल प्रदान करते रहे और कम्युनिस्ट न होकर भी वे रूस की शान्ति-नीति और उसके महान् सांस्कृतिक, आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रशंसक बने रहे।

इसके अतिरिक्त वे भारत की आज़ादी के सच्चे इच्छुक थे, और ब्रिटिश सरकार ने जब-जब भारत की भावनाओं का निरादर किया, उन्होंने उसका मुँहतोड़ जवाब दिया। मिस राथबोन के उत्तर मे उन्होंने अपनी रोगशय्या से जो पत्र लिखा था, वह उनके हृदय मे प्रज्ज्वलित स्वतन्त्रता की भावना का चिरस्मरणीय उदाहरण है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की परम्परा की यह सच्ची विरासत है, जिसे हमें सुरक्षित कर आगे ले जाना है। रवीन्द्रनाथ अपनी इन्हीं प्रगतिशील महानताओं के कारण हमारे प्रिय थे, हमारे शिक्षक और साथी थे।

हर परम्परा मे, हर व्यक्ति में, कुछ कमजोरियाँ होती है। रवीन्द्रनाथ और उनकी परम्परा मे भी थीं—उनके रहस्यवाद को जिसका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है, हम ऐसी ही कमज़ोरी मान सकते हैं। पुश्किन की तरह समृद्ध कुल में जन्म लेकर भी वे जन-जीवन के साथ अपने को एकप्राण बना सके थे, लेकिन उनके साहित्य में समाज के ऊपरी वर्ग की भावनाओं और मनस्थितियों का भी काफ़ी चित्रण है। रवीन्द्रनाथ अपनी इन सीमाओं के प्रति सचेत थे, और शोषित किसानों और मजदूरों के सच्चे हितचिन्तक होने के कारण उन्हें इस बात का क्षोभ भी था—

"Not everywhere have I won access :
my ways of life have intervened
and kept me outside.
The tiller of the plough,
the weaver at the loom,
the fisherman plying his net,
these and the rest toil and sustain the world
with their world-wide varied labour.

I have known them from a corner,
banished to a high pedestal of society
reared by renown.

Only the outer fringe have I approached
not being able to enter
the intimate precincts."

'The Great Symphony' का यह गीत कला के रजत् स्तूपों में बन्द अहंकार-ग्रस्त लेखकों और कलाकारों के लिए एक चेतावनी है। लेकिन अपने जीवन की इस असमर्थता की चेतना से क्षुब्ध रवीन्द्रनाथ रोगशय्या पर पड़े अपने अन्तिम दिनों में भी 'श्रमिकों' के उस जीवनाकांक्षा से भरे तुमुल गीत का स्वर सुनकर उल्लसित हुए थे, जो अनादि काल से चलता आ रहा है, और अब एक लययुक्त क्रान्ति के निर्घोष में फूट पड़ना चाहता है—

"Their million voices mingle in a song,
their grief and joy of every day
harmonise in a mighty hymn to Life."

और, रवीन्द्र-परम्परा को आगे ले जाने के लिए यह जरूरी है कि जन-जीवन से कांक्षित सम्पर्क न होने का उन्हें जो अभाव क्षुब्ध कर रहा था, उसकी पूर्ति जन-जीवन, श्रमिकों के जीवन की 'mighty hymn to Life' की सृष्टि कर वातावरण को गुँजा दिया जाय। भारतीय जनता के इस महान् कवि, साथी और नेता के प्रति यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

—अगस्त १९४१

१३

काश्मीरी भाषा-साहित्य और कवि महजूर

जयपुर-साहित्य-सम्मेलन के सभापति गोस्वामी गणेशदत्त ने अपने अभिभाषण में काश्मीर के सम्बन्ध में कहा—

"शैवों का गढ़ काश्मीर संस्कृत साहित्य और शिक्षा का एक केन्द्र रहा है। उन्नीसवीं सदी तक यहाँ शुद्ध हिन्दी के काव्यों की रचना हुई है। आज भी चालीस लाख जनता में सैंतीस लाख जो भाषाएँ बोलती है, उनमें से चार देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, एक शब्द-भण्डार की दृष्टि से संस्कृत के निकट है और दो हिन्दी की शाखाओं से सम्बन्ध रखती है परन्तु राज्य की भाषा और शिक्षा का माध्यम उर्दू है।"

काश्मीर मे हिन्दी की दशा शोचनीय है, यह कई बार सुन चुका था; अबोहर-सम्मेलन मे डा० अमरनाथ झा ने भी अपने भाषण में यही बात कही थी। इस सम्बन्ध में कुछ लोगों को यह भी कहते सुना था कि काश्मीरी भाषा आर्य-परिवार की भाषा है और संस्कृत से निकली है, अतः उसके बहुत निकट है। यह तर्क तो बहुधा दिया जाता है कि हैदराबाद के मुस्लिम शासक ने यदि उर्दू को राजभाषा बनाया है तो काश्मीर के हिन्दू शासक को भी चाहिए कि वे हिन्दी को राजभाषा बनावें। इस साम्प्रदायिक तर्क को कभी स्पष्ट, कभी प्रच्छन्न रूप में वर्षों से दुहराया जा रहा है। अतः जब मैंने गोस्वामी जी के भाषण की उपरोक्त पंक्तियाँ पढ़ीं तो सबसे पहले मेरे ऊपर यह प्रभाव पड़ा कि उर्दू को शिक्षा का माध्यम बनाकर काश्मीर में हिन्दी के साथ घोर अन्याय हो रहा है क्योंकि वहाँ की अधिकांश भाषाएँ हिन्दी और संस्कृत के निकट है। दूसरे यह कि काश्मीर शैवों का गढ़ है अर्थात् बहुसंख्यक जनता शिवोपासक है। निश्चय ही मुसलमान शिवोपासक नहीं हो सकते, अतः बहुसंख्यक जनता हिन्दू है और वह भी ब्राह्मण जाति की, क्योंकि इधर जितने काश्मीरी देखे वे सब ब्राह्मण ही पाये। गोस्वामी जी के वक्तव्य में एक बात समझ मे नहीं आई कि यदि उन्नीसवीं सदी तक काश्मीर में शुद्ध हिन्दी के काव्यों की रचना हुई तो उनका उल्लेख हिन्दी-साहित्य के इतिहास में क्यों नहीं मिलता। अतः यह पता लगाने की भी सुविधा न रही कि बीसवीं सदी में आकर काश्मीर में 'शुद्ध हिन्दी के काव्यों' की परम्परा का कहाँ और कैसे लोप हो गया।

पाठकों को मेरी अनभिज्ञता पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। सम्भव है

साधारण पाठक स्वयं इस पर आश्चर्य करने की स्थिति में नहीं हैं और मेरे ही समान गोस्वामी जी और दूसरे प्रचारकों की बातों को भाषा-शास्त्र और इतिहास-सम्मत स्वीकार करके कुछ वैसी ही उलझनों में पड़े हुए हैं जिनमें एक वर्ष पूर्व में पड़ गया था। परन्तु मैं उन दिनों जनपदीय भाषाओं के प्रश्न का नये सिरे से अध्ययन कर रहा था, इस कारण गोस्वामी जी का भाषण मेरे लिए ब्रह्म-वाक्य न बन सका।

इस वर्ष मुझे काश्मीर जाने का अवसर मिला। इन्हीं दिनों राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के प्रधानमन्त्री और मेरे परम मित्र श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन भी श्रीनगर में थे और उनसे तथा श्रीमती सत्यवती मल्लिक से काश्मीरी भाषा और साहित्य पर विचार-विनियम होता रहता था और हम लोग एक दूसरे की जानकारी और खोज से लाभ उठाते थे।

काश्मीर संसार के सबसे सुन्दर देशों मे से है। प्रकृति ने अपना वैभव जितना काश्मीर में बिखेरा उतना अन्यत्र कहीं नहीं। देश-विदेश के असंख्य यात्री प्रकृति के इस वैभव की अनुपम सुषमा और वैविध्य का साक्षात्कार करने जाते हैं और जैसे सम्मोहित होकर लौटते हैं। उनका सौन्दर्य-बोध अपनी रूढ़ सीमाओं को तोड़कर इतना विस्तृत हो जाता है। कि अन्य प्रदेशों के रमणीक स्थान तुच्छ लगने लगते हैं। प्रकृति ने अपनी श्री-समृद्धि के प्रदर्शन का इतना विराट् आयोजन और कहाँ किया है ? काश्मीर के निवासी भी इस अतुल सौन्दर्य-राशि का नित्य साक्षात्कार करते हैं, इससे उनकी सौन्दर्य-वृत्ति अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल बन गई है। इसका अनुमान उनकी दस्तकारियों की कलात्मकता मे मिलता है। कला की इस परम्परा को उन्होंने आज भी अक्षुण्ण रखा है। परन्तु यह उनके जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है कि उनका अपना जीवन—सामाजिक और सांस्कृतिक—उतना ही कुरूप और तुच्छ है। प्रकृति और मानव चिरकाल से काश्मीर मे दो भिन्न धरातलों पर रहते आये हैं। सदियों की गुलामी दोनों के बीच मे एक अभेद्य दीवार बनकर खड़ी रही है और उसने प्रकृति के वैभव पर काश्मीर की जनता के उत्तराधिकार को कभी प्रतिफलित नहीं होने दिया। सांस्कृतिक विकास की असाधारण सम्भावनाएँ दबी पड़ी रह गईं। प्रकृति और मानव के इस वैषम्य को देखकर एक संवेदनशील यात्री की सौन्दर्य-प्रतीति में क्रूर विक्षेप होता है और उसे कवि पन्त की निम्न पंक्तियां स्मरण हो आती हैं—

"प्रकृति धाम यह ! तृण तृण कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत !!"

और जब मैं इस तीखी अनुभूति से अपने को अछूता न रख सका तो मैंने काश्मीरी भाषा और साहित्य की खोजबीन की। गोस्वामी जी और दूसरे प्रचारकों ने

काश्मीर की सांस्कृतिक समस्याओं को जितना सरल बनाकर भ्रान्तियाँ फैलाई हैं, उनकी जाँच करना ही मेरा उद्देश्य न था, परन्तु मैं इस खोजबीन से उस देश के जन-जीवन की वस्तुस्थिति से परिचित होना चाहता था जो प्रति वर्ष देश-देशान्तर से आये सहस्रों यात्रियों के विहार-मनोरंजन, स्वास्थ्य और विश्राम के लिए मुक्त भाव से अपना आतिथ्य प्रदान करता है, पर दूसरों को ये सुख-सुविधाएँ जुटाकर स्वयं अपनी 'सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित' जनता को 'अन्न-वस्त्र-पीड़ित, असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित' रखता है। आज 'नये काश्मीर' के नारे की गूँज से काश्मीरी जनता के जीवन में एक नई चेतना का स्पन्दन मुखर हो उठा है, परन्तु वहाँ के लोक-साहित्य की परम्परा ने उसके जातीय वैशिष्टय को विनष्ट नहीं होने दिया, इस तथ्य से हम सभी अपरिचित ही रहे हैं। उसके योगदान को तो और भी नहीं जानते। अतः इस लोक-परम्परा का परिचय काश्मीर के सांस्कृतिक जीवन और उसकी समस्याओं-सम्भावनाओं को समझने में सहायक होगा, इतना तो साधारणतः अनुमेय है।

काश्मीर राज्य का दो-तिहाई भाग तिब्बती इलाका है, दुर्गम पर्वत-शृंखलाओं के पीछे छिपा। वहाँ अनेक छोटी-छोटी असभ्य जातियाँ इधर-उधर बिखरी हुई हैं जो आस्ट्रो-एशियायी परिवार की बुरुशस्की और तिब्बती-चीनी परिवार की लद्दाखी आदि बोलियाँ बोलती हैं। जब काश्मीर का ज़िक्र आता है तब यह विशाल हिम-प्रदेश अभिप्रेत नहीं होता। काश्मीर तो केवल उस विशाल समतल घाटी और उसकी चतुर्दिक पर्वतमालाओं के रम्य प्रदेश को कहते हैं जिसमें श्रीनगर, गुलमर्ग, पहलगाँव आदि प्रसिद्ध स्थान हैं। पूरे काश्मीर राज्य की अपेक्षा में इस प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग आठवें हिस्से के बराबर है। इसी प्रदेश की भाषा काश्मीरी है।

काश्मीरी भाषा

काश्मीरी भाषा समूची काश्मीर-घाटी में बोली जाती है। काश्मीरी अपने देश को काशीर कहते हैं और काश्मीरी को कौशीर। भाषा का काश्मीरी नाम सम्भवतः संस्कृति के 'कास्मीरिका' से निकला है।

हिन्द-ईरानी शाखा की एक उप-शाखा दर्दी भाषाएँ हैं जिनमें शीना, काश्मीरी और कोहिस्तानी मुख्य हैं। शीना को गिलगिती भी कहते हैं। दर्दी समूह की यह सबसे विशुद्ध भाषा है क्योंकि इस पर दूसरी भाषाओं और संस्कृतियों के प्रभाव नहीं पड़े। कोहिस्तानी भाषा कई बोलियों का समूह है और उन पर पश्तो का गहरा प्रभाव पड़ा है। काश्मीरी पर संस्कृत, फ़ारसी और अरबी का सदियों से प्रभाव पड़ता आया है।

काश्मीरी भाषा-क्षेत्र के उत्तर में शीना का क्षेत्र है। पश्चिमोत्तर में कोहिस्तानी, पश्चिम में लहँदा (पश्चिमी पञ्जाबी) की छिबाली और पूँची बोलियाँ, दक्षिण-

पश्चिम में डोगरी (पंजाबी की बोली) मध्य-दक्षिण में भद्रवाही (पश्चिमी पहाड़ी की बोली), दक्षिण-पूर्व में पाडरी (पश्चिमी पहाड़ी की बोली) और पूरब में पुरिक, लद्दाखी और बाल्ती आदि तिब्बती-ब्रह्मी की बोलियों का क्षेत्र है। काश्मीर की अपनी केवल एक ही बोली है—कश्तवारी। यह काश्मीर-घाटी के दक्षिण-पूर्व के कश्तवार पर्वत-प्रदेश मे बोली जाती है। जम्मू प्रान्त की पीर पन्तसाल पर्वत-मालाओं में भी काश्मीरी बोली जाती है। पोगुली, दोदा की सिराजी, रामबानी और रियासी की बोलियाँ भी काश्मीरी से निकली हैं। कुल मिलाकर काश्मीरी के बोलने वालों की संख्या लगभग १५ लाख है। दर्दी समूह की भाषाओं के विषय में यह कहना कि वे संस्कृत से निकली हैं, उतना ही सत्य होगा जितना यह कहना कि अरबी और फ़ारसी संस्कृत से निकली है। हिन्द-ईरानी शाखा की तीन स्वतन्त्र उपशाखाएँ हैं। ईरानी भाषा-समूह, भारतीय आर्य भाषा-समूह और दर्दी भाषा-समूह। काश्मीर इस तीसरे समूह की एक स्वतन्त्र भाषा है। उसका अपना स्वतन्त्र व्याकरण है। वह ईरानी और भारतीय आर्य के बीच की है। काश्मीरी बहुत पुरानी भाषा है। भारत में आर्यों के आने के पूर्व ही कदाचित् छोटी 'पिशाच' जातियाँ उत्तर-पश्चिम के पहाड़ों में निवास करती थीं। लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व आर्यों ने इन पिशाच (दारद) जातियों को जीतकर उन पर शासन प्रारम्भ किया। आर्यों ने संस्कृत को राजभाषा बनाया और काश्मीरी भाषा को लगभग डेढ़ हज़ार वर्ष तक संस्कृत भाषा और संस्कृति से प्रभावित करते रहे। काश्मीरी ने ये प्रभाव ग्रहण किये किन्तु उसकी गठन में फ़र्क नहीं आया, उसका ढाँचा नहीं टूटा। काश्मीरी जनता ने संस्कृत के प्रबल प्रभाव के आगे अपनी मातृ-भाषा का अस्तित्व नहीं मिटने दिया, यद्यपि ब्राह्मणों ने काश्मीर को संस्कृत का विशाल केन्द्र बना दिया था और संस्कृत में इतिहास, काव्य, प्रेम-कथा और दर्शन के महान् ग्रन्थों की रचना की थी। संस्कृत के दो विश्वविद्यालय भी स्थापित किये गये थे—एक श्रीनगर के निकट 'पाँद्रेठन' नाम से, दूसरा उत्तर की पर्वत-माला में 'शारदा' तीर्थस्थान पर। जब छठी सदी में चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत आया तब उसने सबसे पहले 'पाँद्रेठन' में बैठकर तीन वर्ष तक संस्कृत का अध्ययन किया। आर्यों के आने के बाद भी लगभग एक हज़ार वर्ष तक काश्मीरी की कोई लिपि नहीं थी। ब्राह्मणों ने असभ्य दारद जातियों को शिक्षा देना आवश्यक नहीं समझा। अतः किन कारणों से उन्होंने शारदा-तीर्थस्थान के संस्कृत-विद्यालयों में नवीं सदी के लगभग उत्तर भारत में प्रचलित ब्राह्मी की उत्तरी शैली कुटिल लिपि से काश्मीरी भाषा के लिए 'शारदा' लिपि तैयार की, यह अभी तक अज्ञात है। शारदा का सबसे पुराना लेख ११वीं सदी की एक रानी 'विदारानी' का

एक अज्ञा-पत्र है जो संस्कृत और शारदा दोनों लिपियों में लिखा हुआ है। इस समय यह आज्ञा-पत्र लाहौर के म्यूजियम में सुरक्षित है। 'शारदा' से ही टाकरी लिपि निकली है और गुरुमुखी लिपि के अनेक अक्षरों की बनावट शारदा लिपि के अनुसार है। काश्मीरी का थोड़ा साहित्य शारदा लिपि में मिलता है। आजकल यह लिपि अप्रचलित है और उसका पुन: प्रचलन सम्भाव्य नहीं लगता। इधर फ़ारसी लिपि का भी प्रयोग होने लगा है परन्तु उसमें काश्मीरी की सारी ध्वनियों को व्यक्त नहीं किया जा सकता जिससे पाठ शुद्ध नहीं होता। देवनागरी लिपि में भी काश्मीरी की सारी ध्वनियाँ नहीं व्यक्त हो पातीं, अतः नये जागरण के आधुनिक काश्मीरी कवियों के सम्मुख लिपि का प्रश्न आज भी जटिल बना हुआ है। वे दोनो (फ़ारसी और देवनागरी) लिपियों में आवश्यक संकेत-चिह्न लगाकर अपनी रचनाएँ प्रकाशित करते हैं।

काश्मीर के आर्य शासकों ने काश्मीरी भाषा की सदा उपेक्षा की। इसका प्रमाण कल्हण (११५० ई०) की प्रसिद्ध पुस्तक 'राजतरंगिणी' है। राजतरंगिणी संस्कृत पद्य में लिखी काश्मीर के राज-परिवारों का इतिहास है। सारी पुस्तक में काश्मीरी के केवल दो या तीन शब्द उद्धृत किये गये है, जैसे 'श्रानपटति क्ष्वीना' (स्नान-पट नहीं है। मुहावरा 'क्या तुम्हारे पास स्नान करने के लिए लंगोटी भी नहीं है ?') और 'रंगसह्योलद्युन' (किसी राजा ने अपने सेवक रंगा पर प्रसन्न होकर उसे 'ह्योल' नाम का गाँव इनाम में दिया। अतः अगर किसी साधारण मनुष्य पर कोई विशेष कृपा करे तो उसके लिए काश्मीरी में 'रंगसह्योलद्युन' मुहावरे का प्रयोग होता है।) ब्राह्मणों ने पिशाची भाषा से अपनी संस्कृति को किस निष्ठा से अछूता रखा, इसका अनुमान करना सरल है। हजारों वर्षों तक काश्मीरी जनता के बीच में संस्कृत के महान् ग्रन्थों की रचना होती रही, परन्तु जनता की भाषा का एक शब्द भी उसमें प्रविष्ट न हो सका। साहित्य और काव्य एक विदेशी शासक वर्ग का ही व्यसन-विलास था और इसमे उन्होंने शासित जनों को कोई भाग नहीं लेने दिया। विशुद्धता का इतना आग्रह फ़ारसी और अंग्रेज़ी ने भी कभी नहीं किया। परन्तु काश्मीरी भाषा-भाषी शासितजन अपनी भाषा को संस्कृत के प्रभाव से अछूता न रख सके। संस्कृत के सैकड़ों शब्द, पद और वाक्यांश काश्मीरी में प्रविष्ट हो गये, यद्यपि काश्मीरी के व्याकरण के अनुसार अपने को रूपान्तरित करके। काश्मीरी में 'मन' ढलकर 'वन्द' बन गया। चौदहवीं शताब्दी तक संस्कृत का प्रभुत्व रहा, तो भी निम्न मध्य वर्ग के आर्य (ब्राह्मण) परिवारों मे इस बीच काश्मीरी का प्रवेश हो चुका था और कालान्तर में उसकी मातृभाषा संस्कृत न रहकर काश्मीरी बन गई थी। उसके पश्चात्, मुस्लिम शासकों का अधिकार हो जाने पर फ़ारसी का दौर शुरू हुआ। संस्कृत के

स्थान पर फ़ारसी राज्य-भाषा हो गई। संस्कृत-भक्त ब्राह्मणों ने राजभक्ति दिखाने के लिए फ़ारसी पढ़ी और अब फ़ारसी में अपनी काव्य-प्रतिभा प्रयुक्त का चमत्कार दिखाने लगे। पिशाच जातियों में इस्लाम फैलने लगा और काश्मीर की ६५ फ़ीसदी जनता मुसलमान हो गई। बहुत से काश्मीरी पण्डित भी मुसलमान हो गये। वे अपने नाम के आगे अबभी 'बट' (भट्ट) आदि लगाते हैं। फ़ारसी का इतना प्रभाव बढ़ा कि काश्मीरी भाषा का ख़तोख़याल (नक्शा-स्वरूप) ही बदल गया। फ़ारसी के हज़ारों मुहावरे, कहावतें, शब्द आदि काश्मीरी भाषा में घुल-मिल गये। परन्तु फिर भी काश्मीरी भाषा की गठन, उसका व्याकरण ज्यों-का-त्यों बना रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक फ़ारसी का प्रभुत्व रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि आज की काश्मीरी फ़ारसी प्रधान भाषा है। काश्मीर के तीन-चार फ़ीसदी ब्राह्मणों-हिन्दुओं की भाषा में फ़ारसी के उतने शब्द नहीं होते, परन्तु फिर भी संस्कृत की अपेक्षा अधिक होते हैं।

काश्मीरी का साहित्य

ब्राह्मणों के शासनकाल में काश्मीरी भाषा के लोक-साहित्य की क्या अवस्था थी, इसका अभी कोई प्रामाणिक सूत्र नहीं मिला। १४वीं सदी से पूर्व का लोक-काव्य और लोक-कथा-साहित्य काश्मीरी की श्रुति-परम्परा भी सुरक्षित नहीं रख पायी। सुल्तान जैनुलआबदीन (१४१७-६५ ई०) के राज्यकाल के किसी अज्ञात कवि की लिखी एक कविता 'बाणासुरवध' मिलती है, जिसे काश्मीरी की प्रथम कविता कहा जाता है। सूफ़ी कवि लल्लेश्वरी (या लल्लादे) कदाचित् काश्मीरी की प्रथम कवि हैं। वे एक सन्त कवि थीं, दिगम्बर अवस्था में घूमती थीं और अपने गीत सुनाती फिरती थीं। कबीर के समान ही उन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पूजते हैं। उनके काव्य में शिव-भक्ति की प्रधानता है। लल्लेश्वरी का काल चौदहवीं सदी बताया जाता है। उनके सम्बन्ध में अनेकों किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, और आज भी उनकी यथेष्ट मान्यता है। लल्लेश्वरी के समकालीन ही शायद शेख नूरदीन वली (सूफ़ी सन्त) और सोम पण्डित थे। उनकी रचनाएँ भी मिलती हैं। लल्लेश्वरी के सैकड़ों पदों की एक पाण्डुलिपि 'लल्ला वाक्याणि' संस्कृत शीर्षक के अन्तर्गत तैयार की गई। इस बीच काश्मीर में स्त्रियों ने अधिकतर काव्य-रचना की, पुरुष दरबारों में फ़ारसी बोलते थे और प्रथानुसार काश्मीरी को हेय दृष्टि से देखते थे। काश्मीर की एक मल्का हब्बाख़ातून भी काश्मीरी की प्रसिद्ध कवि थी। अकबर ने जब काश्मीर विजय किया तो हब्बाख़ातून के पति को क़ैद कर दिया। वह तब फ़क़ीर बनकर निकल पड़ी। उसकी अनेक कविताएँ सर्वसाधारण में प्रचलित हैं। हिन्दू राजा सुखजीवन सिन्हा के आठ वर्ष के राजत्व काल (१७८६-६४ ई०) में प्रकाश भट्ट ने रामावतारचरित की रचना की। ये रचनाएँ शुद्ध काश्मीरी में हैं और श्रेष्ठ काव्य में परिगणित की जाती हैं।

इन ग्रन्थों मे कतिपय ऐसी पौराणिक कथाएँ है जिनका उल्लेख राम-काव्य की परम्परा में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। मार्तण्ड के पण्डित परमानन्द (१६वीं शताब्दी) ने राधा स्वयंवर और सुदामा-चरित की रचना करके कृष्ण-काव्य की परम्परा का काश्मीरी भाषा में सूत्रपात किया। राधास्वयंवर काश्मीरी का उच्चकोटि का काव्य है। प्रकाश भट्ट और परमानन्द के काव्य हिन्दुओं की काश्मीरी के काव्य है, अर्थात् संस्कृत-मिश्रित। फिर भी इन दोनों कवियों ने विशुद्ध काश्मीरी को ही अपना आदर्श रखा था। कृष्ण राज़दान ने जो 'शिव-लग्न' लिखी, वह अत्यन्त संस्कृतनिष्ठ काश्मीरी में थी। इस प्रकार हिन्दुओं की काश्मीरी मे अनेक काव्य-ग्रन्थ रचे गये है। परन्तु जिस व्यक्ति ने आज से सौ वर्ष पहले आधुनिक काश्मीरी काव्य की परम्परा का सूत्रपात किया, उसका नाम महमूद गामी है। उसने मुसलमानी काश्मीरी मे फ़ारसी की तर्ज़ पर 'यूसुफ़-ज़ुलेखा', 'लैला-मजनू' और 'खोसरां की शीरी' नाम की रचनाएँ कीं। महमूदगामी बहुत बड़े कवि थे परन्तु चूँकि उन्होंने शुद्ध काश्मीरी में लिखा था इस कारण लोगों ने उनका आदर नहीं किया। ऊँचे वर्गों से उन्हें निरादर और उपेक्षा ही मिली। उनके पश्चात् सैकड़ों कवियों ने काश्मीरी में लिखना प्रारम्भ किया। परन्तु बाद के कवियों ने इस डर से कि लोग उनकी नज़्मों को अनपढ़ों की नज़्म कहकर उनका तिरस्कार न करे, उन्होंने फ़ारसी के शब्दों का बहुलता से प्रयोग करना शुरू कर दिया। फल यह हुआ कि काश्मीरी की शायरी मे 'काश्मीरी' के तो नाम-मात्र को दो-चार शब्द ही होते थे, बाकी फ़ारसी के होते थे। केवल क्रिया-पद, सम्बन्ध-कारक आदि काश्मीरी के रहते थे (जैसे हिन्दी अथवा उर्दू की अनेक कविताएँ संस्कृत अथवा फ़ारसीमय होती है)। फिर भी सैफ़ुद्दीन का 'वणिक-उज्र' और सुनीति पंडित का 'निसाब' आदि इस दौर के अच्छे काव्य-ग्रन्थ है।

सिरामपुर के ईसाई पादरियों ने इञ्जील का अनुवाद १८२१ ई० में शारदा लिपि में प्रकाशित किया था, परन्तु जब वह प्रचलित न हो सका तो फिर उसे फ़ारसी लिपि में प्रकाशित कराया। पण्डित ईश्वरकान्त ने १८७६ ई० में संस्कृत भाषा में काश्मीरी का व्याकरण 'काश्मीर शब्दामृत' के नाम से संकलित किया। बाद में ग्रियर्सन ने इसका सम्पादन करके १८६३ ई० मे 'रॉयल एशियाटिक जरनल' द्वारा प्रकाशित कराया। ग्रियर्सन ने काश्मीरी-अंग्रेज़ी शब्दकोष भी तैयार किया। काश्मीरी में एक प्राचीन भाषा की तरह लोक-कथाओं और कहावतों का प्राचुर्य है। हमारे यहाँ के चारण-भाटों की तरह वहाँ 'रावीस' होते हैं जिनका पेशा ही यह होता है कि वे लोक-कथाएँ सुनाते फिरते है। जे० हिन्टन नोले का (Rev. J. Hinton Knowles), जिन्होंने १८६३ ई० में काश्मीर की लोक-कथाओं का संग्रह किया था, कथन है कि एक ही कथा को कई वर्ष पश्चात् सुनने पर भी कहीं एक शब्द का हेर-

फेर नहीं मिलता। उनका वर्णन इतना शुद्ध होता है कि सुनकर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है।

इधर काश्मीरी जनता में जो थोड़ी-बहुत चेतना जगी है उसके फल-स्वरूप काश्मीरी साहित्य के इतिहास लिखे जाने लगे हैं। प्रो० कौल और प्रो० पृथ्वीनाथ 'पुष्प' आदि काश्मीरी काव्य साहित्य और मुहावरों-कहावतों आदि के गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए खोज-बीन कर रहे हैं।

इस समय काश्मीरी के तीन कवि प्रमुख हैं, महजूर, आज़ाद और मिर्ज़ा ग़ुलाम हसन बेग। इस निबन्ध में मैं कवि महजूर का ही उल्लेख करूँगा, क्योंकि काश्मीरी साहित्य में उनका वही स्थान है जो हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का है। आज़ाद और मिर्ज़ा बेग के लिए महजूर प्रेरक शक्ति और पथ-प्रदर्शक रहे हैं।

कवि महजूर

ग़ुलाम मुहम्मद महजूर काश्मीरी अत्यन्त सरल प्रकृति के, विनयशील, गम्भीर पर विनोदप्रिय व्यक्ति हैं। औसत क़द, गोरा रंग, छोटी पैनी आँखें, कटी-छटी मूछें, अधपके बाल हँसमुख चेहरा—इस सीधे-सादे व्यक्ति का केवल इतना ही वैशिष्ट्य है। अपने ऐतिहासिक महत्त्व के अहङ्कार का बोझ वे सिर पर लादकर नहीं फिरते। जब वे प्रथम बार मुझ से मिलने आये तो चन्द मिनटों में ही घनिष्ठ हो गये। मेरे प्रश्नों का उत्तर देते समय जब मुहम्मद गामी के पश्चात् काश्मीरी कविता में फ़ारसी शब्द के बहुल प्रयोग का प्रसंग आया तो वे सरल भाव से कह गये, "इस सैलाब को रोकने के लिए क़ुदरत ने मुझ को पैदा किया।" स्वर में दम्भ का लेश न था, बल्कि मुख पर विनम्रता कुछ और प्रकट हो आई थी। इस वक्तव्य में आत्म-श्लाघा न थी, केवल सत्य कथन था। इसके बाद हम लोग कई बार मिले। उन्होंने अपनी कविताएँ सुनाईं और उर्दू में उसका अनुवाद करके बताया। एक बार मैं उन्हें श्री सत्यवती मल्लिक के यहाँ ले गया; भदन्त आनन्द कौसल्यायन भी थे और हम लोगों ने कवि महजूर से कई कविताएँ और लल्लेश्वरी और हब्बाख़ातून के विषय में प्रचलित किंवदन्तियाँ सुनीं। एक दिन प्रो० पृथ्वीनाथ 'पुष्प' के यहाँ कवि महजूर की सहायता से पुष्प जी और उर्दू के कहानी लेखक परदेशी जी ने मेरे लिए उनकी कई कविताओं का हिन्दी में अनुवाद किया। इस प्रकार मुझे कवि महजूर को काफ़ी निकट से देखने-जानने का अवसर मिला। निश्चय ही उनकी सरलता से मैं प्रभावित हुआ।

श्रीनगर से २०-२२ मील पर अवन्तीपुर के पास पुलवामा तहसील के मित्री गाम (मित्र ग्राम का फ़ारसी रूप) में १८८७ ई० में महजूर का जन्म हुआ। उनके पिता और पूर्वज पीर वर्ग के थे, थोड़ी ज़मीन भी थी। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। उसके बाद श्रीनगर में अरबी, फ़ारसी और उर्दू पढ़ी। उनके उस्ताद अली गनाई

'आशिक' स्वयं शायर थे। फ़ारसी और काश्मीरी में शायरी करते थे। एक दिन उन्होंने बातों ही बातों में भविष्यवाणी की कि यह लड़का शायर होगा। शिक्षा प्राप्त करके जब महजूर घर वापस लौटे तो मां-बाप ने परम्परागत पीरी-मुरीदी का पेशा सँभालने का आग्रह किया, परन्तु महजूर को किसी भी रूप में अन्य के आगे हाथ फैलाने से घृणा हो चुकी थी। वाल्दैन को अपने बेटे की स्वतन्त्र प्रकृति पसन्द न आई और महजूर को कच्ची उम्र में ही घर छोड़कर भाग निकलना पड़ा। १६-१७ वर्ष की आयु थी। व्यवसाय की टोह में इधर-उधर भटककर वे १९०५ ई० में लाहौर पहुँचे। फिर अमृतसर जाकर खुशनवीसी सीखी। इन्हीं दिनों वे पंजाब के बड़े-बड़े शायरों से मिले, क्योंकि कविता के प्रति उनका बचपन से ही अनुराग था। उस वर्ष उर्दू-फ़ारसी के महाकवि हज़रत शिबली अमृतसर आये। महजूर उन दिनों फ़ारसी में शेर कहते थे। एक मित्र के साथ हज़रत शिबली से मिलने गये और उनको अपनी शेर सुनाई। चन्द शेर सुनने के बाद शिबली ने पूछा, 'आपने क्या तखल्लुस रखा है ?' उन्होंने उत्तर दिया, 'महजूर' (दूर पड़ा हुआ)। शिबली ने पूछा, 'आप किस से दूर पड़े हुए हैं ?' महजूर ने कहा, 'अपने मादर-ए-वतन से।' शिबली ने इनकी शेर पसन्द कीं और अपने पास बैठे अन्य मित्रों से कहा, 'यह अपने वक्त के अच्छे शायर होंगे।'

सन् १९०७ में महजूर श्रीनगर वापस लौट गये। उस समय चौधरी खुशी मुहम्मद 'नाज़िर' मुहतमिम बन्दोबस्त (Settlement Officer) थे। वे स्वयं कवि थे। महजूर को नौकरी की तलाश थी, अतः उन्होंने चौधरी साहब के पास नज़्म में लिखकर एक दरख़ास्त पेश की। चौधरी साहब ने तरुण कवि की प्रतिभा पर मुग्ध होकर उन्हें अपने साथ रख लिया और लद्दाख़ (लासा की सरहद पर) ले गये और बाद को उन्हें पटवारी के पद पर नियुक्त कर दिया। वेतन था आठ रुपया मासिक। तब से वाह्य जीवन-घटना-प्रधान न रहा। केवल बन्दोबस्त से तब्दील करके माल के महकमे में कर दिये गये, पर रहे पटवारी ही। जब पहली बार मुझ से भेंट हुई, उस समय महजूर बडगाम के पटवारी थे। जब अन्तिम बार मिले तब उन्हें पेंशन मिल चुकी थी और इससे उन्हें आन्तरिक खुशी हो रही थी कि अब निर्द्वन्द्व होकर काव्य-साधना में संलग्न हो सकेंगे। अपनी नौकरी के अन्तिम दिनों में वे २०) रुपये माहवार की मोटी तनख़्वाह पाने लगे थे। ३८ वर्ष की नौकरी में काश्मीर सरकार ने अपने देश के सर्वश्रेष्ठ कवि का ढाई गुना वेतन बढ़ाकर यथेष्ट सत्कार-सम्मान कर दिया था। काश्मीर एक देशी रियासत है, वहाँ तक जनतन्त्र की आवाज़ देर से पहुँचती है। सन् १९२८-२९ की बात है, कवि महजूर के शायरी की दुनिया के मित्र पंजाब के नगरों में रहते थे। उनसे महजूर का पत्र-व्यवहार होता था। रियासत की खुफ़िया पुलिस को सन्देह हुआ कि महजूर ब्रिटिश इण्डिया के नेताओं से पत्र-व्यवहार

करता है और उनके विचार काश्मीर में फैलाता है, नहीं तो उसकी कविताएँ इतनी लोक-प्रिय क्यों होती हैं। अतः जाँच-पड़ताल की सुविधा के लिए महजूर को मुज़फ़्फ़राबाद ज़िले में श्रीनगर से १५० मील की दूरी पर काश्मीर घाटी से बाहर भेज दिया गया। जब कोई अपराध सिद्ध न किया जा सका तो पुनः काश्मीर वापस बुला लिये गये। काश्मीर राज्य की सीमा से महजूर केवल एक बार ही बाहर गये हैं, वह भी पंजाब तक। बाक़ी, नौकरी के सिलसिले में काश्मीर की घाटी में ही घूमते रहे हैं।

पंजाब से सन् १६०७ में वापस आकर उन्होंने देहात में ही शादी की, पर थोड़े दिनों बाद श्रीनगर में घर बना लिया। टंकी क़दल के पास उनका एक छोटा-सा मकान है और सिल्क फ़ैक्टरी के पास थोड़ी-सी ज़मीन भी। उनके अकेले पुत्र मुहम्मद अमीन ने अंग्रेजी मैट्रिक तक पढ़ा है। अवस्था लगभग २५-२६ वर्ष है। मुहम्मद अमीन को भी साहित्य और विशेषकर इतिहास से अनुराग है। इस समय वे काश्मीरी की तारीख़ी रिसर्च का काम कर रहे हैं। उन्हें हिन्दी और थोड़ी संस्कृत भी आती है। उन्होंने काश्मीर के सिक्कों का सन् वार संग्रह किया है और प्राचीन मकानों, खण्डहरों और क़ब्रों पर खुदे तकबों की नक़लें तैयार की हैं।

महजूर ने फ़ारसी कविता से प्रारम्भ किया, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। फ़ारसी में उनकी पचास-साठ नज़्में हैं जो अख़बारों में प्रकाशित हुई थीं, पर पुस्तक-रूप में नहीं छपीं। फ़ारसी के साथ-साथ उन्होंने उर्दू में भी काव्य-रचना शुरू की और सन् १६२० तक उर्दू में लिखते रहे। इसके पश्चात् उन्होंने काश्मीरी में लिखना प्रारम्भ किया। पटवारी की हैसियत से देहात की जनता से उनका नित्य-प्रति का सम्पर्क रहता था। यह अपढ़ जनता उनकी फ़ारसी और उर्दू की शायरी को समझ नहीं पाती थी। जिनके बीच में वे रहते थे उनके लिए इनके काव्य-कौशल का कोई मूल्य न था। अतः काव्य के आकाश-महल से उन्हें अपने वतन की ज़मीन पर उतरना पड़ा। मैंने जब महजूर से पूछा कि आपने उर्दू छोड़कर काश्मीरी भाषा में काव्य-रचना क्यों प्रारम्भ की तो उन्होंने निस्संकोच उत्तर दिया, 'उस वक्त क़ौमी ज़हनियत मेरे अन्दर पुख़्ता शक्ल अख़्तियार कर चुकी थी। मैंने अपनी मादरी ज़बान को बेकसी की हालत में पड़ा हुआ देखा। मेरे ज़मीर ने मुझे मलामत की कि मैं अपनी मादरी ज़बान को छोड़कर ग़ैर ज़बानों की ख़िदमत करूँ। और मुझे गुज़िश्ता तारीख़ी वाक़यात ने यह बतला दिया कि मौजूदा पसमन्दा काश्मीरी ज़बान ने आज से सदहा साल पेश्तर बड़े-बड़े अहले कमाल पेश किये। मगर आज इस ज़बान से न सिर्फ़ ग़ैरों को नफ़रत बल्कि खुद अहले काश्मीर इससे नफ़रत करते हैं। और मैंने अहद किया कि मैं अपनी मादरी ज़बान की ही ख़िदमत करूँगा और इसे फिर ज़िन्दा ज़बान बना दूंगा। मैंने काश्मीर के गुज़िश्ता शायर रसूल

मीर और हब्बाखातून मल्का काश्मीर की तर्ज पर ग़ज़लें लिखनी शुरू कीं और मैंने देखा कि थोड़े ही दिनों में मेरी ग़ज़लें मक़बूले आम हो गईं।'

इसमें सन्देह नहीं कि महजूर काश्मीरी जनता के कवि हैं और हब्बाखातून और लल्लेश्वरी के ही समान लोकप्रिय हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी ने सन् १६३४ के लगभग 'मॉडर्न रिव्यू' (Modern Review) में महजूर के विषय में पहले-पहल लिखा। इसके पश्चात् बलराज साहनी ने अंग्रेज़ी की विश्वभारती पत्रिका (नवम्बर १६३८-जनवरी १६३६) में महजूर का एक रेखाचित्र लिखा, जिसमें कवि की लोक-प्रियता पर आश्चर्य प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—

"यदि महजूर आज एक कविता लिखते हैं, तो वह एक पखवारे के अन्दर ही सर्वसाधारण की ज़बान पर होती है। बालक स्कूल जाते हुए, युवतियाँ धान कूटते हुए, माझी डोंगा खेते हुए, मज़दूर अपने अविराम श्रम में लगे हुए—सब-के-सब उस कविता को गाने लगते हैं। एक अशिक्षित देश में, जहाँ ऐसी चीज़ों को छपाकर यदि बेचा जाय तो दस प्रतियों से अधिक न बिकें, उनकी कविता को विस्तारित करने की इस विधि को एक करिश्मा ही कह सकते हैं।"

इतनी लोक-प्रियता होने पर भी श्रीनगर के अभिजात वर्ग ने महजूर के काव्य को कोई महत्त्व नहीं दिया। एक प्रकार से जिसे काश्मीर की सुदूर अज्ञात घाटियों तक का एक-एक बालक जानता था, उससे फ़ारसी और संस्कृत का विज्ञ-समाज एकदम अपरिचित था। काश्मीरी इतिहास के विद्वान् और श्रीनगर म्युनिसिपल बोर्ड के भूतपूर्व चेयरमैन पण्डित आनन्द कौल बामज़ई ने महजूर की प्रथम कविता पोशे मति जानानो (ऐ मेरे फूल-मस्त प्रियतम) का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया और वह अनुवाद अंग्रेज़ी की 'विश्वभारती' पत्रिका में छपा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उसकी प्रशंसा करते हुए महजूर को लिखा कि मैंने आपकी कविता देखी। मेरे विचार और आपके विचार मिलते-जुलते हैं। यदि आप अंग्रेज़ी या बँगला जानते होते तो मैं सन्देह करता कि आपने मेरे विचार ले लिये हैं। मैं आपकी कविता से बहुत प्रसन्न हूँ। और जब महजूर की एक दूसरी नज़्म 'ग्रीसकूर' (किसान-कन्या) का अनुवाद पढ़कर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा कि 'महजूर काश्मीर का वर्डस्वर्थ है' तब काश्मीर के भद्र-समाज के कानों में भी उनके नाम की भनक पड़ी और श्रीनगर के एक कवि-सम्मेलन में महजूर को प्रथम बार निमंत्रित किया गया। वहाँ उन्होंने विनयपूर्वक कहा कि बँगला के टैगोर की यह महानता है कि उन्होंने एक शब्द कहकर मेरे वतन के लोगों को मेरे अस्तित्व का भान करा दिया।

महजूर ने अपनी काश्मीरी रचनाओं के दस-बारह भाग 'कलामे महजूर' के नाम से-फ़ारसी और देवनागरी-दोनों लिपियों में प्रकाशित किये हैं। उन्होंने उर्दू में

प्रारम्भ से लेकर अब तक के कवियों का इतिहास 'तवारीखे शुअराए काश्मीर' भी लिखा है। यह ग्रन्थ लगभग ३,००० पृष्ठों का है, आठ-सौ वर्षों का इतिहास है। सभी हिन्दू-मुस्लिम कवियों की जीवनी, उनका कलाम, उन पर तनक़ीद आदि इसमें दी गई है। डा० इक़बाल ने भी इसके कई भाग देखे थे। अभी तक यह ग्रन्थ अप्रकाशित पड़ा है। महजूर ने ही काश्मीरी-भाषा में 'गाश' (रोशनी) नाम से सब से पहला अखबार निकाला जो एक साल तक चला। उसकी १,५०० प्रतियाँ छपती थीं, परन्तु काग़ज़ के अभाव से उसे बन्द करना पड़ा।

महजूर की कविता के कलागत सौन्दर्य के विषय में कोई निश्चित मत प्रकट करना मेरे लिए अनधिकार चेष्टा होगी। कविता का सफल अनुवाद संभव नहीं होता, कम-से-कम मूल भाषा की शब्द-ध्वनि, पद-विन्यास, लय-संगीत से जो रस-सृष्टि होती है और उससे काव्यार्थ को एक नैसर्गिक आभा और व्याप्ति मिल जाती है— अनुवाद में वे सूक्ष्म प्रभाव अक्षुण्ण नहीं रखे जा सकते। केवल काव्य की वस्तु ही ग्राह्य हो पाती है और चित्र-कल्पनाओं का थोड़ा-सा अनुवाद मिल जाता है। अतः उसका संविधायक दृष्टि से ही विवेचन किया जा सकता है। मैंने मूल में भी महजूर, आज़ाद और मिर्ज़ाबेग की कविताएँ सुनी हैं और उनसे इतना अनुमान तो अवश्य लगाया है कि इन तीनों कवियों ने मधुर संगीत की सृष्टि की है, उनके शब्द कोमल काव्योचित-ध्वनि के हैं। काश्मीरी भाषा-साहित्य के मर्मज्ञों का कथन है कि महजूर की अपेक्षा उनके शिष्य आज़ाद की कविताओं में अधिक परिमार्जन है। उनमें काव्य-सौष्ठव भी अधिक है और विचार-वस्तु तो कहीं ज्यादा पुष्ट-सचेतन, आधुनिक और क्रान्तिकारी है। महजूर पुराने ढर्रे के उस्ताद हैं, उनकी शायरी प्रधानतः प्रेम और रोमांस की शायरी है। वे ग़ज़ल-गो हैं और 'गुलो बुलबुल' तक ही अपने को सीमित रखते हैं, यद्यपि इधर कुछ राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखने लगे हैं, परन्तु यह उनका क्षेत्र नहीं है।

वस्तुतः मैं इस प्रकार की क्षेत्र-सीमाएँ खींचना समीचीन नहीं समझता। अनुवादों से महजूर और आज़ाद के काव्य की आत्मा का जितना कुछ परिचय मैं पा सका हूँ उससे इतना तो निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि उक्त मत अत्यन्त एकांगी और संकीर्ण हैं। महजूर के काव्य में गहरी स्वातन्त्र्य-भावना है जो उनकी प्रेम और रोमांस की अभिव्यक्ति में भी सर्वत्र व्याप्त है। काश्मीर की जनता अपढ़-अशिक्षित, सामाजिक दृष्टि से पिछड़ी और मध्ययुगीन नैतिक भावनाओं और अन्धविश्वासों में आकण्ठ डूबी है। केवल श्रीनगर, गुलमर्ग, पहलगाँव, बारामूला अथवा इतर स्थानों पर ही आधुनिक सभ्यता-संस्कृति के साधन-उपकरण उसे देखने-सुनने को मिलते हैं। कबीर और रवीन्द्रनाथ के विभिन्न युग काश्मीर में समकालीन अस्तित्व रखते हैं। और

एक-दूसरे के पड़ोसी हैं। यह अभिसन्धि किसी भी कवि या लेखक में विभ्रम उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। कवि तीन दृष्टियों से इस वैषम्य को अपनी चेतना में ग्रहण कर सकता है और उससे तीन प्रकार की काव्य-परम्पराओं का सूत्रपात हो सकता है। ऐसा हुआ भी है। उदाहरण के लिए मिर्जा बेग एक राजमन्त्री के भाई हैं, सुशिक्षित और साधन-सम्पन्न व्यक्ति हैं। उस अभिजात वर्ग में पले हैं जो अवकाशभोगी है, जिसे सैर-सपाटे, आमोद-प्रमोद, नाच-रङ्ग, ऐश-आराम की सुविधाएँ प्राप्त हैं। उनकी दृष्टि में श्रीनगर की आधुनिकता काश्मीरी-जीवन का वस्तु-सत्य है, और सब हेच और निकृष्ट है। अतः उनकी कविता दुर्बोध और जटिल होती है, चित्र-कल्पनाएँ दुरूह, भाव-संकेत अव्यक्त, विषय-वस्तु नगण्य पर अभिव्यञ्जना अत्यन्त आधुनिक और वैचित्र्यपूर्ण होती है। मोमबत्ती की लौ की पीली ज्योति, गुलेलाला की लालिमा, बिजली की चमक आदि ऐसी अमूर्त्त-भाव-वस्तु को चित्रांकित करने के लिए वे छन्दों में नये-नये प्रयोग करते हैं और अब मुक्त छन्द में भी रचना करने लगे हैं। एक शब्द में आधुनिक जीवन की उत्तेजना, व्यर्थता और नूतन-प्रियता इन कविताओं में प्रतिबिम्बित है। यही उनका गुण और वैशिष्ट्य है। वे जिस सौन्दर्य की सृष्टि करती हैं, वह अभिनव परन्तु अमूर्त्त है, और अत्यन्त सीमित वर्ग का ही राग-रञ्जन कर पाता है।

इसके विपरीत कवि आजाद अपनी रचनाओं द्वारा एक दूसरे प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। आजाद एक स्कूल के मास्टर हैं, यद्यपि स्वयं ग़रीब हैं, पर शिक्षा-विभाग में होने के कारण साधारण पढ़े-लिखों के बीच में उन्हें रहना पड़ा है। यह वर्ग नौकरीपेशा है और अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं है। नयी जाग्रति भी उसमें फैल चुकी है। कम-से-कम आजाद जैसे संवेदनशील व्यक्ति तो अपने जीवन की विडम्बना के कारणों से अवगत हो चुके हैं। उनकी दृष्टि में इस निम्न मध्यम वर्ग की आधुनिक वर्ग-चेतना ही काश्मीर के जन-जन की चेतना है। यही काश्मीरी जीवन का वस्तु-सत्य है। अतः उनकी कविता में उर्दू के कवि मजाज और अलीसरदार जाफरी की-सी तीव्र मध्यमवर्गी, क्रान्ति-भावना है। वे अपनी कविताओं में काश्मीर के भिखमंगों, दवादारू की तलाश में बीमार बच्चे को गोद में लेकर निकली ग़रीब औरत आदि के अभिशप्त जीवन के चित्र देते हैं। इन मूक प्राणियों में वे अपनी क्रान्ति-चेतना प्रक्षेपित करके उनको वाचाल बना देते हैं और फिर ये अभिशप्त प्राणी वर्ग-सत्यों, वर्ग नैतिकता पर इतने सहज भाव से तीखे कटाक्ष करते चलते हैं, मानों फटे-पुराने चिथड़े लपेटे किसी मार्मिक आघात से भावावेश में भरा कार्ल मार्क्स सड़क पर अपने उद्गार व्यक्त करता फिर रहा हो। आजाद का 'झरना' भी इन वर्ग-सत्यों की मीमांसा करता हुआ आगे बढ़ता है और ऊँच-नीच, मेंड-मुंडेर को देखकर गुस्से से पागल हो उठता है और

'समानता की खोज में निरन्तर जी-तोड़ गति से बढ़ता जाता है। ये कविताएँ निम्न मध्यम वर्ग के शिक्षित समुदाय की मुक्ति-कामना को जगाती हैं और काश्मीर की दीनहीन जनता के प्रति व्यापक बौद्धिक सहानुभूति की अभिव्यक्ति करती हैं। उनमें काव्य-तत्त्व चाहे कम हो, परन्तु उनमें इस समुदाय के निर्व्यक्त भाव व्यक्त हो उठे हैं, उसकी चेतना को वाणी और प्रसार मिला है। आज़ाद की कविता की यही शक्ति है। वह आधुनिक और प्रगतिवादी है, परन्तु काश्मीर की ६० फ़ीसदी अशिक्षित अचेतन जनता के राग-तन्त्र इससे झंकृत नहीं हो पाते; क्योंकि उसकी नयी उपमाएँ, नये रूपक, नये भाव-संकेत उनके लिए अगम्य हैं। यही कारण है कि जनता की श्रुति-परम्परा आज़ाद की प्रत्येक कविता को ग्रहण नहीं कर पाती। फिर भी मिर्ज़ा बेग की अपेक्षा आज़ाद अधिक लोक-प्रिय हैं। उनकी कई नज़्में जनसाधारण में प्रचलित हो गयी हैं।

महजूर की कला इन दोनों कवियों से भिन्न है। उनका अधिकांश जीवन किसानों के बीच गुज़रा है। वे काश्मीर के बनों और घाटियों में घूमे हैं। इन लोगों के हर्षोल्लास, वेदना-व्यथा, आशा-निराशा का उन्होंने निकट से अनुभव किया है, उनकी सुप्त चेतना में जीवनाकांक्षा, आत्म-विश्वास, मुक्ति-कामना, उन्नति-विकास की आशा के कणों को जीवन की सर्वग्राही विडम्बनाओं की राख में मुख दबाये पड़ा पाया है। इस वस्तु-सत्य की दृष्टि से ही महजूर ने नगर के आधुनिक जीवन को देखा है और उनमें यह अनुभूति जगी है कि यदि ये रेडियो-सिनेमा, मोटर-सड़कें, नृत्य-संगीत, अख़बार-पुस्तकें काश्मीर के सर्वजनों को सुलभ हो जायें तो काश्मीर की जनता की जातीय प्रतिभा समूचे पूरब को बेदार कर सकती है। उसे बुलबुल के मज़हब का संदेश दे सकती है। परन्तु सामाजिक-राजनीतिक प्रतिबन्धों और वर्जनाओं में जकड़ी-डूबी जनता बिना आज़ाद हुए अपनी प्रतिभा का विकास कैसे कर सकती है, कैसे आधुनिक बन सकती है, यह प्रश्न उनके सम्मुख बारबार उठा और महजूर ने इस जनता को पहले बेदार करने के लिए उसकी वर्तमान भाव-चेतना को ही अपनी कविता का माध्यम और वाहक बनाया है। इस भाव-चेतना को वे कुरेदते हैं; मुक्ति कामना के अनेक कण अग्निस्फुल्लिंग से चमक उठते हैं और पास के बुझे सुप्त कणों में ज्योति जगा देते हैं। और महजूर एक कुशल कलाकार की अँगुलियों से इन उद्भासित कणों को सँजोकर भावी जीवन की नयी-नयी भव्य आकृतियाँ बनाते जाते हैं। जनता के लिए उस में कुछ अग्राह्य नहीं रहता, उसके अपने मूकभाव मुखर हो उठते हैं और उसकी श्रुति-परम्परा में नये जीवन की कल्पनाओं के ये गीत परम्परागत गीतों के साथ स्थान ले लेते हैं। महजूर अपनी कविता में नये भाव-सौन्दर्य की सृष्टि के लिए अधिकतर उन्हीं उपमाओं और उपमानों, रूपकों और पौराणिक कथाओं, कवि प्रसिद्धियों और कल्पना-चित्रों

का प्रयोग करते हैं जो श्रुति-परम्परा और अनुभव के द्वारा अपढ़ अशिक्षित जनता के मानस में ग्राह्य हो चुकी है, उसकी चेतना का संस्कार बन चुकी है; अतः उसके मन में तुरन्त रस की सृष्टि करती है।

महजूर की कविता लाक्षणिक होती है। वे हमेशा एक नया बाग़ लगाने की बात करते हैं जिसमें बुलबुल को ताजदारी हासिल हो, उसी के मज़हब की पैरवी हो, जहाँ गुलेलाला सिपन्द लगाते हों, मसवक्त शबनम की शराब प्यालियों में उँडेलता हो, सूरजमुखी सोने की अशरफ़ियों के थाल भरती हो; भौंरा नरगिस के फूल पर मस्त होकर मँडराता हो, पोशिनूल (वसन्त का मधुर भाषी पक्षी) मीठा संगीत सुनाता हो, कँटीली अरखल की झाड़ी में भी देवदार के पैवन्द लगते हों, बेद चन्दन की तरह आयुष्मान होता हो; जहाँ बाग़ के गुलेल-अन्दाज़ों ने वारिल को मारभ गाया हो या वारिल स्वयं जिस गुलशन में बुलबुलों के आधीन रहते हों, शाहबाज़ ड्योढ़ीवानी करते हों, चीते मांस खाना छोड़कर परहेज़गार बन गई हों—ऐसा गुलशन जहाँ गुलेलाला और सदाबहार और श्यामसुन्दरी के फूल अपनी सौन्दर्य छटा और सौरभ बिखेरते हों, सूरज की किरणें पहाड़ की ऊँची चोटियों को जगमगाती हों। महजूर आने वाले काल में काश्मीर को ऐसा ही गुलशन बनाना चाहते हैं। प्रकृति के मुक्ति-उल्लास के ऐसे चित्र जनता के लिए अनुभूत हैं, अतः जब महजूर नये काश्मीर या भावी जीवन की चित्र-कल्पनाओं में इसे पिरो देते हैं तो जनता को यह लाक्षणिक अभिव्यक्ति सहज ही ग्राह्य होती है। वह अपने जीवन से उसकी संगति बैठा लेती है कि वास्तविक जीवन में कौन पोशिनूल और बुलबुल है, कौन वारिल और शहबाज़ है और नये काश्मीर में पुराने समाज-सम्बन्ध कैसे उलट जायेंगे। महजूर की ग्रीसकूर (किसान-कन्या) देहात के सुदूर प्रदेशों में भी गायी जाती है। कवि ने ग्रीसकूर को सम्बोधित करके कहा है, "ऐ ही-माल सी सुन्दर किसान कन्या, तू चश्मों के सब्ज़ाज़ार पर लगाई तुलसी की तरह है, फटे-पुराने कपड़ों में भी तू ऐसी दिखाई देती है जैसे बादल के फटे हुए टुकड़ों के बीच चाँद नज़र आता है। तू गिरि-पथ पर गाती हुई निकलती है, परियाँ तेरे गीत की तारीफ़ करती हैं, तेरे सौन्दर्य में बनावट नहीं है; तू बनों, गिरि-निर्झरों की सैर करती, हँसती हुई बाग़ों के बीच से गुज़रती है; कहीं फूलों ने तेरे कान तो नहीं भर दिये? ख़्वाजा-ज़ादियाँ तेरा क्या मुक़ाबला करेंगी! तू फूलों के साथ उठती-बैठती है, ख़्वाजा-ज़ादियाँ खिड़कियाँ और दरवाज़े बन्द करके पड़ी रहती हैं। तेरी आँखें शर्मो हया के पानी से भरी हैं, तुझ में ग़ैरत और ख़ुद्दारी की जलावरी है। फिर भी तेरी पसीने से भीगी भौंहें तलवार का काम करती हैं और हर देखने वाले का दिल मोह सकती हैं। लेकिन ऐ शराब की मटकी, देखना तेरे होशोहवाश ख़राब न हो जायँ, दूसरों को देखकर ऐयाशी की ख़्वाहिश और आलस्य न पैदा हो जाय,

ऐ खूबसूरत किसान की लड़की, मैंने तुझे एक खेत में बाज़ू चढ़ाए गूड़ी करते देखा है। तू वहाँ भी लोलरी की तरह लो लो करती हुई गा रही थी, श्रम से तेरी बाहें तो नहीं थक गईं ?" इस एक कविता ने काश्मीर की किसान-कन्याओं में आत्म-गौरव की गरिमा भर दी है, यह अपनी अस्तित्व-चेतना का प्रथम आधार चरण है। वे इसे गाती हैं और अपनी हस्ती का अनुभव उनमें एक मस्ती भर देता है। इतनी व्यापक सहानुभूति से किसी कवि ने इन किसान-कन्याओं के व्यक्तित्व की प्रकृत सौन्दर्य प्रतिमा अंकित नहीं की। महजूर की काशिर जनानु (काश्मीरी औरत) एक दूसरी प्रसिद्ध कविता है। समूची काश्मीर घाटी में औरतें अकेले और मिलकर उसे गाती हैं। उस कविता में उनकी आत्म-वेदना को वाणी मिल गई है। एक काश्मीरी औरत अपनी सखी से कहती है, 'ऐ सखी, भाग्य की बिडम्बना को क्या करूँ ? मेरे जोबन के देवता को मेरी मुहब्बत नहीं; जोबन के देवता, उस बेपरवाह को मेरी मुहब्बत नहीं।' और फिर उसकी करुण व्यथा आत्म-कथा में फूट निकलती है। बिना किसी की चाह और खोज के उसने जन्म लिया था, घर में उस दिन उदासी छा गई थी। उस पर तरस खाकर उसे पाला गया, कुदरत ने उसे परवान चढ़ाया, माँ-बाप के हाथों तो सास्तियाँ और सदमे ही झेलने पड़े। घर में सिर्फ़ मा ही उसकी हमदर्द थी और वह यही सीख देती रही कि खाना पकाना सीख और बावर्चिन बन, और इस तरह वह कस्बो-हुनर सीखने से दूर रही। उसमें यौवन आया, इस पूँजी को उसने शर्म के सायबान और सब्र की फ़सील के भीतर महफ़ूज़ रखा। चोरों को पास नहीं फटकने दिया। उसमें मुहब्बत की उमंगें उठने लगीं और वह अपने राजा इन्द्र (कल्पित प्रेमी) के लिए इन्द्र (चरखा) का साज बजाकर मुहब्बत के नग़मे गुनगुनाने लगी। लेकिन उसका राजा इन्द्र नहीं आया, किसी पराये के हाथ में वह बख़शीस की तरह दे दी गई। घर वालों ने उसकी राय तक न पूछी। यह भी उसने मंज़ूर कर लिया, झगड़ा नहीं किया। फिर भी जोबन के देवता को उसकी मुहब्बत नहीं। क्या वह नहीं जानती कि उसने ही इस फ़ानी सराय को शोभा दी है, उसके ही गर्भ से वली और देवता पैदा हुए हैं। जब उसने क़याम किया तब यह देश बसा। लेकिन हर तरह के दुख-दर्द वह सहती आई है और अब प्रेम को गोद में लिये फिरती है और चाहती है कि महजूर की तरह उसे पुकारे : 'मेरे जोबन के देवता, तुझे मुझ से प्यार क्यों नहीं ?' इस कविता में उपालम्भ नहीं है, बल्कि विदग्ध हृदय से निकला गहरा प्रतिवाद और मुक्ति-कामना है। इसमें काश्मीर की नारी प्रथम बार अपने जीवन के वैषम्य के प्रति सचेत हुई है और उसकी गहन व्यथा ने अभिव्यक्ति पाई है। महजूर काश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य और संगीत की सृष्टि करते हैं पर साथ ही उसमें कला के माध्यम से नये जीवन का सन्देश भी पिरो देते हैं। उनकी कविता में

कबीर और रवीन्द्रनाथ, दोनों का समन्वित रूप हमें मिलता है और काश्मीर की वस्तुस्थिति की विषम अभिसन्धि को छाँटने के लिए यह शैली मुझे आजाद की शैली से अधिक तुष्ट और उपयुक्त लगी। इस से वे नये जीवन की आकांक्षा को जन-जन की स्वानुभूत आकांक्षा बनाने में सफल होते हैं।

महजूर की एक नज़्म नेशनल-कान्फ्रेन्स ने काश्मीर के राष्ट्रगान के रूप में अपनायी है। उसकी शैली भी यही है। महजूर प्राचीन इतिहास, संस्कृति और काव्य-परम्परा के ज्ञान के साथ अपनी कविता में नयी चेतना, नये दृष्टिकोण का समावेश करते हैं और इससे उनकी कविता में जो क्लासिकल व्यापकत्व, सरलता और माधुर्य आ जाता है वह आजाद अथवा मिर्जा बेग की कविता में दुर्लभ है।

नेशनल-कान्फ्रेन्स ने 'नये काश्मीर' की योजना में काश्मीरी को शिक्षा का माध्यम बनाने का सिद्धान्त स्वीकार किया है। महजूर और आज़ाद इस स्वप्न को बहुत दिनों से देखते आये हैं। परन्तु इस स्वप्न के प्रतिफलित होने के मार्ग में अभी दुर्गम कठिनाइयाँ हैं। काश्मीरी में गद्य साहित्य नहीं के बराबर है, और इस ओर अभी कोई प्रयत्न भी नहीं हो रहा। लिपि का प्रश्न भी जटिल है। इस सम्बन्ध में वहाँ की परिस्थिति देखकर मेरा यह सुझाव था कि फ़ारसी लिपि मे ही आवश्यक सुधार करके, काश्मीरी की विशेष ध्वनियों के लिए नये चिन्ह अथवा अक्षर बनाकर काश्मीरी की लिपि तैयार की जाय और द्वारकाप्रसाद दर, महजूर, प्रो० पुष्प आदि मित्रों ने इस सुझाव के अनुसार कार्य करना भी प्रारम्भ कर दिया है। काश्मीरी-साहित्य की उन्नति के लिए एक अंजुमन की जरूरत भी वे लोग महसूस करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जब जनता के हाथ में वहाँ के शासन की बागडोर आयगी उस समय काश्मीरी अपने यहाँ के राजकाज और साहित्य की भाषा बनेगी, और हिन्दी-उर्दू के झगड़े का कोई मूल्य न रहेगा।

—अक्तूबर १९४५

१४

नयी काश्मीरी कविता

काश्मीर के इतिहास में २२ अक्तूबर, १९४७, दो विरोधी कारणों से स्मरणीय रहेगा। एक तो, उस दिन काश्मीरी जनता और उसकी आज़ादी की तहरीक पर पाकिस्तान की ओर से बर्बर साम्राजी हमला हुआ, जिसकी मिसाल यहाँ के सहस्रों वर्ष पुराने इतिहास में नहीं मिलती, दूसरे, उस दिन आततायियों के विरुद्ध यहाँ की संघर्षशील जनता की एकता और नफ़रत के बीच काश्मीर के सांस्कृतिक नवजागरण ने एक ऐसा संगठित रूप धारण किया जो अभूतपूर्व था।

यह एक कटु सत्य है कि ग़ुलाम देशों में साम्राज्यवाद का रूप सर्वत्र एक-सा ही होता है। अतः काश्मीरी जनता ने भी उसका कोई दूसरा रूप नहीं देखा। वही अन्याय, दमन, शोषण, उत्पीड़न, फूट-कलह, जहालत, अशिक्षा, दुःख-दैन्य, भूख, महामारी, अकाल—काश्मीरी जनता को भी ग़ुलामी की यह नियामतें ही पल्ले पड़ती आईं। शिक्षा-संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान के द्वार उसके लिए सदा बन्द ही रहे। उसे भी अपने इतिहास की जीवन्त परम्पराओं और वर्तमान जीवन के विकराल सत्य की चेतना से वंचित रखा गया, और काश्मीरी भाषा और साहित्य को पनपने का कोई अवसर नहीं दिया गया। सदियों से उसके असह्य जीवन मे निविड़ अन्धकार ही छाया रहा।

और यह भी एक सत्य है कि ग़ुलाम देशों में जनता के साम्राज्यवाद-सामन्तवाद-विरोधी राष्ट्रीय संघर्ष के साथ ही साथ सांस्कृतिक नवजागरण का भी सूत्रपात होता है, जो धीरे-धीरे इस निविड़ अंधकार को चीरकर जन-जन तक नवचेतना की जीवनदायी किरणें ले जाता है; जनता को अपनी दुर्दशा के कारणों से अवगत कराता है और उसकी दबी पड़ी, अव्यक्त अभिलाषाओं और आकांक्षाओं को मूर्त्त, सचेत अभिव्यक्ति देकर उसे अपनी मुक्ति के संघर्ष-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा और मनोबल प्रदान करता है। आज़ादी की तहरीक के समान ही, यह सांस्कृतिक नवजागरण भी दुर्दमनीय होता है, क्योंकि उसके मूल मे न्याय और सत्य की सजग मानववादी भावना होती है।

काश्मीर भी इसका अपवाद नहीं रहा, और बीस वर्ष पहले काश्मीरी जनता जब पहली बार संगठित रूप से राष्ट्रीय संघर्ष के मैदान में उतरी तो उसने सांस्कृतिक नवजागरण के अग्रदूत कवियों के रूप में 'महजूर' और उनके बाद 'आज़ाद', 'आरिफ़'

और 'नादिम' को अपने ही बीच से उठकर आज़ादी के ऐसे उत्प्रेरक तराने गाते हुए पाया, जो इस समय तक अननुश्रुत और अकल्पनीय थे। इस सांस्कृतिक नवोन्मेष का सविस्तार विवेचन मैं 'काश्मीरी भाषा, साहित्य और कवि महजूर' शीर्षक निबन्ध में पाँच वर्ष पहले ही कर चुका हूँ। काश्मीर में सांस्कृतिक नवजागरण का यह प्रथम चरण था, त्वरित और असंगठित, जिसे आक्रमण के आघात ने संगठित होने की सहज प्रेरणा देकर आज एक प्रबल सांस्कृतिक आन्दोलन बना दिया है।

आक्रमण के प्रारंभिक दिनों में ही जब मैं भारतीय लेखकों के डेलीगेशन के साथ यहाँ पहुँचा तो मुझे एक अपूर्व दृश्य देखने को मिला। जैसे यहाँ के जन-जीवन की एकान्तिक निश्चिंतता एक ही आघात से टूट चुकी थी और बन्द चश्मे फूट निकले थे। जनता के उत्साह का वारापार न था। क़ौम की हिफ़ाज़त के लिए देशभक्ति का सागर उमड़ पड़ा था। मज़हबोमिल्लत, हिन्दू-मुसलमान और अपने-पराये के भेदभाव की संकीर्ण दीवारें टूट चुकी थीं। आम लोगों की गुफ़्तगू के अंदाज में निश्छल सौहार्द्र और बड़प्पन का भाव था और हमलावरों और देशद्रोहियों के प्रति उतना ही ती मानवीय क्रोध और घृणा का भाव था। लोग साहस और स्वाभिमान से मस्तक ऊँचा करके सगर्व चलते-फिरते थे। इंसान अपने दैनिक जीवन की व्यक्तिगत क्षुद्रताओं और विषमताओं से ऊपर उठकर मानो हिमालय के उत्तुंग शिखरों को अंक में भर लेने के लिए अपनी सुविशाल भुजाएँ फैला रहा हो। उन दिनों हिन्दुस्तान के विषाक्त वातावरण से निकलकर मुझे लगा कि मैं एक ऐसे खुले, व्यापक मैदान में आ गया था जहाँ इंसान-दोस्ती, एकता और भाईचारे की मलय पवन के शीतल झोंके मन की सारी कटुता-वेदना, तपन-पीड़ा को मिटाकर नया जीवन प्रदान कर रहे थे। उत्साह और स्फूर्ति से उद्वेलित इस वातावरण में देखा कि यहाँ के कवि, लेखक, अदाकार, फ़नकार और चित्रकार अपना 'कौमी कल्चरल महाज़' क़ायम करके संगठित हो गये हैं। वहाँ नयी ओजस्विनी कविताएँ सुनने को मिलीं। काश्मीर में पहली बार राजनीतिक नाटक खेलने की तैयारियाँ होते देखीं। उस समय से एक सहयोगी के रूप में काश्मीर के सांस्कृतिक आन्दोलन के साथ मेरा दिन-रात का सम्पर्क रहा है। इस घनिष्ठ परिचय के आधार पर ही मैंने कौमी कल्चरल काँग्रेस के अधिवेशन में अपनी रिपोर्ट पेश करते हुए कहा कि पिछले तीन वर्षों में काश्मीरी भाषा के कवियों ने जिस कोटि की प्रगतिशील कविता की है उस कोटि की श्रेष्ठ कविता भारत की किसी अन्य भाषा में शायद ही इस बीच हुई हो। यह एक बहुत बड़ा दावा है; कुल पन्द्रह लाख इन्सानों की यह क़ौम तादाद में बहुत छोटी है, और काश्मीरी भाषा के कवियों की संख्या भी तीस-पैंतीस से ज्यादा नहीं है। लेकिन फिर भी इस दावे में सच्चाई है। इस पर काश्मीरी कवियों को भी स्वाभाविक गर्व है।

निरन्तर के अभाव और कष्ट झेलकर भी, राष्ट्रीय संकट के इन सवा तीन वर्षों से काश्मीरी कवि, लेखक, गायक, अदाकार और चित्रकार एक नयी जनवादी संस्कृति का निर्माण करने और उसे आम जनता की सम्पत्ति बनाने के लिए संगठित रूप से जो रचनात्मक कार्य करते आये हैं उसका कुछ अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि प्रारंभ में 'क़ौमी कल्चरल महाज़' और बाद में 'क़ौमी कल्चरल कांग्रेस' ने इस बीच जो तीस-बत्तीस मुशायरे किये हैं, उन्हें लगभग पचहत्तर हज़ार लोगों ने सुना है; जो दस-बारह नाटक शहर और देहात के कोने-कोने में घूमकर लगभग डेढ़ सौ बार खेले हैं, उनको ढाई-तीन लाख जनता ने देखा है; और कला-चित्रों की जो आठ-दस नुमायशें की हैं, उनको भी लगभग तीस हज़ार लोगों ने देखा है !

इन कविताओं, नाटकों, गीतों और चित्रों ने हर जगह जनता को हँसाया और रुलाया है। उनमें अपने वर्तमान जीवन की हक़ीक़तों को प्रतिबिम्बित देखकर सघन वेदना से दर्शकों की आँखों को मैंने पुरनम होते देखा है; उनके चेहरों को क्रोध और घृणा से तमतमाते देखा है, और भावना के इस ज्वार की थपेड़ों के बीच मैंने उनके हृदय की अतल गहराइयों में एक नये सत्य को जन्म लेते देखा है, जिसका स्पन्दन अनुभव करके आशा और संकल्प से उनकी आँखें चमक उठी हैं और मुर्झाये चेहरे खिलकर कान्तिमान हो गये हैं। यह जीवन और मनुष्य का सत्य है। मनुष्य के अन्दर निहित उसकी युगान्तरकारी महान् शक्ति की चेतना का सत्य है; यह देश-देश की शोषित, निपीड़ित श्रमजीवी जनता की आज़ादी, परस्पर दोस्ती और एकता की भावना का सत्य है; यह गुलामी, अन्याय, शोषण और जंग के विरुद्ध अविराम संघर्ष जारी रखने की आवश्यकता का सत्य है; और यह काश्मीर के हर इन्सान के लिए समान-साधन-सुविधा से सम्पन्न एक भरपूर, आज़ाद, सुसंस्कृत, सुखमय जीवन की प्राप्ति के लिए वर्तमान सामंती पूँजीवादी समाज-व्यवस्था को मिटा कर 'नया काश्मीर' की तामीर के दृढ़ संकल्प का सत्य है ! इसी सत्य के बीज यहाँ के कवि, लेखक और कलाकार जन-जन के हृदयों में बोते आये हैं, और उनमें अपने दोस्त और दुश्मन की सही पहचान करने वाले विवेक को जगाते आये हैं ताकि मौक़ा पाकर दुश्मन काश्मीर को एक दूसरा कोरिया बनाकर उनके ऊपर एक नया जेनरल मेकार्थर न लाद दे और इस सुन्दर देश को तबाह और बर्बाद करके वीरान श्मशान न बना डाले। यही सत्य है जिसको कुचलने के लिए साम्राजी तीन वर्ष से काश्मीर का घेरा डालकर घात लगाये बैठे हैं, और झूठे प्रचार, धमकियों और साज़िशों से जिसके पौधों को उखाड़ फेंककर जनता के हृदय में फूट-कलह, निराशा, भय, साम्प्रदायिक द्वेष, जातीय वैमनस्य, अन्धविश्वास, भाग्यवाद जैसी मानव-द्रोही विषैली 'बिच्छू बूटियों' के बीज छितराते आये हैं। सत्य और असत्य, आज़ादी और

गुलामी की शक्तियों के इस संघर्ष में काश्मीरी कवि और कलाकार इस बीच एक क्षण के लिए भी चैन से नहीं बैठ सके हैं।

इस व्यापक पृष्ठभूमि को सामने रखकर ही महजूर, आरिफ़ नादिम, आसी, रोशन, आरिज़, अम्बरदार, बर्क़, राही, ज़ार, महेन्द्र, बहार आदि काश्मीरी कवियों की कृतियों का परिचय प्राप्त करना अर्थ रखता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि उन्होंने जन-जीवन से एकात्म होकर जनता के लिए ही लिखा है, न कि 'स्वान्तः सुखाय' और आत्म-विलास के लिए। और यद्यपि इनमें से हरेक की रचनाओं का अपना व्यक्तिगत वैशिष्ट्य है, परन्तु उनकी भावना व्यक्तिवादी नहीं है। वस्तुतः उनके भाव-विचार-वस्तु सच्चे अर्थों में सामूहिक और जनवादी है।

'महजूर' एक सिद्धि-प्राप्त कवि हैं, उस्ताद हैं और आधुनिक काश्मीरी साहित्य के पितामह हैं। उनके कलाम में क्लासिकी, सादगी, मिठास और अर्थ गाम्भीर्य है। कुछ पढ़े-लिखे लोगों की दृष्टि में महजूर 'गुलोबुलबुल' के शायर हैं। यह एक भ्रामक और निराधार आरोप है। वस्तुतः महजूर के लिए काश्मीरी अवाम जैसे उनकी अपनी सन्तान है, जिन्हें वे सदा 'बुलबुल' और 'गुलेलाला' से उपमित करते आये हैं। उनके यहाँ 'बुलबुल' आज़ादी का गायक और 'बाग़वान' अर्थात् जन-नेता भी है। यह उनकी अपनी काव्य-परम्परा है और उनकी गज़लों को काश्मीरी धुनों में गाने वाले असंख्य गायक और श्रोताओं के लिए यह लाक्षणिक पदावली पूरी तरह बोधगम्य है। काश्मीर में 'बुलबुल' किसान-मज़दूर की झोंपड़ियों में घोंसला बनाकर बारहों मास निवास करते हैं, उनके दुख-दर्द, हँसी-खुशी, आशा-निराशा, प्रेम-उल्लास के सहभागी हैं, उनके बच्चों के साथ क्रीड़ा-कौतुक करते हैं और उन्हें ही अपने मधुर गीत सुनाते हैं—पोशिनूल और कस्तूर जैसे अभिजातवर्ग के परिन्दे नहीं हैं, जो केवल मौसमे बहार का आनन्द लूटने के लिए काश्मीर पहुँचते हैं और तब भी जिनका संगीत दुर्लभ और दूरागत होता है। 'गुलेलाला', वह जनता की ही तरह अमर और स्वयंभू है, प्रतिवर्ष धान, सरसों, अलसी और गेहूँ के हरित-पीत-श्याम खेतों में जिनकी शोख़ लाली का तरंगित सागर एक अनुपम सौन्दर्य-छटा बिखरा देता है। बुलबुल और गुलेलाला की तरह जिनके हृदय संगीतमय और सहज-सुन्दर है, उन सरल भोलेभाले बालगोपाल काश्मीरी जनों को महजूर के हृदय की समस्त वात्सल्यपूर्ण ममता प्राप्त हुई है। महजूर अपनी कविताओं में अपने शिशुवत् प्रिय-जनों के दुखी दिलों का वेदन सुनकर उन्हें ढाढस बँधाते हैं, उनके स्वाभिमान को जगाते हैं, उन्हें एकता का पाठ पढ़ाते हैं और आत्म-निर्भर बनकर आज़ादी के पथ पर अग्रसर होने का आदेश देते हैं कि 'ऐ बुलबुल ! तू अभी पिंजरे में क़ैद और नालां है, खुद ही अपने को आज़ाद करने का सामान पैदा कर। अगर

फूलों की बस्ती फिर से बसाना चाहता है तो जेरोबम (मतभेद) छोड़कर···बादलों की गरज और तूफ़ानों का ज़ोर पैदा कर !'

आक्रमण के दिनों हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में साम्प्रदायिक दंगों का ज़ोर था और दोनों ओर के प्रतिक्रियावादी काश्मीर में भी इस बर्बरता की आग भड़काने पर तुले थे। उस समय महजूर ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'मिलचारुक सबक़' (इत्तेहाद का सबक़) में अपने इतिहास की मानववादी परम्पराओं की याद दिलाते हुए जनता को ताकीद की कि जिस तरह 'कुद गोजवारी' ने एक पंडित पर जान दी थी और 'सिरिज काक' ने एक मुसलमान को अपने बेटे के मानिंद पाला था, उसी तरह अपने दिलों को आपस में एक करके 'वतन' के 'दोस्त और दुश्मन' को पहचान लो। 'इत्तिफ़ाक़' क़ायम रखने से तुम्हें कोई 'ज़ेर' नहीं कर सकेगा, इसलिए ख़बरदार 'निफ़ाक़' पैदा करके 'किसी को अपने ऊपर ग़ालिब न आने देना'—'भाई को भाई से रंजीदा रहना' शोभा नहीं देता। 'इत्तेफ़ाक का यह सबक़ महजूर ने दिया है, इसे याद रखना और आपस मे एक दूसरे को सुनाना !' काश्मीरी जनता ने यह मानववादी सबक़ याद भी रखा और असंख्य कंठों से गा-गाकर इसे एक दूसरे को सुनाया भी।

'तरानये मजदूर' में महजूर ने पहली बार आज़ादी के संघर्ष को मजदूर किसानों के वर्ग-संघर्ष के साथ इतनी स्पष्टता से सम्बन्धित किया है। निरन्तर के ज़ुल्मोतशद्दुद से पामाल और बदहाल मजदूरों को ग़फलत की नींद से जगाते हुए उन्होंने कहा कि 'उठ, नजर उठाकर देख कि सुबह हुई है और इन्कलाब का सूरज तुलू हो गया है; तेरा जला बाग़ फिर से खिल उठेगा—नयी बहार यही पैग़ाम लेकर आई है—"ऐ मजदूर किसानो ! उठो, आपस में मसाफ़ा कर लो। अपना 'हक़' हासिल करो, दुनियाँ की दौलत तुम्हारी है, दरख़्त तुम्हारे हैं, ज़मीन तुम्हारी है, राज तुम्हारा है, ताज तुम्हारा है। अब इन्साफ़ और सच्चाई का ज़ोर है, ज़ुल्म का दौर गुज़र रहा है, पुरानी दुनिया फ़ना हो रही है, अब तुम 'नयी दुनिया' तैयार करो। मज़हबे मिल्लत, जात-पाँत के भेद-भाव मिटा दो, क्योंकि 'मजदूरों की क़ौम एक है।" पिछले तीन वर्षों के काश्मीरी काव्य में मजदूर-किसानों की वर्ग-चेतना को उभारने वाली ऐसी कविताओं की ही बहुलता है।

गुलाम देशों में स्थापित पूँजीवादी सामंती व्यवस्था की दुरंगी नैतिकता, दुरंगे इन्साफ़, शोषण-दोहन और जंगबाज़ साम्राजियों की तबाहकारियों का कच्चा चिट्ठा खोलते हुए महजूर ने जनता की मर्मान्तिक वेदना के एहसास को अपनी कविता 'गुलेलाला' में अत्यन्त मार्मिकता से व्यक्त किया है;

'लालो, लालो, हा गुलेलालो,·· ऐ बाल गोपालो·· तुम्हारे नाज़ुक कलेजे को

किस हादसे ने आज़ार पहुँचाया है ? क्या वहाँ भी इन्सान को मारने के लिए इन्सान हथियार बनाता है ? क्या वहाँ भी औरतों, मासूम बच्चों पर इन्सान बमबारी करते हैं ? क्या वहाँ भी चोर बाज़ार है, दुनियादार ही दीनदार करार दिये जाते है, बेज़र इन्सान बेज़बाँ और नादान है, और ज़रदार आक़िल माना जाता है; क्या वहाँ भी ज़मींदार (किसान), काश्तकार और 'नानगार' है और बड़े-बड़े 'चकदार' है; काहिल ऐश करते है और कामगार फ़ाके मरते है; सच बोलने वाले क़ैद में सड़ते है और चुग़लख़ोर और चापलूस मोटरों पर सैर करते है। क्या वहाँ भी वक्त का इन्साफ़ चन्द लोगों का ताबेदार है, और ज़लील हो चुका है। क्या वहाँ भी महजूर (जैसा बुलन्दपाया शायर) तनहा, दूर बैठकर मुर्गियों को मोती चुगाता (रहता) है।

वर्तमान समाज के वैषम्य की पूरी तस्वीर आँखों के आगे साकार हो जाती है। इस सोज़भरी कविता का चेतनाप्रद प्रभाव तो केवल सुनकर ही ग्रहण किया जा सकता है। महजूर की एक और कविता 'अलबइन' (हल) इस बीच अत्यन्त लोक-प्रिय हुई है। यह 'खेत की मिट्टी में से लाले-बदख़्शाँ खोद लेने वाले' किसान के प्यारे 'अलबेले हल' का गीत है।

आक्रमण के प्रारंभिक दिनों में प्रेमनाथ 'परदेसी' के उर्दू गीत 'क़दम-कदम बढ़ेंगे हम, महाज़ पर लड़ेंगे हम' के साथ-साथ काश्मीरी भाषा के दूसरे बड़े शायर मिर्ज़ा 'आरिफ़' के नये गीत 'सोन कारवाँ' (हमारा कारवाँ) को भी बच्चे, बूढ़े, जवान गली-कूचे में अपने आप गाते फिरते थे। यह गीत मिर्ज़ा आरिफ़ की अमूर्त्त, बुद्धि-तत्त्व-प्रधान दुरूह काव्य-शैली मे दिशा-परिवर्तन का संग-मील है। इसके पश्चात् की सरल, भावपूर्ण कविताओं म सहज ओज और मूर्त्तिमत्ता है, जिससे उनमें एक नया निखार और व्यापकत्व पैदा हो गया है। इस बीच मिर्ज़ा आरिफ़ की अनेक कविताएँ लोक-प्रिय हुई है उनमें से एक कविता 'हरम के क़ाबिल ही समझी जाने वाली', 'हमेशा से सुस्त क़दम' काश्मीर की उस औरत का 'जंगी तराना' है जो क़ौम पर छाये संकट के समय रण-चण्डिका की तरह हुंकार भरकर निकल पड़ी थी कि 'जिनको मेरे ख़्वाब आते हैं, मे उनके ख़ून से मेंहदी रचाऊँगी !' एक कविता 'इन्क़लाबन अन इन्क़लाब' है जिसमें 'ज़ुल्म को ख़त्म करना ही सबसे बड़ा सबाब है; इसलिए इन्क़लाब पैदा कर, इन्क़लाब पैदा कर' का गर्जन है। एक कविता 'म्यानि मिसकीनों' है जिसमें अपने ग़रीब और पसमन्दा किसान-मज़दूर रफ़ीक़ों के 'जिस्म पर लगे घावों' को देखकर 'आरिफ़' मानवीय सहानुभूति और करुणा से भर जाते हैं और उन्हें संघर्ष-पथ दिखाकर प्रेरित करते है कि 'तू जिस तरह ज़मीन का सीना चीरता है उसी तरह ज़ुल्म का सीना भी चीर··· ऐ मेरे ग़रीब दोस्त, हथौड़ा उठा और आसमान का ख़म सीधा कर !'

एक और नज़्म है जिसमें उन्होंने सवाल पूछा है कि जो 'मुहब्बत को रुसवा' करके बाज़ारों में अस्मत की दुकानों पर शर्मोहया के मोती तोड़ डालते हैं, फ़ितनों और फ़रेबों को उसूलों का नाम देकर ग़रीबों को मारते हैं; दीवारों पर मज़लूम के ख़ून का रोग़न करके शीशमहलों मे बैठकर इन्सान के लहू को शराब के मानिन्द नोश करते हैं—क्या यही इन्सान ज़मीनों और आसमानों में अशरफ़ुल-मख़लूकात (सब जीवों मे श्रेष्ठ) है ?' 'आरिफ़' को यह झूठ और फ़रेब मंज़ूर नहीं है और वह उस 'नये कारवाँ' के साथ है जो इन्सानियत का 'नया झंडा, 'नया वलवला' और 'नया नूर' लिये आगे बढ़ रहा है और जो सही मानी में 'अशरफ़ुल-मख़लूकात इन्सानों' का 'कारवाँ' है ! बानहाल की चोटी पर किसी सामान ढोने वाले अज्ञात मज़दूर की क़ब्र को देखकर लिखी गयी मिर्ज़ा 'आरिफ़' की एक पुरानी मार्मिक कविता 'बानहाज बाल, (बानहाल की भेंट) और शालबाफ़ों के जीवन की क्रूर विडम्बना को व्यक्त करने वाली चुभती कविता 'दुस्सा' भी इस बीच काफ़ी लोक-प्रिय हुई है ।

दीनानाथ 'नादिम' इस नये दौर के सबसे सचेत और ओजस्वी कवि है, और यद्यपि उनकी कविता में कभी-कभी वह कसाव और संगठन नहीं होता जो साधारणतया महजूर की कविता में पाया जाता है, और पुनरावृत्ति-दोष के साथ-साथ उनके वर्णन अक्सर प्रगल्भ, अतिरंजित और अलंकारिक हो जाते हैं, जिससे प्रभाव केन्द्रीभूत न हो पाकर बिखर जाता है, फिर भी नादिम की प्रतिभा 'जोश' मलीहाबादी की तरह अत्यन्त प्रखर और शक्तिशाली है। कह सकते है कि नादिम के रूप मे काश्मीरी भाषा के 'शायरे इन्क़लाब' का नवोन्मेष और विकास हो रहा है। उनकी वाणी मे जो ओज और दर्प है, वह काश्मीरी कविता में अन्यत्र दुर्लभ है।

नादिम ने काश्मीरी काव्य में अनेक नये प्रयोग भी किये हैं। उन्होंने परंपरा से हटकर अतुकान्त छन्दों का प्रयोग किया है और मुक्त-छन्द कविताएँ भी लिखी है, और बराबर वज़न और प्रास से युक्त शब्दों की अटूट समताल से चमत्कार और ओज की सृष्टि करने वाली ध्वनि-प्रधान पर सार्थक कविताएँ भी लिखी है और गीति-नाट्य भी रचे हैं। ये प्रयोग नये हैं और एक पिछड़े देश में अपने समय से पहले ही किये गये-से लगते है, क्योंकि यद्यपि क़ौमी कल्चरल कांग्रेस ने पिछले वर्ष से काश्मीरी भाषा में 'कोंगपोश' (केसर का फूल) नाम से एक मासिक-पत्र प्रकाशित करना शुरू कर दिया है और यथावसर नयी कविताओं के संकलन भी छापे हैं, लेकिन ६५ फ़ीसदी अपढ़-अशिक्षित जनता में तो आज भी श्रुति-परम्परा ही काव्य और संस्कृति की वाहक है, जिसके कारण वह कविताएँ ही लोक-प्रिय हो पाती हैं, जो न केवल काश्मीर के लोक-संगीत की विलम्बित लयों

के अनुसार हों, बल्कि जो काश्मीरी जनों के सुपरिचित जीवन की भाषा में नये भाव-विचारों को उनकी चेतना में मूर्त्त कर दे और एक बार सुनकर ही जिनके सारवाही, भावना-सिक्त शब्द उनके मानस मे बार-बार प्रतिध्वनित होकर सहज स्मरणीय हो जायें और सुख-दुख, श्रम-विश्राम के क्षणों में उनके नित्य-प्रति के जीवनानुभव को बोधगम्य बनाकर सार्थकता का आलोक प्रदान करने वाले चेतना-दीप बन जायँ। इसी कारण नादिम और दूसरे तरुण कवियों के नये काव्य-प्रयोगों का रसास्वादन अभी सभाओं और मुशायरों मे कवियों के मुख से सुनकर ही संभव हो पाता है, आत्म-पाठ और आत्म-गायन द्वारा नहीं।

नादिम ने इस बीच काफ़ी काव्य रचा है। आक्रमण के प्रारंभिक दिनों में उनकी अन्यान्य कविताओं में से 'नाराए इन्क़लाब' सब से अधिक लोकप्रिय हुई थी। उसमें उन्होंने काश्मीर के नौजवानों को हमलावरों के तीर और तुफ़ंग की परवाह न करके क़ौम की हिफ़ाज़त के जंग में जान देकर जावेदां बन जाने को ललकारा था। इनके पश्चात् अपनी सशक्त कविता 'इरादा' में उन्होंने काश्मीर का फ़ैसला करने के लिए सात समुन्दर पार बैठे साम्राजियों की साजिशों की तरफ़ इशारा करते हुए लोगों की बेताबी को व्यक्त किया कि मेरे जंगल जल रहे हैं··· फूल रो रहे हैं, मुझे क़रार कहाँ से आये ? मैं कौसिलों और फ़ैसलों का क्यों इन्तज़ार करूँ ? मुझे आग भड़कानी है तो अंगारों से क्या डरूँ ?' 'सोंत हर्द' (बहार और खिज़ां), 'प्रसुन छुम' (मुझे पूछना है) और 'सोविज़' (वह घड़ी) मेरी दृष्टि में नादिम की सर्वश्रेष्ठ कलात्मक रचनाएँ हैं, और संभवतः काश्मीरी काव्य-साहित्य में अपना स्थायी मूल्य रखेंगी। 'सोंत हर्द' मे नवागता बहार का चित्रण अत्यन्त कोमल और सूक्ष्म वस्तु-चित्रों द्वारा हुआ है, जिससे बहार का उन्मादकारी सौन्दर्य और प्रकृति का हर्षोल्लास पाठक की कल्पना में सजीव और साकार हो उठता है, पर उसके पश्चात् ही काश्मीरी जनता के विडम्बनापूर्ण जीवन का चित्र मन में एक क्रूर विक्षेप और व्याघात पैदा करता है—कसक-सी महसूस होती है कि इस ओर जन-जीवन पर खिज़ाँ छायी है। नादिम इन दोनों विपरीत दशाओं के विषम अनुभव की समन्विति इस सक्रिय भाव से करते हैं कि 'नई बहार जम्हूर का ताज पहनकर चमन को नया दहेज़ देने निकली है और नादिम अपने हृदय का जलाव लिये आज सच को जगाने आया है।' 'प्रसुन छुम' में कवि का मानव-दर्प और भी अदम्य और उदात्त हो गया है। 'कहते हैं कि मशरिक में गाश (रोशना) खेलने लगी है; सियाह बख़्तों के दामन में मोती टाँकने लगी है। कहीं यह पिंजरों के दरवाजे तो नहीं खोलने आई ?—मुझे आसमान पे चढ़ के सितारों से पूछना है !' इसी उदात्त अन्दाज़ म यह कविता आद्यन्त चलती है,

श्रौर वर्ग-समाज के अन्याय और वैषम्य का तीखा चित्र खींचता हुआ और नई नवेली बहारों, ख्वाजाज़ादियों के गले में लटके मोती के हारों, मग़रूर सरमाये-दारों और सामंती ताजदारों की छाती पर चढ़के जवाब तलब करता हुआ कवि अन्त में अपने हमनवा अदीबों और फ़नकारों की ओर मुख़ातिब होता है: 'एक तरफ़ दौलत, हशमत और राहत है। दूसरी तरफ नंगे जिस्म, तेही-दामनी, फ़ाक़ा और ग़ुरबत है। वह किस जगह अपनी ग़ैरत का क़लमदान लिये बैठे हैं, मुझे अदीबा और फ़नकारों से पूछना है।' 'सोविज' (वह घड़ी) में नादिम ने 'उस नेक घड़ी की उदात्त कल्पना की है जिसमें अपने जीवन और अपनी महत्ता की चेतना पाकर लोगों की शक्ति इतनी दुर्दमनीय और अपार होजायगी कि उनकी 'ग़ैरत तान के छाती बढ़े और बढ़ के आँधी से लड़े' 'टूट जायें दांत बादे-तुन्द के' 'ज़र्द पड़ जाये रूए आसमाने तीरो-तार'—का; और जिस घड़ी मेरी (अर्थात लोगों की) 'हिकमत बन के मेमारे जदीद', 'बख़्त टूटा हुआ इंसा का करेगी तामीर', 'बेज़बानों को ज़बां बख़्शेगी' जब 'तदबीरों के ख़म होंगे दुरुस्त', 'कट के गिर जायेगा तौके लानत, और ज़ंजीरें हों सब चकनाचूर।' उस नेक घडी मे 'सर बुलन्द हो के रहेगा मज़दूर' और 'नूर अफशां होगी ग़रीबों की शिकस्ता तक़दीर।' इसमें संदेह नहीं कि इन्सान की अज़मत के उस आलम में 'चाँद-सितारे आसमान से उतर कर नादिम जैसे आज़ाद इन्सान (अवाम) का सर चूमेंगे !'

सामन्ती गुलामी का अन्त करके किसानों को ज़मीन का मालिक बनाना, यहाँ के राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रोग्राम रहा है (और इस समय नये ज़रई क़ानून के द्वारा इस प्रोग्राम को अमली जामा पहनाया जा रहा है)। इसी प्रकार सोवियत् रूस और नये चीन के विरुद्ध काश्मीर को साम्राजियों का फ़ौजी अड्डा न बनाने देने का दृढ़ निश्चय भी यहाँ के राष्ट्रीय नेता बार-बार प्रकट करते आये हैं। फिर भी साम्राजी अपनी कोशिशों से बाज़ नहीं हैं और कभी बँटवारे के लिए, कभी यू० एन० शासक के लिए तो कभी कामनवेल्थ की फ़ौजें लाने के लिए तरह-तरह के जाल बिछाते आये हैं। निश्चय ही काश्मीरी जनता के लिए 'अमन' का सवाल ज़िन्दगी और मौत का सवाल है। इन दोनों प्रश्नों पर अधिकतर काश्मीरी कवि बार-बार और हर नयी परस्थिति से जनता को आगाह करने के लिए लिखते आये हैं। पहले प्रश्न पर नादिम का गीति-नाट्य 'ज़मीन तसइन्ज़इ यमि कमाव खेत' (यह ज़मीन उसकी है जिसने खेत कमाये) जो पहाड़ी नृत्य 'भाँगड़ा' के साथ मिलाकर हर जगह खेला गया है, और दूसरे प्रश्न पर उनकी तीन कविताएँ 'जंगबाज़ ख़बरदार' 'ब ग्ब न अज़' (मैं आज नहीं गाऊँगा) और 'वावन वुननम' (वायु ने कहा) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'जंगबाज़ ख़बरदार' एक खुली चुनौती है—'ठहर ओ

लईन !' यह हिरोशिमा नहीं। देख, आबशार गरज रहे हैं ..इस नौबहार को देख···यह वतन मेरा बेदार है इसके उस्तवार इरादे को देख।···फ़साद, फ़ितना, कीना, बम और मशीनगन लेकर आगे क़दम न बढ़ा !' 'ब ग्व न अज़' (मैं आज नहीं गाऊँगा) में नादिम इस 'उस्तवार इरादे' को अधिक मूर्त्तता प्रदान करते हैं और घोषणा करते है कि जब तक 'जंगबाज़ जालसाज़' देश पर घात लगाये बैठे हे 'मैं नहीं गाऊँगा'। (आज) गुलों, बुलबुलों, सुम्बुलों, मसवलों का पुर ख़ुमार मुहब्बत का मतवाला, मधुर-मधुर···नग़मा कोई !' यह बहुत लम्बी कविता है, और मेरी दृष्टि में इसके मूल में किंचित् नकारात्मक दृष्टिकोण है, जो अन्ततः एक ऐसी आवेश-मयी शैली को जन्म देता है जिसमें कला का स्थान अतिशयोक्ति-पूर्ण वक्तव्य ले लेते हैं। 'वावन वुननम' (वायु ने कहा) अपेक्षाकृत अधिक गठित और तारतम्यपूर्ण कविता है और इसमें साग-सब्जी उगाने वाले मलियारों, कारखानों में काम करने वाले मज़दूर (जुलाहों) और खेतों में काम करने वाले किसानों की श्रम-क्रियाओं के सुन्दर भाव-चित्र हैं—'वायु इन सब के पास से होती हुई आई हूँ और उसने सभी कामगारों और मेहनतकशों का यही नारा सुना है कि 'अर्ज़ि कश्मीर अपनी इसकी नेक तक़दीर अपनी'···'सहें कैसे बारूद घर यह वतन हो · सहें कैसे दोज़ख़ यह बाग़ेअदन हो !'—इस कविता को भी अब एक नृत्य-रूपक बनाकर अभिनीत किया जाता है। इन कविताओं को पचासों हज़ार लोगों ने स्वयं कवि की कड़कती हुई सशक्त आवाज़ से सुना है। नादिम ने इस वर्ष मेरे स्थान पर क़ौमी कल्चरल कांग्रेस का कार्य-भार सम्हाला है, और वे उसके प्रधान मन्त्री हैं।

तीन वर्ष पहले ही काश्मीरी जनता प्रसिद्ध इन्क़लाबी शायर 'आज़ाद' को सदा के लिए खो चुकी थी कि पिछले वर्ष उसे मज़दूर शायर अब्दुल सत्तार आसी' के निधन का आघात भी सहना पड़ा। अन्तिम दिन तक आसी अपने रफ़ीक मज़दूरों को ज़ुल्मोसितम के विरुद्ध उभारते आये। मृत्यु-शैया पर लिखी उनकी अन्तिम कविता की पहली पंक्ति भी यही है कि 'कान धर के सुन ले कि मज़दूर पर क्या-क्या गुज़ुरती है।'

इस बीच जो और अनेक तरुण प्रतिभाएँ सजग हो गयी हैं उनमें नूर मोहम्मद 'रोशन', रहमान 'राही', नन्दलाल अम्बारदार, गुलाम नबी 'आरिज़', अब्दुल हक़ 'बर्क़', श्यामलाल दर 'बहार', श्रीधर रैना 'ज़ार', महेन्द्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'राही' और महेन्द्र उर्दू के कवि थे, लेकिन अपनी जनता के अधिक निकट आने के लिए उन्होंने अब काश्मीरी नज़्में कहना शुरू कर दिया है।

नंदलाल अम्बारदार ने अपनी कविता 'नवाब' में जागीरदारों के महलों, बारादरियों, ईरानी क़ालीनों, सोने-चाँदी के बर्तनों, और बाग़ बग़ीचों, की तरफ़

इशारा करके एहसास जगाया कि 'देख इन चीज़ों में किस क़दर बेकसों का लहू चमक रहा है। उनके यहाँ इसी लहू का चिरागाँ है और इसी के कुमकुमे रोशन हैं' और फिर इस पुराने निज़ाम को तहोबाला करने के लिए उन्होंने मर्दे मैदान बन के निकलने को ललकारा। 'मज़दूर सुन्द इराद:' कविता में नूर मोहम्मद 'रोशन' का बेदार मज़दूर अब 'तक़दीर के फ़रेबों' में पड़ने को तैयार नहीं है, बल्कि उसका खुला ऐलान है कि 'मैं तुम्हारी सितमगारी के ऐवानों को मिस्मार कर दूँगा। अब मेरी पीठ पर कोई ज़रदार सवार नहीं रह सकेगा।' अब्दुल हक़ 'बर्क़' का 'ग्रूस' (किसान) भी शोषण से तिलमिलाकर कहता है कि 'मेरे फ़र्श पर वह जो चटाई बिछी थी, (चकदार) उसको भी गोल करके उठा ले गये। वह क़हर से डरते क्यों नहीं ?'

श्यामलाल दर 'बहार' की 'गौरिवाजनि' (सिंघाड़े बेचने वाली) जो गली-गली में सिंघाड़े बेचती हुई अपने कठिन जीवन की मार्मिक कहानी सुनाती फिरती है, वह भी इस कटु सत्य से आगाह है कि 'हड्डी-तोड़ परिश्रम करके भी मैं अपने बाल-बच्चों को भरपेट खिला तो नहीं सकी हूँ ? और जानती हूँ कि 'मेरी मेहनत की क़द्र पैसेवाला कैसे जान सकेगा वह आज तक इस बेकसी के बाज़ार से (सिंघाड़े बेचते हुए !) तो नहीं गुज़ारा ?' फिर भी उनकी ही गलियों में टेर लगाने को विवश है—'तुम्हें सिंघाड़े तो नहीं चाहिएँ, सिंघाड़े तो नहीं चाहिएँ !' इसीलिए सूक्ष्म भाव-चेतना के उदीयमान कवि रहमान 'राही' एक सुन्दर नज़्म में जनता को आवाज़ देते हैं : 'त्स् कथ छुक वं प्रारां त्स क्यह छुक वं गारां'—तुझे अब किसका इन्तज़ार है, तू अब क्या ढूंढ़ रहा है ?' क्योंकि, जैसा उनकी दूसरी नज़्म से ज़ाहिर है, 'कहाँ रह पायेगा यह घटाटोप और अँधियारा और बिजलियों का यह तूफ़ान—यलि रव खासि सुबहुचि प्रौ त्रावान—जब सुबह का सूरज सहर का तड़का लिये तुलू होगा ?' श्रीधर रैना 'ज़ार' इस वैषम्य के एहसास को और गहरा बनाने के लिए एक दूसरे ही पक्ष से आक्रमण करते हैं। अपनी कविता 'नौ बहारुक पैग़ाम' में यह स्पष्ट करने के बाद कि 'क़हर जहन्नम और अज़ाब का ग़म जिसके लिए है···उसके मुंह से कभी नहीं निकला कि बहार ऐश और ख़ुशी का पैग़ाम लेकर आई है' वह ख़ुदायी से भी बग़ावत करने पर तुल जाते हैं कि 'ऐ ज़ार खुदायी बड़ी हैरत है; उसका फ़रमान एक है, अमल जुदा-जुदा है, फिर भी रहमत को ग़ैरत नहीं आती···उसकी ज़बान से जिसके अरमान कभी पूरे न हुए हों कैसे निकल सकता है कि बहार ऐश और ख़ुशी का पैग़ाम लेकर आई है ?' और अपनी प्रसिद्ध कविता 'साक़ी' में तो 'ज़ार' रहमत से बेज़ार होकर तीखा व्यंग करते हैं कि 'न मेरे पास तसबीह है, और न ज़ुनार (जनेऊ) ; ऐ साक़ी, फिर मैं तेरी रहमत का

हक़दार क्योंकर हो सकता हूँ ?' लेकिन ग़ुलाम नबी 'आरिज़' ग़ुस्से और जनून में बहार को ही ख़ैरबाद कहकर उसे ज़रदारों की मिल्कियत बना देने को तैयार नहीं हैं बल्कि अपनी लोकप्रिय कविता 'नालाए मज़दूर' में वह 'कड़कती हुई बिजलियों और तूफ़ान में' भी 'कमर बाँधकर बहार के लिए चमन को सजाने' निकलते हैं 'गुल के लिए, बुलबुल और मसवल के लिए और एक नई बहार के लिए ।' और फिर दूसरी कविता 'सोंतस् नाद' में वह बड़े प्यार और मनुहार से 'बहार को बुलावा' देते हैं कि 'बहार आ, आ, और चमन में क़रार कर ऐ दोस्त आ, कि सूखे हुए झरनों को तेरा इन्तज़ार है; आ, कि ज़र्रे को आफ़ताब कर, औ' क़तरे को आबशार कर ! ऐ दोस्त आ कि काश्तकार ख़स्ताहाल है, तू थके दिलों और फ़ाक़ाज़दों को बेक़रार कर !'

'थके दिलों और फ़ाक़ाज़दों को बेक़रार कर' के अपनी जनता के जीवन को उजागर करने के मानववादी लक्ष्य से ही आधुनिक काश्मीरी कवियों का समस्त निवेदन, समस्त चिन्तन, समस्त काव्य-सृजन उत्प्रेरित रहा है। उनकी इस मानवीय आकांक्षा को नूर मोहम्मद 'रोशन' ने 'नादिम की कविता 'ब ग्व न अज़' के जवाब में लिखी सशक्त कविता 'ग्यवुन छुम' (मुझे गाना है) में इस प्रकार व्यक्त किया है : 'मुझे गाना है···मज़दूर का, कामगार का, अपने दोस्त काश्तकार का···जम्हूर के दिलावरों का, अमन के मुहाफ़िज़ों का···बदलते ज़माने का, हयात के इशारे का— यही गाना मुझे गाना है ।' ताकि 'हयात के इशारे' को पहचानकर काश्मीरी जनता नादिम के गीति-नाट्य 'इ ज़मीन तसइन्ज़इ यमि कमाव खेत' के बेदार किसानों की तरह साम्राजियों और उनके कासालेसों को परास्त करके हक़, सदाक़त, इत्तिहाद और अमन की गगनभेदी बाँग दे कि 'ऐ आज़ादी के परवानो ! आओ, इस खोटी तक़दीर को बदलकर नया काश्मीर तामीर करो !'

तभी काश्मीर के जीवन की कालरात्रि का अन्त होगा और कवि महजूर के शब्दों में कहा जा सकेगा कि 'संगरमालाएँ' (हिमशिखरों की पाँत) नयी रोशनी से जगमगाने लगी है : 'संगरमालन प्यव प्रा गाश' ।

—फरवरी १९५१

१५

चीन के लेखक और कलाकार

हमने चीन के बारे में बहुत सी बातें सुनी है, हम में से कुछ चीन के साहित्य, चीन की जनता के रहन-सहन और रीति-रिवाज के बारे मे विशेष जानकारी भी रखते होंगे। हम जानते है कि चीन एक विशाल देश है, हमारे देश से भी बहुत बड़ा और वहाँ लगभग पचास करोड़ जनता रहती है। चीन नया देश नहीं है। चीन की सभ्यता नयी नहीं है। जितनी प्राचीन भारत की सभ्यता है, कदाचित् उतनी ही पुरानी सभ्यता चीन की है। चीन के बड़े-बड़े दार्शनिकों का समादर दुनिया मे होता आया है। हमारे देश से चीन का सांस्कृतिक सम्पर्क हजारों वर्ष पुराना है। हमारे सर्वश्रेष्ठ कवि और कलाकार स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर और राष्ट्र-नेता पंडित जवाहरलाल नेहरू ने चीन से भारत के उन पुराने सम्बन्धों को फिर से कायम करने के जो प्रयत्न किये है उनसे हम परिचित है।

चीन की जनता ने गत युद्ध में कैसे भाग लिया? चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की सराहनीय कोशिशों से सभी राष्ट्रीय पार्टियाँ जापान-विरोधी मोर्चे में शामिल हुईं, और चीन की कम्युनिस्ट गुरिल्ला फ़ौजे और चीन के लेखक, कलाकार, विद्यार्थी और स्त्रियाँ जापान-विरोधी युद्ध की रीढ़ बनीं। स्वदेश-रक्षा का सब से महत्त्वपूर्ण भार उनके ही कन्धों पर था। गुरिल्ला फ़ौजे कैसे लड़ती थीं; जनता के अन्दर किस तरह संगठन बनाती थीं; जिन नगरों पर जापान कब्ज़ा कर लेता था उनके आस-पास के देहात मे किस तरह Self defence Governments (स्वदेश-रक्षा सरकारे) बनाती थीं और वहाँ की जनता को युद्ध के लिए तैयार करती थीं; जापानियों के सामान से लदे मोटरों, गोदामों, ट्रेनों, रेल की पटरियों, टेलीफोन के तारो और देश-द्रोहियों पर आक्रमण कर, उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर क्षति पहुँचाती थीं और 'स्वदेश-रक्षा सरकार' की ओर से जिले का शासन-सूत्र चलाती थीं और साथ मे ही किसानों-मजदूरों के लिए आर्थिक सुधार भी करती जाती थीं, उनके इन कार्यों का अध्ययन करना हमारे लिए जरूरी है।

लेखक की हैसियत से हम यह जानने की कोशिश करेंगे कि चीन के लेखकों और कलाकारों ने अपनी स्वदेश-रक्षा की लड़ाई मे किस तरह क्या भाग लिया।

चीन के लेखक और कलाकार हमारे लेखकों से भी ज्यादा कल्पनाशील होते है। अब तक उन्होंने कल्पना के लोक मे नीड़ बनाकर उन्मुक्त विहग की तरह जो

उड़ानें भरी हैं उन पर आश्चर्य होता है। परियों की कहानियां, रहस्यवादी रोमांटिक कविताएँ, वे इन्हीं में रमे रहे है। लेकिन सन् १९३२ में ही जब जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया, वहाँ के लेखकों की आँखे खुल गई, उन्हें लगा कि कोई निर्दय बहेलिया उनके कल्पनालोक के भव्य-नीड़ों को नोचकर फेंक रहा है और जब उन्होंने पीकिंग, शंघाई और नेनकिंग मे फ़ासिस्टों के बर्बर कारनामे देखे तो वे सिहर उठे, नानकाई विश्वविद्यालय के खंडहरों ने उनकी आत्मा को कचोटकर उन्हें जगा दिया। एक बर्बर साम्राज्यवाद, उनकी सभ्यता और संस्कृति, उनकी कला और साहित्य पर आक्रमण कर बैठा था; इसलिए उन्होंने सोचा कि यदि इस समय भी संगठन करके राष्ट्र में एकता कायम करने की कोशिश नहीं करते तो वे कभी एक सभ्य जीवन नहीं बिता सकते। और तब से वहाँ के लेखक जापान-विरोधी युद्ध मे सबसे आगे है। चीन के गोर्की लू-सू जिनकी कहानी 'दी स्टोरी ऑफ़ आह्-क्यू' इस युग की सर्वश्रेष्ठ कहानी है, और दूसरे सैकड़ों लेखक जापान-विरोधी सांस्कृतिक मोर्चे मे सगठित हो गये और उन्होंने जनता को जगाने के लिए कला के जिन नये रूपों का विकास किया, उनमें जन-गायन और जन-नाट्यशाला प्रमुख है।

जन-गायन नई चीज नहीं है; हमारे देश में भी बहुत से लोक-गीत सामूहिक रूप में गाये जाते है; नावों पर काम करते हुए या मछली मारते हुए मल्लाहों के गीत, नदी या तालाब के किनारे कपड़ा धोते हुए धोबियों के गीत, दीवार चुनते हुए राजगीरों के गीत या खेत बोते या काटते हुए किसानों के गीत हमने सुने है और हम जानते हैं कि अपने काम मे लगन पैदा करने की शक्ति उनमें कितनी होती है।

चीन में वहाँ के लेखकों ने ऐसे सामूहिक गायन को जापान-विरोधी संगठन का सबसे तीव्र अस्त्र बना दिया। सन् १९३२ में एक तरुण कवि N. Y. I. Erh ने गीत लिखा—'March of the Guerillas' जिसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

Arise ! Ye, who refuse to be bond slaves
With our very flesh and blood
Let us build our new great wall,
'China's masses have met the day of danger,
Indignation fills the heart of all of our Countrymen,
Arise ! Arise ! Arise !
Many hearts with one mind
Brave the enemy's gunfire
March on !

Brave the enemy's gunfire
March on ! March on ! March on ! On !

यह गीत आज चीन के करोड़ों आदमियों की ज़ुबान पर है। सन् '३४ में एक तरुण ईसाई ने किसी अमेरिकन पत्र मे पढ़ा—Music unites the people, और उस कल्पनाशील युवक के हृदय मे यह बात बैठ गई कि जापान के विरुद्ध चीन की जनता मे जागृति और एकता पैदा करने के लिए संगीत को एक ज़बर्दस्त हथियार बनाया जा सकता है। संगीत हमारे यहाँ की ही तरह मनोरञ्जन की चीज़ था, जिसे आराम-कुर्सियों पर बैठकर म्यूज़िक कांफ्रेंसों में या महफ़िलों मे सुना जाता था। उससे और कोई उपयोग का विचार ही न उठता था। लेकिन इस ईसाई 'निन-लियांग को' ने संगीत का क्रान्तिकारी और स्वाभाविक उपयोग करने की ठान ली, और उसने Y. M. C. A. के मैदान मे चीन के राष्ट्रीय गीतों को सबके साथ मिलकर गाना शुरू किया।

पहले दिन उसने साठ आदमी इकट्ठे किये जिनमे दफ़्तर के लड़के, क्लर्क, गोदाम के बाबू, चपरासी, रिक्शा खींचने वाले मज़दूर सभी शामिल थे! रोज़-रोज़ उसने ये गीत गवाने शुरू किये, गाने वालों को सिखाया और एक महीने के अन्दर ही तीन सौ गाने वाले तैयार कर दिये। सामूहिक गायन की सभाओं मे चार-चार हज़ार दर्शक एक स्वर से गीत गाने लगे। और कुछ हफ़्तो के अन्दर ही सारे शंघाई के अन्दर यह आन्दोलन तूफ़ान की तरह व्याप्त हो गया। इसके बाद उसने साठ बालक-बालिकाओं की एक मण्डली तैयार की जिनमे चालीस लड़के और बीस लड़कियाँ थी और जिनकी अवस्था आठ से अठारह के बीच मे थी। यह मण्डली शंघाई से चलकर आसपास के सात-आठ प्रान्तों मे लगातार घूमती रही, हर जगह गाने गवाती हुई, जनता का संगठन करती हुई, जनगायन की मण्डलियाँ क़ायम करती हुई, छोटे-छोटे जापान-विरोधी नाटक खेलती हुई और जनता को स्वदेश-रक्षा के लिए उत्प्रेरित करती हुई। इसके उपरान्त यह आन्दोलन, जहाँ-जहाँ भी छोटे या बड़े समूह के अन्दर मनुष्य रहते हैं वहाँ फैल गया। स्कूलों मे, कालेजों मे, फैक्टरियों और गावों मे, चीन की जनता जापान के विरुद्ध एक स्वर से गायक बन गई। उस समय जो गीत वहाँ लिखे जाते, वे अधिकांश राष्ट्र-रक्षा, गुरिल्ला-युद्ध, तरुण युवक-युवतियों के कर्तव्य के सम्बन्ध में रहते और चीन की अन्तिम विजय के अन्दर उनके अटूट विश्वास की घोषणा करते।

इन गीतों में जोश भी रहता है और व्यंग भी, मुझे याद आता है, कहीं मैंने दो गीत पढ़े थे, एक फ़ौज के कैप्टन के प्रति था और एक विश्वविद्यालय के महा-पण्डित प्रोफेसर के प्रति, जिसका नाम था 'Scholar Ghost'। पहला गीत चीन की स्त्रियों का था जिसमें उन्होंने फ़ौज के कप्तान से कहा था कि तुम बड़े बहादुर हो,

सोने और चाँदी के तमग़े लटकाए फिरते हो, लेकिन जापान की फ़ौज के आगे भीगी बिल्ली बन जाते हो। अगर तुमसे बन्दूक नहीं उठती तो हमें दो और हमारे पेटीकोट पहनकर घर में खाना पकाया करो। दूसरे गीत मे प्रोफ़ेसर पर व्यंग था कि इस विद्वता के प्रेत से जब कहा जाता है कि तुम्हारे देश पर आक्रमण हुआ है, तब वह नेक सलाह देता है कि पहले एक किताब पढ़ लो; जब उससे कहा जाता है कि जापानी हमारी संस्कृति का नाश कर रहे है, तब वह कहता है—पहले एक किताब पढ़ लो। इस विद्वता के प्रेत की निगाह सरकारी पदों पर रहती है और जब आसमान में बमवर्षक हवाई जहाज बूँ-बूँ करते है, तब वह कहता है कि पहले एक किताब पढ़ लो !

इस तरह की तीव्र व्यंग-पूर्ण कविताओं का भी जन-गायन होता क्योंकि वहाँ के स्त्री और पुरुष यह बर्दाश्त नहीं कर सकते कि कोई लड़ाई में ढिलाई करे या बेकार बैठा सिगरेट फूँके। कुछ गीतों मे हास्य भी मिश्रित रहता लेकिन उनके पीछे जनता की दृढ़ भावना झलकती है जैसे 'Song of Chinese women at war' की यह कुछ पंक्तियाँ—

> To the front ! To the front !
> Let us bring our needles
> To the front !
> To the front !
> Let us bring tour thread,
> To make clothing for our heroes at the front.
> To the front !
> To the front !

लेकिन जो गीत इन जनगायन मण्डलियों के द्वारा देश के कोने-कोने में प्रतिध्वनित हो उठे उनमें नीडर का 'The March of the Guerillas', 'The Song of the lone-Battalion', 'For we cannot die', 'Guerilla Song', 'Song of Young women', 'Partisan Song' आदि मुख्य है। Song of young women के अन्दर उनके अपने सामाजिक सुधार की क्रान्तिकारी भावना भी प्रबल है, जैसे—

> Smash the fetters of feudalism,
> Kick down the old social order;
> We are the young women of China;
> We stand at the forefront of the struggle.

गुरिल्ला-गीत जो इतना प्रचलित है, इस प्रकार है—

Since we are all good marksmen
None of our bullets shall be wasted;
Since we are all strong
We shall not be afraid of the difficulties;
In all the thick forests
There you can find camps of our comrades;
On all the high mountains
There are thousands of our brothers.
Not enough to eat, not enough to wear,
The enemy will send these things to us.
Not enough guns, not enough rifles,
The enemy will manufacture them for us.
We are all raised up on this land,
Every inch of it belongs to us.
Whoever dares to take it away from us
We will fight them to the end ....

वहाँ साधारण जनता के बीच छोटी-छोटी चौपाइयाँ भी प्रचलित हो गईं, जिन्हें अक्सर लोग गाते रहते हैं। एक किसान निहत्था ही अपने देश के लिए लड़ने जा रहा है, अटपटी ग्रामीण भाषा में उसके गाँव के लोग कहते हैं—

Yon, leopard of North Shensi riding on a donkey
On your head only a turban, using your pipe for a whip.

तो भी निहत्थी चीनी जनता ने जो कर दिखाया मानव-इतिहास उसके प्रति जितनी भी कृतज्ञता प्रकाशित करे थोड़ी है।

चीन का Partisan Song जो उनकी उत्कट देश-प्रेम की भावना का प्रतीक बन गया है, उसकी पंक्तियाँ हृदय में उत्साह और प्रेरणा की एक झंकार पैदा कर देती हैं—

We are partisans, Ya-hei !
Defending our native land, Ya-hei !
We are country rustics, Ya-hei !
Who wants to be a slave ? Ya-hei !
We will expel the Japanese from our land, Ya-hei !
We will be free, we will be joyous, Ya-hei.

जन-गायन की सैकड़ों मंडलियाँ चीन के गाँवों-गाँवों में घूमती थीं। और, चीन के बड़े-बड़े गायकों ने शास्त्रीय स्वर-संधानों को छोड़कर लोक-गीत की लयों को और भी जनप्रिय और जंगजू बनाया। इसके अतिरिक्त चीन के लेखकों ने, अभिनेता-अभिनेत्रियों ने जन-नाटक आन्दोलन चलाया जिसके लिए चीन के सर्वश्रेष्ठ लेखकों ने नाटक लिखे। नौजवानों की नाटक-मंडलियाँ जिन्हें Jen-Min-K'ang Erh-chii-she 'जनता की जापान विरोधी नाटक समिति' ने संगठित किया, गाँवों-गाँवों मे घूमीं, नाटक खेले, स्वदेश-रक्षा का पैग़ाम पहुँचाया। जनता उन्हें देखकर करुणा से रो उठी, ग़ुस्से से भर गई और गुरिल्ला फ़ौजों मे भरती हो गई।

साधारण सादे स्टेज पर, या सड़क पर या गाँव की किसी चौपाल में ये नाटक खेले जाते। अनेक नाटक समितियों ने इस समय चीन में काम किया जैसे लू-सूँ नाटक समिति, जन-नाटक समिति—प्रेक्टिकल नाटक समिति, लड़कियों की नाटक समिति आदि। लड़कियों की नाटक समिति की लड़कियाँ सड़क के किसी कोने या चौराहे पर तख़्त जोड़कर एक स्टेज बना लेतीं और जब कुछ लोग इकट्ठे हो जाते, वे नाटक खेलना शुरू कर देतीं। इन नाटकों मे जापानी सैनिकों द्वारा की गई क्रूरताओं के दृश्य रहते, चीनी सिपाहियों के बहादुरी की क़िस्से होते, युद्ध के सम्बन्ध में उठने वाले प्रश्नों का हल रहता।

आपको आश्चर्य होगा कि कुमारी हाेत्सी की नाटक समिति लगातार वर्ष भर घूमती रही और नाटक खेलती फिरी और इस तरह सैकड़ों जगह अकेली उसी समिति ने नाटक खेले। इस तरह की एक सौ से अधिक लड़कियों की ही मंडलियाँ वहाँ घूम-घूमकर नाटक खेलती रहीं। लड़कियों की जन-गायन समितियाँ भी इसी तरह सारे चीन में गीत गाती फिरीं; वे किसानों, सैनिकों, सड़क बनाने वाले मजदूरों और गाँवों की माँ-बेटियों को गीत सुनातीं और सिखातीं। नाटक मंडलियों और गायक मंडलियों ने इस प्रकार चीन की सुप्त आत्मा को जगा दिया। चीन मे जो नाटक सबसे ज्यादा प्रचलित हे उनमें 'आक्रमण', 'मंचूरिया-विजय', '१८ सितम्बर से', 'गरजो चीन', 'हथियार' आदि प्रमुख है। ये सभी नाटक जापानी आक्रमण, जापानियों के पाशविक अत्याचार और चीनी जनता की ऐक्य और लड़ने के दृढ़ निश्चय से सम्बन्ध रखते हैं।

नाटकों के साथ-साथ चीनी नृत्यकारों ने भी अपना योग देकर क्रान्तिकारी नृत्य तैयार किये, जैसे 'संयुक्त मोर्चा नृत्य', 'लाल मशीनों का नृत्य' ! इन नृत्यों से नाटकों का प्रभाव बढ़ जाता है। इन नृत्यों मे विदेशी आक्रमण के विरुद्ध चीनी जनता के संयुक्त मोर्चे और भावी स्वतन्त्र चीन में औद्योगीकरण होने से उत्पन्न सुख-समृद्धि के दृश्य है। लोक-नृत्य जो चीन में प्रचलित थे—किसानों और मजदूरों में—उनमें

भी अब क्रान्तिकारी भावनाओं का समावेश हो गया है। Rice Sprout Dance अब आक्रमण-विरोधी भावनाओं का प्रतीक बन गया है।

चीन के चित्रकार भी पिछड़े नहीं। उन्होंने व्यंग-चित्रों द्वारा चीन की जनता का ध्यान आकर्षित किया। युद्ध के समय वहाँ के व्यंग-चित्रकार तूलिका और रंग हाथ में लेकर मकान की दीवालों पर जापान-विरोधी व्यंग-चित्र बनाते फिरे। लड़कियों के कार्टून-ग्रुप की कलाकार जब चित्र बनाने पहुँचती तो जनता एकत्र होकर उसकी तूलिका के घूमने का दृश्य देखती, और जब कुछ तूलिकाओं के फिरने से एक शक्ल बन जाती तो वह आश्चर्य-चकित हो ताकती रह जाती। वे कहीं बड़े-बड़े कार्टून बनातीं, कहीं कार्टूनों की एक माला बनातीं, जिसमें कई दृश्यों में व्यंग-चित्रों द्वारा किसी घटना का चित्रण रहता। गाँव के लोग, राहगीर, मजदूर रुककर उन्हें देखते, समझने की चेष्टा करते, विद्यार्थी उन्हें समझाते, और वे तूलिका के चमत्कार पर आश्चर्य करते, और चित्र के आशय से प्रेरणा ग्रहण करते।

इस प्रकार चीन के लेखक, कलाकार, गायक, अभिनेता, नाटककार, चित्रकार नृत्यकार, विद्यार्थी, युवतियाँ, प्रोफ़ेसर सभी संगठित होकर दिन-रात चीनी जनता में प्रचार करते रहते और कहीं भी चीनी जनता के हृदय में नाउम्मीदी या निराशा को घुसने नहीं देते। उनका यह कार्य इतिहास में अभूतपूर्व है।

—अगस्त १९४२

१६

कार्ल मार्क्स : जनवादी साहित्य की प्रेरक शक्ति

कार्ल मार्क्स और उनकी विचारधारा का जितना गहरा विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा है, आज तक उतना अन्य किसी विचारक या एक विचारधारा का नहीं पड़ा। मनुष्य का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक जीवन अर्थात् उसके भाव, विचार और कर्म-जगत् का कोई स्तर और कोई क्षेत्र मार्क्स और मार्क्सवाद के युगान्तकारी प्रभाव से अछूता नहीं रहा। विश्व की कोटि-कोटि जनता को, पुराने अमानवीय वर्ग-समाज के अन्याय, अनैतिकता, हिंसा, शोषण और उत्पीड़न का सदा के लिए अन्त करके एक सच्चे वर्गमुक्त, शोषण-मुक्त, हिंसा-मुक्त और स्वतन्त्र मानवीय जन-समाज के साम्यवादी जीवन का निर्माण करने का एकमात्र सही और वैज्ञानिक मार्ग दिखाकर कार्ल मार्क्स न केवल युग-युग के लिए समूची मानव-जाति की श्रद्धा और कृतज्ञता के अधिकारी बन गये हैं, बल्कि मनुष्य-मात्र के लिए एक ऐसी प्रेरणा बन गये हैं, जिसका अनुभव करके ही आज दुनियां के ८० करोड़ मनुष्यों ने जमीन का एक तिहाई भाग वर्ग-समाज से आज़ाद कर लिया है, और दुनियां के बाकी लोग इन मुक्त मानवों के साथ मिलकर आज़ादी, जनवाद और स्थायी विश्व-शांति के लिए विकट संघर्ष कर रहे हैं। मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित, इतने विशाल भू-भाग पर वर्ग-मुक्त समाजवादी तथा नये जनवादी सामाजिक जीवन का निर्माण और अन्यत्र उसकी प्राप्ति के लिए होने वाला अविराम संघर्ष ही इस युग की केन्द्रीय वास्तविकता है। विश्व के साहित्य और कला को इस मानवीय संघर्ष और निर्माण से कितनी महान् रचनात्मक प्रेरणाएँ मिली हैं, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि कला और साहित्य वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करते हैं।

कार्ल मार्क्स का जन्म लगभग एक सौ चौंतीस वर्ष पूर्व सन् १८१८ में ५ मई को जर्मनी के एक यहूदी परिवार में हुआ था। एक विद्यार्थी की हैसियत से उन्होंने न्याय-विधान, इतिहास और दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। मार्क्स अपने विद्यार्थी-जीवन में ही विश्व-वन्द्य दार्शनिक हीगल के वामपक्षी अनुयायियों के दल में शामिल हो गये थे। उन दिनों जर्मनी में 'वामपक्षी हीगलवादियों' की विचारधारा का प्रभाव बढ़ रहा था। लुडविग फ्योरबाख़ जैसा दार्शनिक धीरे-धीरे भौतिकवादी हो गया और उसकी 'ईसाई मत का सार-तत्त्व' (The Essence of Christia-

nity) और 'भावी दर्शन के सिद्धान्त' (The Principles of the Philosophy of the Future) पुस्तकों को पढ़कर मार्क्स, ऐन्गिल्स और अनेक तरुण विचारक फ़योरबाख़ की विचारधारा के समर्थक हो गये।

सन् १८४२ में कुछ लोगों ने जर्मनी की प्रतिक्रियावादी हुकूमत के ख़िलाफ़ एक पत्र निकाला। प्रारम्भ में ब्रुनो बायर के साथ मार्क्स को उसका प्रधान लेखक बनने के लिए निमंत्रित किया गया और लगभग दस महीने बाद मार्क्स उस पत्र के प्रधान सम्पादक नियुक्त कर दिये गये। मार्क्स के सम्पादन-काल में इस पत्र की विचारधारा अधिक मुखर रूप से क्रान्तिकारी और जनवादी हो गई। हुकूमत को यह सहन नहीं हुआ और दो-तीन महीनों के भीतर ही उसे ग़ैरक़ानूनी कर दिया गया।

सन् १८४३ में मार्क्स ने अपने बचपन की मित्र जैनी वान वेस्टफ़ेलेन से विवाह किया। अपने देश में विरोधी पत्र निकालने की सुविधा न होने के कारण, विदेश से पत्र निकालने का इरादा करके उसी वर्ष मार्क्स फ्रांस की राजधानी पेरिस चले गये। पेरिस से उन्होंने जो पत्रिका प्रकाशित की उसका एक अंक ही निकल पाया, क्योंकि वहाँ बैठकर जर्मनी में गुप्त रूप से उसका वितरण करना आसान न था। परन्तु इस पत्रिका में मार्क्स ने जो लेख दिये, उनसे इस बात का परिचय मिल जाता है कि मार्क्स के विचार इस समय तक क्रान्तिकारी हो गये थे। इन लेखों में उन्होंने हर चीज़ की खुलकर निर्मम आलोचना और जनता और श्रमजीवी वर्ग से अपील की था।

सन् १८४४ के सितम्बर में कार्ल मार्क्स की फ्रीडरिक एन्गिल्स से पहली बार पेरिस में भेंट हुई। तभी ये दोनों मनीषी आजीवन के लिए एक महान् मित्रता के सूत्र में बँध गये। उन दिनों पेरिस में दार्शनिक प्रूधों की विचारधारा और कई दूसरे मध्यवर्गीय समाजवादी विचारों के इर्द-गिर्द अनेक क्रान्तिकारी दल संगठित हो गये थे। मार्क्स और एन्गिल्स ने इन दलों के कार्यों में आगे बढ़कर सक्रिय भाग लिया। मार्क्स ने अपने पेरिस-प्रवास में अपनी पुस्तक 'दर्शन की नगण्यता' (The Poverty of Philosophy में प्रूधों की विचारधारा का खोखलापन सिद्ध किया और श्रमजीवी क्रान्ति या कम्युनिज़्म के सिद्धान्त और रणनीति की क्रांतिकारी रूपरेखा तैयार की। जर्मन सरकार के बार-बार ज़ोर देने पर सन् १८४५ में फ्रांस की सरकार ने मार्क्स को ख़तरनाक क्रान्तिकारी होने के कारण देश-निकाला दे दिया। मार्क्स और एन्गिल्स बेल्जियम के ब्रूसेल्स नगर में चले गये और वहाँ 'कम्युनिस्ट-लीग' नाम की एक गुप्त प्रचार-संस्था के सदस्य बनकर काम करने लगे। सन् १८४७ में उन्होंने कम्युनिस्ट लीग के दूसरे अधिवेशन में लन्दन जाकर प्रमुख भाग लिया और इस अवसर पर मार्क्स ने उस 'कम्युनिस्ट-घोषणापत्र' का मसविदा तैयार किया जो

उस समय से विश्व-भर के मजदूरों और शोषितों के संघर्ष का बुनियादी दस्तावेज़ बन गया। एक महान् प्रतिभा की अन्तर्भेदी और दूरदर्शी दृष्टि से मार्क्स ने इस घोषणा-पत्र में एक नये भौतिकवादी विश्वदर्शन की रूपरेखा तैयार की, प्राकृतिक और सामाजिक विकास के द्वन्द्वात्मक आधार का उद्घाटन किया और वर्ग-संघर्ष और नये साम्यवादी समाज के निर्माता मज़दूर-वर्ग की ऐतिहासिक और क्रान्तिकारी भूमिका का महत्त्व समझाया।

फरवरी १८४८ में जब यूरोप के अनेक देशों मे क्रान्तियाँ हुई, तो उस समय मार्क्स को बेल्जियम से भी देश-निकाला दिया गया। वह पेरिस चले गये और फिर मार्च की क्रान्ति के बाद जर्मनी गये। वहाँ कोलोन नगर से मार्क्स के सम्पादकत्व में एक पत्र निकला, जो लगभग एक वर्ष तक चलता रहा। प्रतिक्रियावादियों ने अपनी विजय के बाद मार्क्स पर मुकदमा दायर किया, लेकिन मार्क्स बरी कर दिये गये। वह पुनः पेरिस चले गये, वहाँ से उन्हें पुनः देशनिकाला दिया गया। तदन्तर सन् १८४९ के मध्य वे लन्दन चले गये और वहाँ ही जीवन-पर्यन्त रहे।

अपने देश से बहिष्कृत होकर मार्क्स और उनके परिवार को अपने दीर्घ प्रवास के वर्ष असह्य आर्थिक कष्ट और यातनाएँ झेलकर बिताने पड़े। एन्गिल्स की लगातार सहायता के बिना मार्क्स और उनका परिवार संभवतः भूख और ग़रीबी से ही पिस कर समाप्त हो जाता। इन परिस्थितियों के बावजूद, अविचल रहकर मार्क्स अपने समय में प्रचलित अनेक समाजवाद-सम्बन्धी मध्यवर्गी विचारधाराओं और मान्यताओं के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करते रहे और ऐतिहासिक भौतिकवाद की वैज्ञानिक विचारधारा का विकास करते रहे। इसके लिए उन पर चारों ओर से आक्रमण होते रहे, पर वे अपने अध्ययन, मनन और लेखन से विरत न हुए। उन्होंने लन्दन-प्रवास के दिनों में विशेष रूप से राजनीतिक अर्थशास्त्र का अध्ययन किया और अपने अमर ग्रन्थ 'पूँजी' (Capital) की रचना की। अध्ययन-लेखन के साथ-साथ मार्क्स सदा मज़दूरों के संघर्षों में सक्रिय भाग भी लेते रहे। सन् १८६४ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी-संघ की स्थापना हुई। मार्क्स इस संगठन के प्राण थे। इसके द्वारा उन्होंने पहली बार विभिन्न देशों के मज़दूर-आन्दोलनों को, जो उस समय तक मेजिनी, प्रूधाँ, बकूनिन, लस्साले आदि पूर्व-मार्क्सीय विचारकों की सुधारवादी और दक्षिण-पन्थी विचारधाराओं के प्रभाव में थे, संयुक्त कार्य के आधार पर एक सूत्र मे बाँधकर, मज़दूरों के क्रान्तिकारी अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की रणनीति का विकास किया। सन् १८७१ में 'पेरिस कम्यून' की पराजय के समय मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'फ्रांस का गृह-युद्ध' (The Civil war in France) में इस क्रान्ति का सही और क्रान्तिकारी विवेचन किया।

ग़रीबी और मुफ़लिसी के बीच लगातार अध्ययन, मनन, लेखन और सक्रिय

कार्य में लगे रहने से मार्क्स का स्वास्थ्य खराब हो गया था और १४ मार्च, सन् १८८३, में लगभग ६५ वर्ष की आयु में ही मार्क्स ने अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे शांति-पूर्वक प्राण त्याग दिये। इस प्रकार इस महान् क्रान्तिकारी की, बाह्य रूप में अपेक्षया घटनाहीन, पर विश्व-इतिहास की दृष्टि से असीम रचनात्मक संभावनाओं से परिपूर्ण और घटनामय, जीवनलीला समाप्त हुई।

मार्क्स और मार्क्सीय विचारधारा की निरन्तर बढ़ती हुई विश्व-व्यापी महत्ता और मान्यता का रहस्य केवल यह है कि मार्क्स ने अपनी अद्भुत प्रतिभा का कभी दुरुपयोग नहीं किया अर्थात् किसी प्रलोभन में फँसकर विश्व की श्रमजीवी जनता के हित-चिन्तन और सत्य की खोज से विमुख नहीं हुए। मनुष्य-कृत साहित्य, कला, संस्कृति, दर्शन, विज्ञान, विचारधाराओं, सामाजिक जीवन और अर्थ-व्यवस्थाओं की पुंजीभूत ज्ञान-राशि का अध्ययन उनका इतना परिपूर्ण और विशाल था कि वे सहज ही उनके प्राणवन्त, सजीव तत्त्वों को खोज लेते थे और जीवन की वास्तविकता में निरन्तर होने वाले परिवर्तनों के मूल कारणों का अपनी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी प्रणाली से सहज ही उद्घाटन कर सकने में समर्थ थे। उनकी यह द्वन्द्वात्मक भौतिक-वादी प्रणाली ही आज प्रगतिशील और सही अर्थों में वैज्ञानिक प्रणाली है।

इस प्रणाली में मार्क्स ने १९वीं शताब्दी की तीन प्रमुख विचारधाराओं को केवल आगे ही नहीं बढ़ाया, बल्कि उनका नया क्रान्तिकारी संस्कार करके उन्हें समन्वित भी किया। यही कारण है कि मार्क्स की विचारधारा विश्व के प्रत्येक प्रगतिशील आन्दोलन की आधारशिला और मूल प्रेरणा बन गई है। इन तीन विचारधाराओं में एक क्लासीकल जर्मन दर्शन दूसरा क्लासीकल अंग्रेजी अर्थशास्त्र और तीसरा फ्रांसीसी समाजवाद था। इन तीनों विचारधाराओं का सर्वहारा-वर्ग के दृष्टिकोण से समन्वय करके मार्क्स इस परिणाम पर पहुँचे कि दार्शनिकों का यह कर्तव्य नहीं है कि वे व्यर्थ की ऊहापोह में फँसकर केवल 'विश्व है या नहीं है' की अमूर्त्त व्याख्या में ही लगे रहें, बल्कि उनका कर्तव्य तो यह है कि वे अपने तत्त्व-चिन्तन से विश्व को बदलने में योग दें। मार्क्स के दृष्टिकोण की यही विशेषता है कि वह जगत् को और मानव-जीवन को शोषण से मुक्त, इसकी सम्पदा को सर्वजन-सुलभ और समाज को समृद्ध और प्रगतिशील बनाने के लिए इसके वर्तमान आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धों, नैतिक मान्यताओं, सौन्दर्य-मूल्यों को बदलने का लक्ष्य और मार्ग बताता है।

मार्क्स ने यह सिद्ध कर दिखाया कि विश्व की एकता इसलिए नहीं है कि विश्व है, बल्कि इसलिए है कि यह विश्व भौतिक है, और इस भौतिकता का प्रधान गुण उसका निरन्तर गतिशील होना है। विचार और चेतना मानव-मस्तिष्क की

उपज हैं, जो स्वयं प्रकृति की उपज है और जिसका विकास उसके वातावरण के साथ हुआ है। मानव-मस्तिष्क इस भौतिक जगत् को प्रतिबिम्बित करके विचारों को रूप देता है। मार्क्स ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि भौतिक जगत् का अस्तित्व हमारे बावजूद है, प्रकृति के अपने नियम हैं और मनुष्य जिस सीमा तक इन नियमों को जान-समझ लेता है उसी हद तक वह नियति की अन्ध-आवश्यकताओं पर काबू पा कर प्रकृति पर अपना नियन्त्रण भी स्थापित कर लेता है और मुक्त भी हो जाता है। इस प्रकार मार्क्स के अनुसार आवश्यकता को सही-सही समझ लेने से आवश्यकता का गुणात्मक रूपान्तर हो जाता है, अर्थात् वह मुक्ति के रूप में बदल जाती है।

मार्क्स का यह भौतिकवाद अन्य भौतिकवादियों की परम्परा से भिन्न था, क्योंकि अन्य भौतिकवादियों का दृष्टिकोण यान्त्रिक और अनैतिहासिक था, विकास-सिद्धान्त का सर्वत्र प्रयोग नहीं करता था और 'मानव-तत्त्व' को अमर्त्त ढंग से देखता था, न कि मार्क्स की तरह द्वन्द्वात्मक रीति से। ऐतिहासिक प्रगति के परिणाम स्वरूप सामाजिक-सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था के विकास-रूप में। इसीलिए मार्क्स के भौतिकवाद को 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' कहा जाता है। द्वन्द्वात्मक विकास से मार्क्स का तात्पर्य था कि यह विश्व कोई बनी-बनाई चीज़ नहीं है, बल्कि असंख्य प्रवहमान् क्रिया-प्रक्रियाओं के द्वन्द्व और संयोग से निरन्तर परिवर्तनशील है। कोई वस्तु आत्मनिर्भर, चिरन्तन और अनन्य नहीं है, बल्कि अन्य वस्तुओं के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध में जुड़ी हुई हैं। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के अनुसार हर वस्तु में परस्पर-विरोधी तत्त्वों से मिलकर एकता पैदा होती है, तथा चूँकि यह 'एकता' स्थायी नहीं, बल्कि परिस्थितिजन्य और अस्थायी होती है, इसलिए वस्तुओं में अविराम रूप से जो गुणात्मक अथवा परिणाम-सूचक संवृद्धि होती रहती है, उसके कारण परिणामतः एक ऐसी स्थिति आती है, जब या तो सहसा परिणाम-सूचक संवृद्धि में गुणात्मक परिवर्तन होता है, या इसका उल्टा होता है। अन्त में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि यह विकास, वाद-प्रतिवाद, संवाद या घात-प्रतिघात, संघात के हमारे प्राचीन परिचित मार्ग से होता है, अर्थात् जो वस्तु है, वह अपने ही विरोधी तत्त्व को जन्म देता है, और इस प्रकार हर मंज़िल पर जो समन्वय होता जाता है, वह पहले के किसी भी समन्वय की अपेक्षा ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से ऊँचे आधार पर होता है।

मार्क्सवादी दर्शन के इन सिद्धान्त-सूत्रों का मनुष्य के ऐतिहासिक और सामाजिक जीवन के लिए जो क्रान्तिकारी महत्त्व है, उसको बढ़ा चढ़ाकर नहीं कहा जा सकता। 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' के रूप में समाज पर इन सिद्धान्तों को लागू करके मार्क्स ने सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य ही अपने इतिहास और भाग्य का

विधाता है। अपने को जीवित रखने के लिए मनुष्य उत्पादन-कार्य में लगता है। यह उत्पादन-कार्य चूंकि अकेले सम्भव नहीं है, न मनुष्य अकेला कहीं रहता है, इसलिए उत्पादन-साधनों के अनुरूप मनुष्यों के आपस में सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते जाते हैं। उनकी चेतना भी इन आर्थिक सम्बन्धों और साधनों के अनुरूप ही होती है। उत्पादन की शक्तियाँ जब अधिक विकसित हो जाती हैं, और मौजूदा उत्पादन-सम्बन्ध उनके विकास में बाधक होने लगते है, तो दोनों में परस्पर टक्कर होती है। तब सामाजिक क्रान्तियों का युग शुरू होता है। आर्थिक आधार के बदल जाने के कारण उसका ऊपरी ढांचा तेजी से बदलने लगता है। मनुष्य के समाज-सम्बन्धों के साथ-साथ उसके विचार-जगत् मे भी परिवर्तन आता है, अर्थात् राजनीतिक, दार्शनिक, नैतिक, सांस्कृतिक मान्यताओं और न्याय-व्यवस्था आदि उन तमाम विचार-गत रूपों में, जिनके माध्यम से मनुष्य इस संघर्ष की चेतना प्राप्त करते है, और जिनके माध्यम से ही संघर्ष करते है, यह परिवर्तन घटित होता है।

मार्क्स के इस विचार के अनुसार मनुष्य अब तक अपने विकास के चार ऐतिहासिक युगों से पार हो आया है, अर्थात् प्रागैतिहासिक साम्यवाद का युग, बर्बरता का युग, सामन्ती व्यवस्था का युग और पूंजीवाद का युग। अब तक मनुष्य का विकास वर्ग-संघर्ष के द्वारा ही हुआ है, क्योंकि वर्ग-समाज में उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले शोषक-वर्ग साधनहीन असंख्य जनता के श्रम का शोषण करते रहे हैं। परन्तु आज इतिहास ने संगठित मज़दूर-वर्ग के रूप में समाज के भीतर उस शक्ति को जन्म दे दिया है, जो पूंजीवाद के वर्ग-समाज का अन्त करके, एक वर्गमुक्त, सच्चा साम्यवादी मानव-समाज स्थापित कर सकेगा। यह विकास भी अनिवार्य है, इतिहास की प्रगति इसी दिशा में है।

मार्क्स क्यों आधुनिक साहित्य और कला की सबसे महान् प्रेरक शक्ति बना, इस संक्षिप्त परिचय के बाद कोई भी इस बात का सहज अनुमान कर सकता है। सोवियत रूस, चीन और पूर्वीय यूरोप के नये जनवादी देशों को छोड़कर, जो मार्क्स के बताये पथ पर चलकर वर्ग-समाज की कालरात्रि से मुक्ति पा चुके हैं, विश्व के अन्य पूंजीवादी देशों के साहित्य और कला-संस्कृति में भी जो प्रवृत्तियाँ आज मनुष्य की प्रगति की आकांक्षी है, जिनसे आशा और उम्मीद का स्वर फूटता है, जिनमें जीवन के प्रति अनुराग और मानव-प्रेम है, जो स्थायी विश्व-शान्ति, आज़ादी और जनवाद की समर्थक हैं, ये सारी प्रवृत्तियाँ मार्क्स और मार्क्सवाद से किसी-न-किसी सीमा तक अवश्य प्रभावित है, क्योंकि सत्यान्वेषी कलाकार जीवन की वास्तविकता से विमुख नहीं हो सकते। आज पूंजीवादी जगत् में साहित्य, कला और संस्कृति का ह्रास हो रहा है, क्योंकि अपने साम्राज्यवादी और फासिस्ट रूप में पूंजीवाद कला और

कलाकार, दोनों का उग्र विरोधी है। इसलिए कि वह जीवन-सत्य का विरोधी है। यही कारण है कि पूँजीवादी साहित्य में सच्ची कला का हनन हो रहा है और उसमें मनुष्य के सच्चे गौरव को उद्घाटित नहीं किया जाता, मनुष्य को मुक्तिकामी, साहसी और जीवन-प्रेमी बनने की उद्दात्त नैतिक प्रेरणाएँ नहीं दी जातीं, बल्कि उसे अनैतिक, हिंस्र, क्षुद्र, बर्बर, स्वार्थलोलुप और मानवद्रोही बनने की प्रेरणाएँ दी जाती हैं। ये सर्वविदित तथ्य हे, मन से गढे हुए नहीं। इस समय विश्व-साहित्य में जो महान् प्रतिभा के स्रष्टा हैं, वे मार्क्स और मार्क्सवाद से प्रभावित हैं या उससे सहानुभूति रखते हैं और जनता के साथ उनकी कला का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। अमरीका के होवर्ड फास्ट, डेनमार्क के एन्डरसन नीक्सो, जर्मनी के टामस मान, आयर्लैंड के ओ केसी, फ्रांस के लुई अरागाँ, तुर्की के कवि नाज़िम हिकमत, चिली के कवि पैब्लोनरुदा, दक्षिण भारत के महाकवि वल्लाथोल, हिन्दी के महाकवि निराला और पन्त, और पिछली पीढ़ी के गोर्की, बर्नार्ड शॉ, लू सून, मायाकोव्सकी, कॉडवल, रेल्फ फॉक्स, रोम्याँ रोलाँ, हेनरी बारबूज़, रवीन्द्र ठाकुर, शरत्, इकबाल, प्रेमचन्द आदि महान् कलाकारों ने मार्क्स से किसी-न-किसी रूप में प्रेरणा पाई है। अन्त में एक बात और। मार्क्स स्वयं अपने समय तक के विश्व-साहित्य और संस्कृति की जीवन्त परम्पराओं और महान् कृतियों के मर्मज्ञ अध्येता थे। शेक्सपियर, बाल्ज़क, गेटे, हाइने, शिलर, इब्सन आदि महान् लेखकों और ग्रीक साहित्य और कला के सम्बन्ध में उन्होंने यदा-कदा जो विवेचनात्मक मन्तव्य प्रकट किये, वे इतने मौलिक और वस्तुनिष्ठ थे कि उनके आधार पर एक ऐसे नये सौन्दर्य-शास्त्र और नई समीक्षा-पद्धति का विकास हुआ है, जो प्राचीन और अर्वाचीन काव्य, साहित्य, कला और संस्कृति का सही वैज्ञानिक मूल्यांकन करने में समर्थ है। इस मार्क्सीय समीक्षा-पद्धति और सौन्दर्य-दृष्टि के अनुसार प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकृति अपने युग की वास्तविकता के सार-तत्त्व का कोई-न-कोई पहलू अवश्य प्रतिबिम्बित करती है। कलाकार अपनी प्रतिभा से युग की मौलिक समस्याओं से और मनुष्य की चेतना और जीवन में अपना समाधान पाने के लिए उठने वाले उन केन्द्रीय प्रश्नों से उलझता है, जो मनुष्य के ऐतिहासिक संघर्षों को प्रतिबिम्बित करते हे। सच्चा कलाकार सत्य का अन्वेषी होता है, इसी कारण वर्ग-समाज के सभी महान् कलाकार अपने समय के प्रह्लाद और प्रोमेथियस थे, या हैं। सत्य का अन्वेषी होने के कारण ही कलाकार और उसकी कला जानिबदार होती है, तटस्थ और ग़ैर-जानिबदार नहीं, क्योंकि एक वर्ग-समाज में जिस प्रकार शोषक और शोषित वर्गों की दो संस्कृतियां होती हे, उसी प्रकार सत्य भी एक नहीं होता। एक सत्य उस वर्ग का होता है, जो इतिहास-पट पर अपनी लीला समाप्त करता हुआ मरणोन्मुख होता है और दूसरा सत्य जनता का होता है, जो इतिहास, कला और

संस्कृति का वास्तविक निर्माता है। यही वास्तविक सत्य है। यह सत्य इसी कारण अनैतिक नहीं हो सकता कि इसकी नैतिकता के मान-मूल्य जन-हित से ही सम्बन्धित होते हैं। मार्क्स और मार्क्सवाद इस आधार पर सत्य, एक मानववादी और कर्मप्रेरक नैतिकता से कला का अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़ता है।

कवि पन्त ने इसी मार्क्सीय विचार को व्यक्त करते हुए लिखा है : "सत्य नहीं वह, जनता से जो नहीं प्राण-सम्बन्धित"। एक भ्रामक आरोप लगाया जाता है कि मार्क्सीय विचारधारा संस्कृति-विरोधी है, कलाकार की कला पर आर्थिक मतवाद का अंकुश लगाती है और इस प्रकार कला-संस्कृति का हनन करती है। यह आरोप कितना हास्यास्पद है, इसका अनुमान करना कठिन नहीं है, क्योंकि अपने दीर्घ इतिहास-काल मे मनुष्य कभी संस्कृति के बिना नहीं रहा। संस्कृति का निर्माण ही उसने इसलिए किया कि वह अधिक समृद्ध, मुक्त और मानवीय जीवन बिता सके। मार्क्स के उदात्त विचारों से प्रेरित होकर विश्व की जनता समता और आज़ादी जिस मानवीय समाज का निर्माण कर रही है, या उसके लिए संघर्ष कर रही है, वर्ग-समाज की यन्त्रणाओं और अनाचारों से खंडित मनुष्य के व्यक्तित्व को पूर्णतः विकसित करके, उसे सकल विश्व और प्रकृति का स्वामी बनाने के लिए जो भगीरथ प्रयत्न कर रही है, वह क्या कला और साहित्य की मुक्तिदायी प्रेरणाओं की उपेक्षा करके सम्भव हो सकेगा ? सोवियत यूनियन, चीन और अन्य नये जनवादी देशों की वैज्ञानिक आर्थिक सफलताओं से ही नहीं, बल्कि उनकी सांस्कृतिक, कलात्मक और साहित्यिक सफलताओं से भी हमारे देश का शिक्षित और प्रबुद्ध समुदाय काफ़ी परिचित हो चुका है, और उनसे प्रेरणाएँ ले रहा है। अतः ऐसे भ्रामक आरोप मार्क्स और मार्क्सवाद पर असत्य का पर्दा नहीं डाल सकते। मार्क्स हमारे देश के आधुनिक साहित्य की भी प्रेरक शक्ति है। साहित्य में प्रगतिशील आन्दोलन इसका ज्वलंत प्रमाण है।

—अक्तूबर १९५२

१७

काश्मीर

दुनियाँ में सभी देश सुन्दर हैं—कौन सा नहीं है ? यदि कोई देश सचमुच असुन्दर होता तो वहाँ मनुष्य न रहते। किन्तु इस बात को उलटकर कहना ही अधिक उपयुक्त होगा कि जहाँ कहीं मनुष्य का वास है, वह देश सुन्दर है। क्योंकि जिस देश की भी सम या विषम भौगोलिक परिस्थितियों के निरन्तर संसर्ग में रहकर मनुष्यों ने दीर्घकाल से अपना जातीय जीवन बिताया है, जहाँ के पेड़-पौधों, फल-फूल, पशु-पक्षियों के वे चिर-सहचर हैं, जहाँ की जलवायु और ऋतुओं—वर्षा, आतप, शीत के वे अभ्यस्त हैं, जहाँ के नदी-नालों, गिरि-बनों, सागर-झीलों और खेत-खलिहानों से उनके जातीय इतिहास की स्मृतियों और उनके दैनंदिक सामान्य कर्म-जीवन के अर्थ-सम्बन्ध और राग-तन्तु इतने गुंफित और भाव-प्रवण हो गये हैं कि वे प्रकृति के समस्त प्रकोपों और स्वेच्छाचारिता के बावजूद उसके साथ तादात्म्य और सामंजस्य स्थापित कर चुके हैं—वह देश कुल मिलाकर उन्हें सुन्दर ही लगता है। इसी लिए ध्रुव प्रदेश के असह्य शीत, सहारा के मरुस्थल और भूमध्य-रेखा की असह्य गरमी झेलने वाले प्राणी भी अपने देश को उतना ही प्यार करते हैं जितना कि विश्व के सुन्दर कहे जाने वाले प्रदेशों के निवासी। देश हों या और कुछ, मनुष्य से ही उनकी सुन्दरता और गरिमा है। मनुष्य का सामाजिक जीवन ही इन गुणों का प्रमाण और प्रतिमान है। विभिन्न प्रदेशों की विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों में रहने वाले मनुष्यों में आदि-काल से ही वस्तुओं के साथ-साथ अपने-अपने अनुभवों का भी आदान-प्रदान और विनिमय होता रहा है, जिससे मानव-जीवन की अपेक्षा में प्रकृत और मनुष्य-कृत वस्तुओं के मूल्य बनते गये हैं और उनमें तुलना करना संभव हो सका है। इसी लिए ऐसे वाक्यों में सार्थकता है कि 'काश्मीर पूरब का स्विट्ज़रलैण्ड है,' 'बाग़े-अदन है' या 'अर्ज़ीजन्नत' अर्थात् 'भू-स्वर्ग है'। इन वाक्यों का सीधा-सादा अर्थ केवल इतना है कि मनुष्य ने अपने दीर्घकालीन और विश्व-व्यापी अनुभव से पाया है कि काश्मीर की तुलना या तो स्विट्ज़रलैण्ड और बाग़े-अदन से की जा सकती है या फिर कहना चाहिए कि पृथ्वी पर उससे सुन्दर और रमणीक देश दूसरा नहीं है। मुझे स्विट्ज़रलैण्ड या बाग़े-अदन देखने का सौभाग्य नहीं मिला, केवल पुस्तकों में ही उनके बारे में पढ़ा है या वहाँ के यात्रियों के मुख से उनके सौन्दर्य की महिमा सुनी है, और मुझे स्वयं अपनी मातृ-भूमि ब्रज-प्रदेश से हार्दिक

अनुराग है, जिसकी कुञ्ज-गलियों और करील-कछारों की मदिर सुन्दरता के गीत भारत के अगणित कवियों ने गाये हैं—फिर भी काश्मीर में लगातार चार वर्ष बिताकर और दुनियाँ के अन्य देशों के बारे में बहुत-कुछ पढ़-सुनकर आज मैं आपके सामने प्रथम चीनी यात्री ह्वान सांग और ओ-कॉंग से लेकर अब तक काश्मीर गये असंख्य यात्रियों और दर्शकों के विवरणों में निरपवाद रूप से स्वीकार की गई इस बात में अपनी साक्षी भी जोड़ना चाहता हूँ कि काश्मीर वास्तव में एक अर्ज़ीजन्नत या भू-स्वर्ग है—इस दृष्टि से नहीं कि वहाँ के निवासी ज्ञान-विज्ञान में सब से बढ़-चढ़ कर हैं और उनके देश में इतना धन-धान्य पैदा होता है कि प्रत्येक काश्मीरी का जीवन संस्कृत और साधन-सम्पन्न है। इस दृष्टि से न तो बाहर के लोग ही और न काश्मीर के निवासी ही अपने देश पर अभी गर्व कर सकते हैं। इसके हेतु ही तो उनका 'नया काश्मीर' निर्माण करने का संघर्ष है जो अभी जारी है। किन्तु इस अर्थ में काश्मीर अवश्य एक भू-स्वर्ग है कि उस पर प्रकृति ने मुक्त करों से अपना अपार वैभव, अपनी अनन्त सुषमा, अपना अनिंद्य सौन्दर्य निछावर किया है, जिससे उसकी भूमि का कोना-कोना स्वयं अपनी मिसाल बना हुआ है। काश्मीर जाने से हमारी सौन्दर्य-भावना कोमल और व्यापक बनती है। जिन्होंने काश्मीर देखा है—दुर्भाग्य से ऐसे भाग्यशीलों की संख्या नगण्य है—उनकी मधुर स्मृतियों को जगाने के लिए, और जिन्होंने नहीं देखा है, और अपने जीवन की विडम्बनाओं के कारण जो शायद ही कभी काश्मीर-यात्रा के लिए साधन और अवकाश जुटा सकें, उन असंख्य जनों के लिए आज मैं इस दर्शनीय भू-स्वर्ग की एक झाँकी दिखाना चाहता हूँ।

विशाल हिमालय प्रदेश में काश्मीर की घाटी की स्थिति अपूर्व है। यह घाटी अगम अण्डाकार है और उसको चारों ओर से घेरने वाली हिम-किरीट-धारी पर्वत-मालाएँ भी असम अण्डाकार हैं, जैसे यह प्रकृति का विशाल एम्पीथियेटर हो। यदि पर्वत-शिखिरों से जोड़ें तो इस घाटी की लम्बाई ११६ मील और चौड़ाई ४० से ७५ मील है। अन्यथा घाटी का निचला और अपेक्षाकृत समतल भाग दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम तक ८४ मील लम्बा और २० से २५ मील तक चौड़ा है। घाटी का समतल भाग कहीं भी समुद्रतल से ५ हज़ार फुट से नीचा नहीं है। इस विशाल उपत्यका के चारों ओर अँगूठी की तरह पर्वत-मालाओं का गहन, अटूट घेरा है। दक्षिणतम स्थान के कुछ भाग को छोड़कर हर दिशा में ये पर्वत १० हज़ार फुट से अधिक ऊँचे हैं। अधिकतर उनकी ऊँचाई १३ हज़ार फुट से ज्यादा है और कहीं-कहीं पर उनके शिखर १८ हज़ार फुट की ऊँचाई तक पहुँचते हैं। दक्षिण में बानहाल दर्रे से पीर पंचाल की हिमाच्छादित पर्वत-माला दक्षिण-पश्चिम से लेकर उत्तर-पश्चिम तक घाटी को अपनी विशाल भुजा में घेरती है। पूर्वोत्तर, उत्तर और

उत्तर-पश्चिम से उच्च पर्वतीय शृंखला की एक दूसरी अटूट शाखा काश्मीर की घाटी को घेरता है, जिसमें कोहनहार, अमरनाथ, हरमुकट और काजनाग नाम के पर्वत और शिखर है, तथा लद्दाख जाने के लिए जोजी-ला और बलितस्तान और गिलगित जाने के लिए राजदग्रन और बुदखुत के प्रसिद्ध दर्रे है। इस अँगूठीनुमा घाटी के मध्य के मैदानों की ओर पहाड़ों के जो ढलाव है, उनसे होकर सैकड़ों नदियाँ, नाले और झरने बहते है और घाटी के भीतर ही कहीं न कहीं वितस्ता (झेलम नदी) में जाकर गिरते हैं। पार्श्व की जिन छोटी-बड़ी उपत्यकाओं में से होकर ये सहायक नदियाँ बहती हैं उन पर सुन्दर देवदार के बनों का सघन आवरण छाया है और इन बनों से भी ऊपर उच्च पर्वतीय मार्ग अर्थात् मैदान और चरागाह हैं जो चिरस्थायी हिम से मंडित शिखरों तक फैले हुए है। काश्मीर को चतुर्दिक से घेरने वाले पर्वतों की महान् शृंखला में केवल एक दरार है। यह निकास घाटी के पश्चिमोत्तर सीमान्त में उस स्थान पर है जहाँ से सारी घाटी का पानी बटोरकर वितस्ता (झेलम) बारामूला के निर्गम-मार्ग से सिन्धु नदी मे मिलने के लिए बाहर को बह जाती है।

अनुमान कीजिए कि वैदिक सस्कृति से पूर्व मोहेन-जो-दाड़ो की अतीत-कालीन सभ्यता के समय से चली आनेवाली काश्मीरी जाति की संस्कृति की चारित्रिक विशेषता का रूप-निर्माण करने में चारों दिशाओं में प्रहरी रूप में खड़े इन पर्वतों की अभेद्य सुरक्षा-पांत ने कितनी सशक्त और अटूट प्रेरणा न दी होगी? काश्मीर घाटी की विलक्षण भौगोलिक स्थिति की इस बाह्य रूपरेखा को ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि सहस्रों वर्षों से वहाँ के निवासी अपने चरणों से उसके दुर्गम पर्वतों और सुरम्य घाटियों के ओर-छोर नापते आये है। अपने विस्मय, जिज्ञासा और अनु-राग-भरे हृदय से उन्होंने प्रत्येक स्थान का नामकरण किया है। सहस्रों वर्षों के सामाजिक साहचर्य्य और राग-सम्बन्धों का इतिहास इन स्थानों और उनके नामों से संबद्ध है। उनके इतिहास की इस दीर्घ सांस्कृतिक परम्परा को जाने बिना ही श्रीनगर, गुलमर्ग, पहलगाँव, अमरनाथ आदि का भ्रमण करके लौट आने वाले यात्री केवल 'जो-है' वही देख आते हैं। किन्तु 'जो-है' वह पहले 'क्या-था' और आगे 'क्या-हो सकेगा'—इस भूत और भविष्य की झाँकी उन्हें देखने को नहीं मिलती। ऐसा देखना तो वस्तुतः ऐसी परिसीमित और एकांगी दृष्टि से देखना हुआ जिसमें चीजें अचल अवस्था में ही दीखती है, अपने गतिशील सजीव रूप में नहीं अर्थात् उनका अतीत हमसे कुछ नहीं बोलता, उनका वर्तमान हमारे लिए अपने ऐतिहासिक विकास और परिवर्तन की कोई मूर्त्त सार्थकता नहीं रखता और न भविष्य की ओर इशारे ही करता है। इससे काश्मीर-यात्रा का मूल्य तात्कालिक आमोद-प्रमोद तक ही सीमित रह जाता है। किन्तु यदि आपको ज्ञात हो कि काश्मीरी भाषा में कूकरनाग, वेरीनाग

अनन्तनाग आदि नामों के पीछे लगे 'नाग' शब्द का अर्थ साँप नहीं बल्कि 'चश्मा' है, और काश्मीर में ऐसे असंख्य चश्मे हैं, संभवतः प्रत्येक गाँव में हैं, और यह भी ज्ञात हो कि काश्मीरियों की दृष्टि में ये चश्मे, झीलें, झरने और नदियाँ स्वयं-भू देवी-देवता हैं, तो आपको उनके आर्थिक सामाजिक महत्त्व के साथ-साथ उनके अतीत इतिहास का भी अनुमान लग सकेगा। काश्मीर के अधिकांश प्राचीन, सांस्कृतिक और धार्मिक केन्द्र बड़े-बड़े चश्मों के स्थान पर हैं। काश्मीर मे शायद ही कोई मन्दिर, मठ, विहार मस्जिद, मक़बरा या ज़ियारत होगी जिसमें स्वच्छ, निर्मल, मधुर जल का चश्मा न हो। धार्मिक भावना से मुक्त होने पर भी जब मै काश्मीर के गाँव-गाँव में स्थित अपने देखे ऐसे सहज-सुन्दर पवित्र स्थानों की वहाँ की पुराणों और माहात्म्यों में बखान की गई अनुश्रुत धार्मिक महिमा का वर्णन पढ़ता हूँ तो काश्मीरियों के अतीत इतिहास के इस रहस्य पर विस्मय किये बिना नहीं रहता कि उन्हें किस प्रकार आदि-काल में ही इन चश्मों, नदियों, झरनों और झीलों की उपयोगिता का अनुभव करके ही अपनी सरल कल्पना से उन्हें मानव-गुण सम्पन्न व्यक्तित्व की महिमा से मंडित करना पड़ा होगा—तभी तो वे देवी-देवता, अर्थात् मानवीय कर्म, विवेक और नैतिक आचरण के प्रतिनिधि और साधारण जनों के सच्चे मित्र, सहचर और नेता के रूप में उनकी कल्पना में साकार हो सके। उनकी आधिदैविक उत्पत्ति के उपाख्यान उस अतीत की निशानी हैं जब लोक-चेतना, दैवी चमत्कार और धर्म में मनुष्य की आस्था के माध्यम से ही व्यक्त होती थी। जो भी हो, यह विस्मय-भावना उन सहज-सुन्दर स्थानों की सौन्दर्यानुभूति को हमारे अन्दर और भी व्यापक और गहरा बना देती है।

आप यदि सड़क के मार्ग से जायें और बानहाल दर्रे की सुरंग के भीतरी द्वार पर खड़े होकर नज़र दौड़ाएँ या हवाई जहाज़ से नीचे झाँककर देखें, या गुलमर्ग से, या महादेव की चोटी से या श्रीनगर स्थित गोपादरी (शंकराचार्य) की पहाड़ी से खड़े होकर घाटी पर विहंगम दृष्टि डालें तो आपको काश्मीर की अण्डाकार घाटी का विशाल ऐम्फीथियेटर एक विचित्र रंग-बिरंगी आभा में ढँका दिखाई देगा। इतनी हरियाली आपको अन्यत्र देखने को शायद न मिले। घाटी के निचले मैदान से लेकर पार्श्व की करेवा-भूमियों पर से होकर पहाड़ियों और पर्वतों तक फैले हुए स्वच्छ-जल में डूबे हुए धान के हरे-पीले-लाल-काले खेत ऐसे लगते हैं जैसे अनन्त सोपानों की एक जटिल शृंखला सामने हो। फिर श्याम रंग के घने वनों की दीर्घ करधनी और उनके भी ऊपर आँखों को चकाचौंध करने वाला बर्फ़ का चमचमाता विस्तीर्ण आँचल है, जिसके हिमशिखरों की लम्बी पाँत को काश्मीरी अपनी भाषा में 'संगरमाल' कहते हैं, जिसे सूर्य की किरणें सबसे पहले उषा की लाली में रंगकर प्रतिभासित कर

देती हैं और जिसके पीछे संध्या का सूर्य गिरते-गिरते घाटी में ऐसा अबीर छिटका जाता है कि पृथ्वी और आकाश लाल रंग में नहा जाते हैं, और सूय की इस चुहल पर सहसा इक़बाल का यह शेर याद आजाता है कि

सूरज ने जाते जाते शामे-सियः क़बा को ।
तश्ते उफ़क से लेकर लाले के फूल मारे ।।

[अर्थात्—श्याम रंग के वस्त्रों मे सजी संध्या सुन्दरी को सूरज ने जाते-जाते अरुण क्षितिज की तश्तरी से उठाकर गुलेलाला (लाल रंग का काश्मीरी वन-कुसुम) फेंक मारे ।]

और सर्दियों में जब वहाँ प्रकृति बर्फ की श्वेत चादर ओढ़कर धीर-गंभीर मुद्रा में वसन्त और ग्रीष्म की अपनी उन्मादकारी रंगरेलियों की टीसभरी याद सँजोये शान्त बैठी बिसूरती रहती है, उस समय लगता है मानों उस पर वैधव्य छा गया है। परन्तु अपनी इस निढाल, निश्चेतन अवस्था मे उसका व्यक्तित्व और भी शुचितर, पुनीत और उदात्त हो जाता है। ये सारे मनोरम दृश्य किसी भी व्यक्ति को आनन्द-विभोर और विमुग्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

बानहाल का दर्रा पार करते समय बायीं ओर पीर पंचाल की पर्वत-माला की १५ हज़ार फुट ऊँची तीन चोटियाँ नज़र आती हैं। इन्हें काश्मीरी 'ब्रमसकल' कहते हैं, जिसका अर्थ हुआ 'ब्रह्म-शिखर'। काश्मीर की नीलमत पुराण के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, महेश ने इन शिखरों पर चढ़कर घाटी में रहने वाले दानव 'जलोद्भव' से संघर्ष किया था। इनमे से अन्तिम चोटी प्रसिद्ध नौ-बन्धन तीर्थ का स्थान है। नीलमत और भारतीय प्रलय-कथा के अनुसार विष्णु ने अपने मत्स्य अवतार के समय अपना जलयान (अर्थात 'नौ') इसी शिखर से बाँधा था। दुर्गा ने प्राणि-जाति को प्रलय से बचाने के लिए इस शिखर के रूप मे अपने को परिवर्तित कर लिया था। इस शिखर के चरण में उत्तर-पश्चिम की ओर दो मील लम्बी एक पहाड़ी झील है, जिसका नाम कौंसरनाग है, अर्थात् क्रमसरस या क्रमसार, जिसका अर्थ हुआ कि यह विष्णु का एक क्रम (चरण-चिन्ह) है। नौ-बन्धन यात्रा का यही वास्तविक स्थान है। बाहर से जाने वाले यात्री अमरनाथ तो जाते है, लेकिन नौ-बन्धन तीर्थ की ओर नहीं जाते, यद्यपि इसके मार्ग में भी अनेक अनुपम दृश्य हैं, जिनमें काश्मीर का सबसे सुन्दर और दर्शनीय अहरबल का आबशार (जल-प्रपात) है, जिसकी चौड़ी-मोटी धारा दो सौ फुट की ऊँचाई से नीचे गिरती है और समीपवर्ती वन-गिरि-प्रान्तर में जिसका उछलता-बलखाता गर्जनकारी संगीत निरंतर गूँजता और प्रतिध्वनित होता रहता है। इसके लिए मार्ग 'शोपियाँ' के नगर से होकर जाता है जो मुग़लकालीन मार्ग पीर पंचाल के दर्रे के चरण में रम्बियार नदी की घाटी के मुख पर स्थित है।

दस-पन्द्रह दिन का अवकाश निकालकर काश्मीर गये यात्री के सामने श्रीनगर पहुँचकर एक धर्म-संकट-सा उपस्थित हो जाता है। वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि कहां-कहां जाये। वह श्रीनगर से बाहर पीर पंचाल की गोद में फैले मैदान गुलमर्ग की सैर को जाये, जो विदेशी राज के दिनों अंग्रेज़ों का ग्रीष्म-निवास था, जहां के उच्च पर्वतीय मैदान को चारों दिशाओं से देवदार-वृक्षों की पांत घेरती है, जहां यात्रियों के लिए गोल्फ, सिनेमा, नृत्य-क्लब आदि सभी प्रकार के आमोद-प्रमोद की आधुनिक सुविधाएँ प्राप्त है, जहां से संध्या के समय पश्चिमोत्तर बल्तिस्तान में स्थित २६ हज़ार फुट ऊँचे नंगा पर्वत की बरफाने बादलों में घिरी विराट चोटी दिखाई देती है और जहां से पीर पंचाल के एक और उच्च पर्वतीय मैदान खेलनमर्ग और उससे भी ऊपर उसके हिमांचल में फैली अलपत्थर झील के अद्भुत दृश्य देखने को जाया जा सकता है। या फिर वह लिदर नदी की घाटी में स्थित रहुनगांव जाये, जिसके मार्ग में पाम्पुर के केसर के विस्तीर्ण, समतल खेत आते है, अवन्तीपुर में अवन्तीस्वामी के विशाल मन्दिर के ध्वंसावशेष सड़क के किनारे ही देखने को मिलते हैं—जिसे नवीं शताब्दी में यशस्वी राजा अवन्तीवर्मन ने बनवाया था, फिर अनन्तनाग या इस्लामाबाद का नगर आता है, जहाँ के खिलौने, स्त्रियों के प्रसाधन की रंग-बिरंगी काश्मीरी वस्तुएँ, गब्बे और लोइयाँ प्रसिद्ध है और गन्धक के बड़े-बड़े चश्मे हैं और ऐश मुक़ाम आता है, जहां पहाड़ी पर कबीर जैसे संत-कवि शेख़ नूरुद्दीन के शिष्य की अत्यन्त भव्य ज़ियारत है, जिसमें एक गहरी कन्दरा के भीतर ऐश साहब की क़ब्र है। और फिर पहलगांव—जहां पहुँचकर प्रकृति के एक विचित्र सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है, जहां दो घाटियों से आई धाराओं का संगम है और पानी उच्छल गति से अविराम कल-कल करता बहता है और देवदार के वनों की सनसन बहती पवन में एक मादक सुरभि भरी रहती है—जहाँ से एक धारा के सहारे चलकर हमें चन्दन-बाड़ी, शेषनाग, पंचतरणी, वायुजन और अमरनाथ के प्रारंभ में हरे-भरे किन्तु बाद में उजाड़ और उदास शिलाओं और तुषार-नदों के दर्शनीय स्थान मिलते हैं, दूसरी ओर लिदर नदी की धारा के सहारे चलकर हम लिदरवत पहुँचते हैं जहां से कोलाहाई का विस्तीर्ण तुषार-नद शुरू होता है। या फिर वह अनन्तनाग से आगे एक दिशा में हटकर स्थित मटन के तीर्थ को देखने जायें, जहाँ के पण्डे काशी और मथुरा के पण्डों की ही तरह अपनी सात पुश्तों में पहली बार काश्मीर गये यात्री को भी पोथियों में से निकालकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चला आया यजमान सिद्ध करने में प्रवीण है और जहां से लगी हुई करेवा भूमि पर स्थित मार्तण्ड के विशाल मन्दिर का ध्वंस है जो प्राचीन काश्मीरी स्थापत्य का बेजोड़ नमूना है। या वह अनन्तनाग से आगे बढ़कर एक तिकोनी पहाड़ी के चरण में स्थित अच्छाबल के मुग़लकालीन बाग की सैर को

जायें, जहाँ के चश्मे का मधुर धातु-मिश्रित पानी स्वास्थ्यवर्धक है। या फिर वह अनन्तनाग से ही एक और दिशा में मुड़कर वेरीनाग जायें जिसका विशाल हरे रंग का पक्का चश्मा वितस्ता का उद्गम-स्थान है, जिसमें असंख्य रंग-बिरंगी मछलियाँ क्रीड़ा-कौतुक करती रहती हैं, जिन पर पड़ने वाली सूर्य-रश्मियाँ पानी के अन्दर छोटे-छोटे इन्द्रधनुष बनाती-बिगाड़ती रहती हैं—इस दृश्य को यदि उसके पास केमरा है तो फिल्म पर, नहीं तो अपने हृदय-पट पर सदा के लिए अंकित कर लाये। या फिर वह इन सब स्थानों का प्रलोभन छोड़कर पश्चिमोत्तर दिशा में गाँदरबल होता हुआ सिन्धु-गंगा की सुरम्य घाटी में भ्रमण के लिए निकल जाय, जहाँ कंगन के मैदान में पिकनिक करे, या और आगे बढ़कर गुलमर्ग जैसे ही एक दूसरे पर्वतीय मैदान सोनमर्ग में जाकर अपना तम्बू गाड़ दे, जहाँ भूर्जपत्र के वृक्ष एक अनोखा संसार बसाते हैं, जहाँ से हरमुख (हरमुकट) पर्वत की विशालता का संपूर्ण दृश्य मन-प्राण पर छा जाता है। या फिर वह सोनमर्ग न जाकर, यदि मौसम ठीक हो तो हरमुख पर्वत पर ही क्यों न चढ़े, जिस पर काश्मीर के अनेक प्राचीन तीर्थ-स्थान हैं, जहाँ १३ हज़ार फुट की ऊँचाई पर गंगबल की झील है जो सिंधु-गंगा का उद्गम स्थान है और नन्दकोल नाम की झील है, जिसका प्राचीन नाम नन्दीसरस है और जो उपाख्यानों के अनुसार शिव और उनके नंदी का निवास-स्थान है। नंदी-क्षेत्र की झीलों से निकलने वाली नदी कानकनई (कनकवाहिनी) की घाटी में ही बुथिशेर (शिव भूतेश्वर) और ज्येष्ठेश्वर के प्राचीन मन्दिरों के ध्वंसावशेष हैं। या फिर वह यात्री घाटी के पश्चिमोत्तर भाग में स्थित काश्मीर की सबसे बड़ी झील बूलर झील की विशालता का आनन्द लेने जाये, जहाँ किसी सागर के किनारे खड़े होने का भ्रम होता है और जिसमें तीसरे पहर बल्तिस्तान के नंगा पर्वत की ओर से आये तीव्र प्रभंजन से ऐसी उत्ताल तरंगें उठती हैं कि भीषण तूफ़ान का समा बँध जाता है—या फिर वह लोलाब की सुन्दर घाटी में घूमने के लिए निकल जाय, जो प्रेमियों के एकान्त भ्रमण के लिए सबसे उपयुक्त और मनोरम घाटी है।

इस कल्प-विकल्प में कि कहाँ जाया जाय और कहाँ न जाया जाय, अक्सर यात्री कोई निश्चय न कर पाकर श्रीनगर की डल झील या सर्पाकार बल खाती हुई झेलम नदी की सुन्दर-सुहानी हाउस-बोटों की आरामदेह ज़िन्दगी को ही काश्मीर यात्रा की चरम-पूर्ति मानकर वहीं टिक रहते हैं, और अधिक से अधिक श्रीनगर के दर्शनीय स्थानों, जैसे मुग़लकालीन चश्माशाही, निशात, शालीमार और नगीन बाग़ों को देख आते हैं, हारवन की झील और बौद्धकालीन खंडहरों का चक्कर लगा आते हैं, शाह हमदान और जामा मस्जिद की सुन्दर स्थापत्य-कला के दर्शन कर लेते हैं और गोपाद्री की पहाड़ी पर स्थित शंकराचार्य के प्राचीन मन्दिर से सारी घाटी और

श्रीनगर पर एक विहंगम दृष्टि डालकर अपनी तृप्ति कर लेते हैं। किन्तु इतने से ही सन्तोष करके लौट आना काश्मीर न जाने के बराबर है। काश्मीर जाने वाले यात्री को तो ऐसे विकल्पों का सामना करना ही पड़ेगा, क्योंकि वहां की प्रत्येक उपत्यका, प्रत्येक स्थान अनुपम रूप से सुन्दर है।

—दिसम्बर १९५१

मूल्यांकन

१८

मौत और दोशीज़ा

[रहमान राही]

१

इक बार शाहे ज़ार मात खा के कारेज़ार से
चन्द इक बचे-खुचे मुशीर हमसफ़र लिए हुए
इक गाँव में से आ रहा था नामुराद लौट के
ग़ुस्से में ग़र्क दिल को बरअफ़रोख़्ता किये हुए
इतने में इक शजर की ओट से किसी दोशीज़ा का जवान क़हक़हा उठा
और शाह के जिगर में जैसे आग सी लगा गया
जोशे ग़ज़ब से लाल अबरूओं की वह कमानियाँ कड़क गयीं
और शह का राहवार दफ़अतन उधर को पिल पड़ा,
यह देख के मुसाहिबीने शाह भी
उसी तरफ़ झपट पड़े।
अपने लिबासे अस्करी को खड़खड़ा के शाह चीख़ चीख़ उठा
और उस दोशीज़-ए-जमील पर वह यूँ बरस पड़ा,
'फूहड़ ! निकालती है दाँत अब भी तू, यह किस पै हँस रही है यूँ मनहूस की तरह ?
क्या देखती नहीं मुझे मेरे हरीफ़ ने
मैदाने कारज़ार में क्यूँकर हरा दिया ?
जाँ बाज़ मेरे ढेर हो गये हैं और बेशुमार फ़ौज हाथ से गयी
पलटा हूँ घर की ओर कुमक साथ ले चलूँ
मैं तेरा शाहे ज़ार हूँ और तू मेरी मुसीबतों पै कुड़कुड़ा रही है इन्बिसात से ?'
सुनकर यह बदकलामियाँ वह पैकरे जमाल
अपनी जवान उभरी छातियों पै इक नक़ाब डालने लगी

शाहे ज़ार=लाल क्रान्ति से पूर्व रूस का सम्राट्; कारज़ार=जंग; मुशीर=सलाहकार; बरअफ़रोख़्ता=जला-भुना; शजर=सुन्दर वृक्ष; दोशीज़ा=युवती, कुमारी; अबरू=भौंहें; राहवार=तेज़ रफ़्तार घोड़ा; दफ़अतन=अचानक, हठात्; लिबासे अस्करी=ज़िरहबख़्तर; जमील=ख़ूबसूरत; हरीफ़=दुश्मन; इन्बिसात=अपार ख़ुशी; बदकलामियाँ=अपशब्द, गाली-गलौज; पैकरे जमाल=हुस्न या सौन्दर्य की प्रतिमा।

शर्मिन्दगी के दाग़ से महफ़ूज़ शादमानियाँ
अब भी टपक रही थीं उसकी एक-एक बात से
"मेरे बुज़ुर्गवार शाहे ज़ार अपनी राह लें
मैं अपने दिलरुबा से हमकलाम हूँ
और दोनों शादमाँ है हम !
इस इश्को-आशिकी में भला किसको शाह का ख्याल
हँसते हैं जार या उन्हें आया है कुछ मलाल ?
क़न्दीलें ज़ौफ़ेगन वह मक़ामाते पाक की
हैं मान्द सारी शम-ए-मुहब्बत के सामने ।"
क़हरो ग़ज़ब से शह के तन बदन में आग लग गयी
और काँपते हुए कड़क के बोल उठा,
"इस बे-अदब को करलो गिरफ़्तार, या अभी,
हाँ हाँ अभी, यही पै घोंट के गला
बतलाओ इसे कि हद से बढ़ने वाले बेवकूफ़ों की सज़ा भी होती है बड़ी !"
इस पर जो शाह के मुसाहिबीने पुरग़रूर के
तेवर बिगड़ के रह गये तो फूंक मार के चिराग़े हुस्न को बुझा दिया,
बदबख़्त भूत टूट पड़ें जैसे एक साथ
यूं उस दोशीज़-ए-जबाँ को ठूंस कर फ़ना की गोद में ख़ामोश कर दिया ।

२

मौत हमेशा से है बदकिरदार के ताबे मगर
आज उसमें भी हुआ बेदार एक बाग़ी ख़रोश
आज उसके भी दिले वीराँ में जमकर जी उठे
बीज इश्को-ज़िन्दगी के और बहारों की जवानी को हँसी आने लगी
हर घड़ी सड़ती हुई लाशों में उठना बैठना
रात-दिन बस रींगती बीमारियों से खेलना
कितने बेहूदा मशाग़िल !

महफ़ूज़=सुरक्षित; शादमानियाँ=चरम खुशियाँ; दिलरुबा=महबूब, प्रेमी; शादमा=बेहद खुश; क़न्दीलें ज़ौफ़ेगन=रोशनी फैला रहे झाड़-फ़ानूस; मक़ामाते पाक=पवित्र स्थान (गिरजाघर); मान्द=बेनूर, मन्द ।

बदकिरदार=बुरे काम करने वाला; ख़रोश=स्पन्दन; मशागिल=काम-धन्धे ।

काश, मैं इनसे खलासी पा सकूँ,
मौत के जी में ज़रा आराम से जीने की ख्वाहिश जी उठी
गिरिय-ए-दहशतफ़ज़ा—
हर किसी का इत्तेसाले आखिरी में तर्जे तस्लीमात होता है यही
कर चुकी अब वह बशर की ज़ूद अंजामी का मातम बे-हिसाब
दहशतें, नौहे, जनाज़े, अश्कबारी, मक़बरे
मुन्हमिक मसरूफ़ और इक सै-ए-ना-मसऊद मे
रतबोयाबिस मे ज़मीं को पाक करने में बड़ी मश्शाक़ है
और फिर पहलू-तीही से मावरा
लेकिन इस सारी मशक्कत का एवज़
बददुआ-ए-इब्नेआदम के सिवा कुछ भी नहीं,
मौत इस लानत-मलामत से बडी रंजीदा होकर कारवाने ज़ीस्त पर
और बेदर्दी मे धावा बोलती है क़त्लोग़ारद के लिए
और कभी इस आलमे क़हरोग़ज़ब में चूक कर
ज़ैद के बदले उमर या बकर को देती है पैग़ामे फ़ना
अब भी क्या शैतां से रखकर अहदे-उल्फ़त उस्तवार
मौत को अपने जिगर की गर्मजोशी के लिए
हिद्दते दोज़ख़ मे दम लेते ही रहना चाहिए ?
अब भी क्या इस ज़िश्त सूरत काले शैतां से उसे
अपने दामन को छुड़ाने पर न आना चाहिए ?

३

जुर्रत से इन्तजार में मनहूस वार के
जुर्रत से देखती है वह दोशीज़ा मौत को

खलासी—छुटकारा; गिरिय-ए-दहशतफ़ज़ा=भयकारी रोना-धोना; इत्तेसाले आख़िरी=आख़िरी मुलाक़ात (मौत के समय); तर्जे तस्लीमात=आदाब (अभिनंदन) का ढंग ; बशर=इन्सान; ज़ूद अंजामी=क्षणभंगुरता; नौहे=मरने पर रोना; मुन्हमिक=दत्तचित्त; मसरूफ़=व्यस्त; सै-ए-ना मसऊद=अप्रिय चेष्टा; रतबोयाबिस=कूड़ा-करकट, मश्शाक़=निपुण; पहलू-तीही=कन्नी कतराना; मावरा=ऊपर, बालातर; एवज़=पुरस्कार, बदला; इब्नेआदम=इन्सान; कारवाने ज़ीस्त=ज़िन्दगी का कारवां; क़हरोग़ज़ब=क्रोध; अहदे उल्फ़त=प्रेम-बन्धन; उस्तवार=दृढ़; हिद्दते दोज़ख़=नरक की ज्वाला; ज़िश्त सूरत=वीभत्स आकृति वाले।

और मौत अपने सैदे बे-ख़ता पै रहम खा के आहे-सर्द भर के बोल उठी,
"अफ़सोस तू अभी बहुत सग़ीर सिन है, हाय हाय,
क्यों तू ने शाहे ज़ार को गुस्ताख़ियों से अपनी यूं नाराज़ कर दिया ?
हाँ अब तो मुझ पै फ़र्ज़ है कि छीन लूं यहीं पै तेरी जिन्दगी।"
यह सुन के वह जमाले बेमिसाल चहचहा उठी
हो जैसे पुरमज़ाक बात कोई छेड़छाड़ की
"औरों को देखे कोई भला क्यों हो बदगुमान ?
उस सब्ज़ाज़ारे पुरबहार में, वहाँ पै हाँ वहाँ
में अपने दिलरुबा से ले रही थी अव्वलीन बोस-ओ कनार
क्या उस समय में सोच भी सकती थी शाहे ज़ार
आया वह मात खा के आ रहा है ख़श्म से भरा ?
बेशक मै हमकलाम शाह से हुई
लेकिन सुनो तो मैंने उससे क्या कहा,
"मेरे बुज़ुर्गवार शाहे ज़ार अपनी राह ले"
मैं समझी मेरा तर्ज़ तकल्लुम है खुशगवार
मेरे तो दिल में कोई शक व-शुबह भी न था
इतनी सी बात थी मगर देखो तो इसका क्या बतंगड़ा बना के रख दिया
अब तुझसे छूटने की भी हर राह मुझ पै बन्द है
और तू यह जानती है कि तकमीले-इश्क के बग़ैर मौत कितनी सख्त है,
ऐ प्यारी मौत ! इज़्न दे कि एक बोसा और लूं
बस एक बोसा और फिर यह खंजरे-अजल जो चाहे कर चले।"
नयी थी मौत के लिए यह भोली खुश-बयानी उस हसीन-ए-जवान की
किसी ने आज तक कभी भी मौत से
न की थी इस तरह की कोई इल्तिजा
वह सोचने लगी कि "जी सकूंगी किस तरह मै जब
वह मस्ते बोस-ओ-कनार होंगे और उनका वह लतीफ़ लम्स…"

सैदे बे-खता = बेगुनाह शिकार; सग़ीर सिन = बाला उमर; बोस-ओ-कनार = चुम्बन और आलिंगन; ख़श्म = गुस्सा; तर्ज़ तकल्लुम = बात करने का ढंग; तकमीले-इश्क = प्रेम की पूर्ति; इज़्न = इजाजत; खंजरे अजल = मौत का खंजर; इल्तिजा = प्रार्थना, दरख़ास्त; लम्स = स्पर्श।

यह सोच के जो उसकी बूढ़ी हड्डियों में एक आँच-सी उठी
तो मौत अपने साँप को सकूत का इशारा दे के बोल उठी.
"जा मेरी ख़ूबरू ! तू आज रात ऐश से गुज़ार
जा सुबह तक ले अपने दिलरुबा से बोस-ओ-कनार
यह रात तेरी रात है जा इसकी क़द्र कर
मैं पौ फटे ही माँग लूंगी तुझसे तेरी ज़िन्दगी ।"
यह कह के मौत बैठी एक संगे गर्म का सहारा ले के जिसमें आँच थी
श्वाए आफ़ताब की
जब साँप ख़ंजरे अजल पै दाँत फेरने लगा
और वह दोशीज़-ए-हसीं ख़ुशी से झूम-झूम उठी
तो बूढ़ी मौत बड़बड़ाई, "जा री जा, कि वक्त मुख़्तसर है जा ।"

४

हल्की-हल्की सेंक देकर मीठी-मीठी धूप ने
मौत को आहिस्ता से मस्ती पै मायल कर दिया
फेंक कर गन्दे पुराने पूले अपने एक ओर
वह बड़े आराम से उस बेज़रर पत्थर पै खुल कर सो गयी
लेकिन इक ख्वाबे परीशां ने उसे अफ़सुर्दा ख़ातिर कर दिया
देखती क्या है कि क़ाबील, उसका बाप
अपने बेईमान ठिठुराते हुए पोते के साथ
इक सधाये साँप की सूरत उस अनजानी बुलन्दी की तरफ़
रींगता है अपने ज़ौफ़ोनातवानी का पता देता हुआ
आसमां की ओर अफ़सुर्दा नज़र बाँधे हुए

सकूत=ख़ामोश रहने का; ख़ूब रू=सुन्दर मुख वाली; संग=पत्थर; श्वाए आफ़ताब=सूर्य किरण; मायल=प्रवृत्त ।

पूले=घास के जूते; बेज़रर=जो तकलीफ़ न दे; अफ़सुर्दाख़ातिर=व्यथित हृदय, क़ाबील=(नाम) इस्लामी पुराणों के अनुसार प्रथम पुरुष आदम के दो बेटे थे, क़ाबील और हाबील । क़ाबील ने अपने भाई हाबील की हत्या करके सब से पहले मौत को जन्म दिया था, इसलिए वह मौत का बाप कहा जाता है; क़ाबील का पोता यहूदा था जो ईसा का शागिर्द था लेकिन उसने ईसा को धोखा देकर बेच डाला था; ज़ौफ़ोनातवानी=कमज़ोरी, क्षीण शक्ति; अफ़सुर्दा=ग़मगीन, दुखी ।

गिड़गिड़ाया बूढ़ा क़ाबील, "ओ ख़ुदा ! मेरे ख़ुदा !"
"ओ ख़ुदा !" वह दूसरा बदकार पोता भी दुहाई दे गया
जिसकी नज़रों से था धरती का कलेजा दाग़ दाग़
और ऊपर वह सरे कोहसार पर गुलरंग बादल के संगिस्तां में ख़ुदा
बैठकर आराम से
पढ़ रहा है इक वसी और इक दुरख़्शन्दा किताब
तारे हैं अल्फ़ाज़ जिसके और क़ारी की बसीरत को बढ़ा देते हैं जो
और यह सारी कहकशाँ बस इक वरक़।
एक आलीशां फ़रिश्ता अपने गोरे-गोरे हाथों में लिए
बर्क़ का कोंदा सरे कोहसार पर इस्तादा है
उसने इन आवारा राहगीरों को यह फ़रमां दिया
"दूर हट जाओ, ख़ुदा का तुम से कोई काम क्या ?"
"रहम मीकाईल हम पर रहम !" बूढ़े ने यह चिल्ला के कहा,
"मैं हूँ किस दरजे का पापी यह मुझे मालूम है
मेरी बदकारी पै शाहिद हैं सभी मारे गये
मैं वह बदबख़्तो लई हूँ जिसके हाँ से मौत ने पाया जनम।"
"रहम मीकाई !" यहूदा भी उज्र ख़ाँ हो गया,
"हाय मेरे पाप तो क़ाबील से भी बढ़ के है
हाँ हाँ मेरी ही दगाबाज़ाने जुम्बिश के तुफ़ैल
मेहरसूरत वह ख़ुदा का लाल भी मारा गया।"
और फिर दोनों ने मीकाईल से की एक होकर इल्तिजा,
"प्यारे मीकाईल ! मालिक तक हमारी यह गुज़ारिश ले के जा
एक बार उस आलमे अक़दस से हम पर रहम का इक लफ़्ज़, हाँ हाँ
रहम आसार इक झलक नाज़िल करे।"

कोहसार=पहाड़; संगिस्तां=संगमरमर की चट्टान जो जल से ऊपर निकली हो; वसी=व्यापक; दुरख़्शन्दा=चमकती हुई; क़ारी=पाठक; बसीरत=ज्ञान की रोशनी; कहकशां=आकाश-गंगा; बर्क़=बिजली; सरे कोहसार=पहाड़ की चोटी; इस्तादा=खड़ा; मीकाईल=ख़ुदा का प्रहरी फ़रिश्ता; शाहिद=गवाह; लई= धिक्कार के पात्र; हां से=कोख से; उज्र ख़ां=माफ़ी चाहने वाला; जुम्बिश= इशारा, संकेत; तुफ़ैल=वजह से; मेहरसूरत=सूरज की शकल वाला; ख़ुदा का लाल=ईसा मसीह; आलमे अक़दस=पवित्र नगर; नाज़िल=डाल देना।

सुन के यह अर्ज़े गुनहगारां, फ़रिश्ता ने कहा,
"तीन बार अब तक मैं कह आया हूँ मालिक से तुम्हारी रुएदाद
पहली दो बार तो वह ऐसी खामोशी में रहा
जैसे कुछ सुनने में आया ही न हो
और जब आखिर में सुन पाया तो यों गोया हुआ,
"याद रख ले मौत का जब तक रहेगा जिन्दगी पर अख्तियार
ना तो वह क़ाबील और ना ही वह उसका हमनवा
छूट पायेगा कभी,
दर खुरे अफ़वो इनायत है वह फ़ातेह बन के जो
मौत के हाथों से छीनेगा हमेशा के लिए
खंजरे मर्ग आफ़रीं।"
इस पै वह पोता, वह ग़द्दारे अज़ल
जिसने बेचा था खुदा के लाल को
और बिरादरकुश वह, क़ाबीले लईं
जिसके हाँ से मौत पाई थी जनम
अपनी बदहाली पै कराहते हुए
लड़खड़ा कर गिर पड़े दोनों वह उस कोहसार से
और नीचे इक अफ़ूनत से भरे दलदल में ग़ोते खा गये
इस पै इब्लीस और उसके साथियों ने झूम कर
उनकी वह दुर्गत बनायी जिसके वह हक़दार थे
और भी नीचे धँसा के उस सियह दलदल में उन पर अपनी शोलाबारियाँ भी थूक दीं।

५

जवान हो चुका था दिन कि मौत ख्वाब से उठी
"कहाँ है वह दोशीज़ा ?" मौत इक नज़र घुमा के ढूंढने लगी
और ऊँघते में बड़बड़ाई 'हत्तेरे की बदतमीज !
यह इतनी रात और यह सुबह भी थी जैसे मुख्तसर !'
ग़ुनूंदगी में इक गुले सितारा तोड़ कर वह सोचने लगी

रुएदाद = कहानी; हमनवा = साथी; दरखुरे अफ़वो इनायत = बख्शीश के लायक़; फ़ातेह = विजयी; मर्ग आफ़रीं = मौत लाने वाला; अज़ल = चिरकालिक; बिरादरकुश = भाई की हत्या करने वाला; अफ़ूनत = सड़ांध; इब्लीस = Devil, गुमराह करने वाला शैतान; शोलाबारियाँ = हिक़ारत की चिनगारियाँ। ग़ुनूंदगी = उनींदी हालत

कि आफ़ताब इसके सिर पै कैसे बुन रहा है एक दायरा-सा नूर का
वह कैसे अपनी शोला-सा श्वा से चुन के इसके बर्गे रेशमीं
वह कैसे इनमें रंग भर रहा है रंग-रंग के
यह बात मौत की समझ से कुछ बुलन्द इक अनोखी बात थी
तमाज़ते श्वाए आफ़ताब से भड़क के मौत गा उठी,

"इन्सान बड़ी बेदरदी से
अपने ही अज़ीज़ इन्सानों का
ख़ुद ख़ून बहाया करते हैं
और ज़ेरे ज़मीं दफ़ना के उन्हें
बख़्शिश के जनाज़े पढ़ते हैं,
'मरहूम पै रहमत का साया,
मरहूम पै रहमत का साया !'

इन्सां को समझना मुश्किल है
इन्सां को समझना मुश्किल है
ज़ालिम और जाबिर हुक्मरवा
ख़ुद अपने ही ख़ूनी हाथों से
देता है उन्हें भर-भर के सज़ा
पर जब उसकी मौत आती है
यह लोग मतानत से उसको
दफ़ना के दुआएँ देते हैं,
'मरहूम पै रहमत का साया,
मरहूम पै रहमत का साया !'

झूठा हो कोई, सच्चा हो कोई
इज़हार है मातम का यकसां
गूंज उठते हैं इक जैसे मंतर,
'मरहूम पै रहमत का साया,
मरहूम पै रहमत का साया !'

शोला-सा=शोला जैसी; श्वा=किरन; बर्गे रेशमीं=रेशम-जैसी पंखड़ियां; तमाज़त=गरमी; मरहूम=हुतात्मा; रहमत=दया; जाबिर=जब्र करने वाला; हुक्मरवा=निरंकुश; मतानत=गंभीरता।

अहमक़ हो कोई; हैवां हो कोई
या ज़ानिये ज़हर आलूदा कोई
जब हुक्म से मेरे मरते हैं
उस वक्त भी यह बेहूदा भजन
गूंज उठता है उनके होठों पर
"मरहूम पै रहमत का साया,
मरहूम पै रहमत का साया !"

६

ख़त्म होकर गीत फिर से मौत के ग़ुस्से ने लीं अँगड़ाइयाँ
इस दोशीज़ा ने तो अपनी रात से भी बढ़ के और इक दिन से अफ़ज़ूं वक्त को अपना लिया
इस ग़लतकारी पै पछताना पड़ेगा अब उसे
मौत से बर्दाश्त ऐसी दिल्लगी होती नहीं
ख़श्म से झल्ला उठी मौत और पूले खींचकर
पिंडलियों पर बाँध लीं फटी-पुरानी पट्टियाँ
इन्तज़ारे आमदे माह के बग़ैर
वक्त का नुक़सान करने के बिना
मौत अपनी राहे-बदआसार पर बढ़ने लगी
पूरे इक साअत बदिक़्क़त चलते चलते आख़िरश
उसने इक जंगल के सब्ज़ाज़ार में
चांदनी की दिलकुशा फुहार में
लहलहाती घास पर फूलों के खेमों के तले
अपनी दोशीज़ा को देखा जैसे मदहोशी में देवी हो कोई
उसकी अरमाखेज़ उभरी छातियाँ थीं बेहिजाब
आमदे फ़सले बहारां के लिए जैसे बिरहना बाग़ हो
उसके रेशम जैसे जिस्मे नाज़नीं पर किस तरह
जगमगाते हैं सितारों की तरह चिपके हुए बोसे तमाम
सुर्ख़तर दो और तारे छातियों पर ज़ौफ़िशां

ज़ानिये ज़हर आलूदा=विषभरी कुलटा।

अफ़ज़ूं=ज्यादा, बढ़कर; माह=चाँद; राहे-बद-आसार=बुरे मार्ग पर; साअत=घड़ी या घंटा; अरमाखेज़=कामना जगाने वाली; बेहिजाब=नंगी; ज़ौफ़िशां=रोशनी फैलाते हुए।

नीलगूंतर और दो तारे वह उसकी शर्मगीं दो अँखड़ियाँ
जाती हैं जिनकी निगाहें पुरसकूँ
आसमां के नीले रस्तों से बहुत बाला परे अफ़लाक में
दोनों आँखों के तले दो हल्के हल्के नीले दाग़
तमतमाते हैं वह उसके सुर्ख़ दो चूमे हुए शीरीनलब
जिनमें उसके दिलरुबा ने चूम कर
एक दर्देवज्दआवर सा जगा कर रख दिया
और ख़ुद सर रख के उसकी गोद में
लुत्फ़ो इत्मीनां से बे ख़ुद हो गया।
देख कर इस आलमे उल्फ़त में उस दोशीज़ा को
मौत का ग़ुस्सा भी धीरे-धीरे मध्यम पड़ गया
और उसके कासए सर में ग़ज़ब के आख़िरी शोले ने बुझकर हू का आलम कर दिया
"तूने क्या हव्वा के मानिन्द जान कर
खा लिया है दान-ए-गन्दुम कि यूँ
आड़ लेकर एक झाड़ी की छिपी बैठी है अल्लाह की निगाहों से परे ?"
आसमां की तरह उस दोशीज़-ए-मासूम ने
चांद तारों की ज़िया में जगमगाते अपने सीने को झुका कर चेहर-ए-दिलदार को
मौत की खुबती निगाहों से बचा कर रख दिया
और फिर जुर्रत से यूँ गोया हुई
"झिड़कियाँ रहने दे और हाँ देख इसे चौका न दे
अपने इस झनकारते खंजर को रख दे इक तरफ़
मैं अभी इस दिलरुबा से छूट कर इस क़ब्र में सो जाऊँगी—
काश, तू इसको बड़ी मुद्दत तलक लेने न पाये,
देर मुझसे हो गयी बेशक मुआफ़ी चाहिए
मैंने सोचा मौत हर्गिज़ दूर हो सकती नहीं
इससे पहले ही कि छिन जाये यह मेरी मुख़्तसर-सी ज़िन्दगी
इज़्न दे, ऐ मौत ! अपने दिलरुबा से एक बार
आख़िरी बार इससे हम-आग़ोश हूँ

नीलगूंतर=गहरे नीले; अफ़लाक़=आकाश; शीरीन=मधुर; लब=ओंठ; वज्दआवर=उन्मादक; कासए सर=खोपड़ी; ग़ज़ब=क्रोध; हू=शून्य, सन्नाटा; हव्वा=(Eve या इड़ा); ज़िया=रोशनी।

कितने पुरदर्द और शीरीं है ये बोसे इश्क के
देख किस दरजा हसीं है आह ! मेरा दिलरुबा !
यह चमकते दाग़ सारे, हाँ हाँ सारे इसके हैं
देख मेरी छातियों पर और रुख़सारों पै यह किस शान से
फूलते हैं नव दमीदा और घने लालों की मानिन्द, देख ले !"
"जान पड़ता है कि तू ख़ुरशीद से हमबोसा थी !"
मौत ने शरमा के हँसते में कहा,
"लेकिन ऐ मेरी हसीनो ख़ूबरू !
मेरे हिस्से में नहीं बस एक तू
मेरी ताराजी तबहकारी के हैं लाखों निशां
वह घड़ी जब मैंने पहले पहल इसे अपना लिया
तब से मैं मसरूफ़ हूँ इस फ़र्ज़ की तकमील में
अब तो इस धन्धे में मेरी हड्डियाँ
भद्दी बेरस हो गयीं और बाल भूरे पड़ गये
मैं तो इक लमहे का भी नुक़सान कर सकती नहीं
आओ अब, ऐ ख़ूबरू, मैं काम अपना कर चलूँ।"
सुन के यह दावा दोशीज़ा के जिगर से हूक उठी,

"न अब यह ज़मी और न यह आसमां
मेरा दिलरुबा राह पाये कहाँ ?
है शादां मेरी रूह में आग जो
झुलसती है वह खौफ़े तक़दीर को
हमें आज इन्सां की हाजत नहीं
नहीं अब खुदा की ज़रूरत नहीं
हमारी यह बच्चों की जैसी खुशी
जो आज़ाद हर रंज से हो गयी
इसे अब नहीं ग़म किसी बात का
ख्याल अपनी इक शादमां ज़ात का
मुहब्बत में चलती यही रीत है,
मुहब्बत मुहब्बत ही की मीत है।"

नव दमीदा=नये खिलते; ख़ुरशीद=सूर्य; ताराजी=बरबादी; तकमील=पूरा करना; लमहा=क्षण; हाजत=ज़रूरत।

मौत साकित है तफ़क्कुर में पड़ी सामित खड़ी
सुन रही है गीत लेकिन रोक इसे सकती नहीं
गीत, कैसा गीत ! जो सूरज से बढकर जौफ़िशां
जो ख़ुदाओं की भी आगाही से बाला-ओ-बुलन्द
आग से भी है तवानातर मुहब्बत, जो इसे
बख़्श देती है बड़ी ताबो तबां

७

और फिर इस ख़ामशी में मौत कैसे खिल उठी
एक रश्क आमेज़ हिद्दत के तुफ़ैल
उसकी बेरस हड्डियों में गर्मजोशी आ गयी
अब यह ठंडी पड़ गयी और अब बुख़ार आने लगा
मौत पर यूं इस तरह से कोई छा जाने लगा
आज दुनियाँ में हुआ यह किस नये दिल का ज़हूर
माँ, नहीं, और मौत भी हरगिज़ नहीं
हाँ फ़क़त औरत तवानातर दिमाग़ो-दिल से है
यूं दिले वीरां में उसके इश्क राह पाने लगा
बीज रहमो-आरज़ूमन्दी के भी बढ़ने लगे
जिनको इस इश्के-तवाना का पता मिल जायेगा
ख्वाह कोई आसीबे बदअंजाम हो
जिसको नाउम्मीद कर डाला हो अपनी ख्वाहिशे बदफ़ाल ने
उन सभों को शब के सन्नाटे में बतलायेंगी इसकी दिलकुशा सरगोशियाँ
इन्बिसाते अमन क्या शय है, किसे कहते हैं सेहत का सरूर ?
"ख़ैर अब क्या सोचना है", मौत आख़िर कह उठी,
"इस अचंभे ने मुझे अंधा बनाकर रख दिया
मैं तुझे अब इज़्न देती हूँ, जियो जीती रहो !

तफ़क्कुर=सोच; सामित=अवसन्न; आगाही=ज्ञान; तवानातर=अधिक बलवान; ताबो तबां=सहन-शक्ति।

रश्क आमेज़=ईर्षाजनक; हिद्दत=गरमी; उष्णता; तुफ़ैल=ज़रिये; ज़हूर=प्रकटीकरण; आसीव=दुर्दैव; बदफ़ाल=बुरी; सरगोशियाँ=कानाफूसियाँ; इन्बिसात=मसर्रत।

हाँ मगर इक बात है, अब तू हमेशा के लिए
अपने पहलू में मुझे भी पायेगी
ताकि दरगाहे मुहब्बत से कभी जो कुछ मिले
वह सँभाले ले चलूं !"
तब से यह दोशीज़ा और यह मौत बहनों की तरह
दोनों ही इक साथ हैं गर्मेसफ़र
आगे आगे तो क़दमज़न है दोशीज़ा और नक्शे गाम पर
मौत खँजर को घसीटे जा रही है सुस्त रफ़्तारी के साथ
इक सौतेली बहन अपनी मेहरबाँ हमशीरा के अक्से क़दम पर गामज़न,
उस पै खुद उसकी रज़ामन्दी से हमशीरा का जादू चल गया
उसने दोशीज़ा की शादी को रचा कर मस्तोशादाँ कर दिया
और यूं वह अपनी उस मंज़िल पै पहुँची, पहले जिसके रश्क ने
गुदगुदाया था उसे ।
मौत ने आखिर मुहब्बत को सहारा दे दिया,
और मसर्रत में मसर्रत का इज़ाफ़ा कर दिया ।

दरगाह=पवित्र स्थान; नक्शेगाम=पदचिन्ह ।

बहस[1]

निर्दोष—'राही' ने एक लासानी नज़्म (अद्वितीय कविता) लिखी है जिसने मुझ पर जादू-सा कर दिया है। लेकिन सवाल यह पैदा होता है कि नज़्म में 'इश्कोमुहब्बत' का जो अफ़साना दुहराया गया है, आज उसका क्या इफ़ादी (उपयोगी) पहलू है ? यह उल्फ़त के बोसे (प्रेम के चुम्बन) और मोहब्बत की हमआगोशियाँ (आलिंगन) मौजूदा जद्दोजेहद (संघर्ष) में क्या हमारे काम आ सकती हैं ?

अम्बारदार—नज़्म में तरक़्क़ीपसन्द नज़रिया (प्रगतिशील दृष्टिकोण) हो या न हो, लेकिन मैं इतना महसूस (अनुभव) कर चुका हूँ कि यह नज़्म बेइन्तिहा तासीर (अत्यधिक प्रभावकारी) की हामिल है। मैं समझता हूँ कि जिस कविता में इस दरजा गहरा असर हो वह ज़रूर एक कामयाब नज़्म है। इस नज़्म का एक इफ़ादी पहलू यह भी है कि यह हमारे दिल को तसल्ली देती है और हम मसर्रत (परितोष) के सरचश्मे की तरह फूट बहते हैं। यह नज़्म पढ़ने वाले को एक दोस्त और साथी का सहारा दे सकती है।

प्राणनाथ जलाली—मेरे जेहन (मन) में इस नज़्म ने एक तज़ाद (अन्तर्विरोध) सा पैदा किया है। अगर मजमूई असर (समग्र प्रभाव) देखा जाय तो वह साफ़ तौर पर यही है कि जिन्दगी की कूवतें (ताकतें) मौत पर फतेह पाती है और इस सारी चीज को पूरे शायराना अन्दाज़ (काव्यमय ढंग) में पेश किया गया है। इस लिहाज़ से नज़्म कामयाब है। लेकिन मोहब्बत के बारे मे जो तस्वीर पेश की गयी है, उसके मुताल्लिक (सम्बन्ध) में मेरा जेहन साफ़ नहीं। नज़्म की 'दोशीज़ा' (युवती) अपने महबूब (प्रेमी) के लिए जिस तरह एकतरफ़ा कुरबानी देती है वह सामन्ती दौर की मोहब्बत की आईनादारी (प्रतिनिधित्व) करती है। इस तरह इस नज़्म में मोहब्बत की एक रजतपसन्द (प्रतिक्रियावादी) तस्वीर पेश की गयी है।

राजबंस—क्या आप तरक़्क़ीपसन्द मोहब्बत (प्रगतिशील प्रेम) (?) की तारीफ़ (व्याख्या) कर सकते हैं ?

प्राणनाथ जलाली—मोहब्बत की रजतपसन्द और तरक़्क़ीपसन्द तस्वीर में एक इम्तियाज़ (भेद, फरक़) तो यह है कि रजतपसन्द तस्वीर में मोहब्बत करने वाले मर्द और मोहब्बत करने वाली औरत मे दरजे की एकसानी (समानता) नहीं

---

१. काश्मीर के प्रगतिशील लेखक संघ में इस नज़्म पर जो बहस हुई उसकी रिपोर्ट।

होती। इसके बरक्स (विपरीत) मोहब्बत की तरक़्क़ीपसन्द तस्वीर में मर्द और औरत दोनों एक जैसा मर्तबा (हैसियत, महत्त्व) रखते हैं। दोनों के हक़ायक़ और फ़रायज़ (अधिकार और कर्त्तव्य) यकसां होते हैं। सामन्ती दौर की मोहब्बत के मुताबिक़ मर्द ब-अख़्तियार (सर्वेसर्वा) है और औरत मजबूर, मातहत (अधीन) है। मर्द आज़ाद है और औरत पर ही सारे फ़रायज़ और पाबन्दियां अयां (लागू) हैं। अगर क़ुर्बानी की ज़रूरत पेश आती है तो औरत को आना होता है। लेकिन नयी और तरक़्क़ीपसन्द तस्वीर में दोनों अपने फ़रायज़ का ऐहसास (चेतना) रखते हैं और दोनों अपनी ज़िम्मेदारियाँ पूरी करते हैं। इस नज़्म में मुझे मोहब्बत का वही पुराना और ग़लत तसव्वुर (विचारकोण) नज़र आता है।

महाराज किशन—इस हद तक मैं प्राणनाथ से इत्तेफ़ाक रखता (सहमत) हूँ।

प्राणनाथ जलाली—एक और चीज़ जो इस नज़्म की कमज़ोरी ज़ाहिर करती है वह यह है कि ज़िन्दगी अपनी क़ूवत से नहीं, बल्कि मौत के रहमोकरम (दया-कृपा) की वजह से जीत जाती है। नज़्म में 'दोशीज़ा' और 'मौत' के दरम्यान (बीच) झगड़ा होता है जो आख़ीर में 'दोशीज़ा' की फ़तेह ज़ाहिर करता है। लेकिन सवाल यह है कि फ़तेह किन ताक़तों के बलबूते पर हासिल होती है। इन्सानियत की जद्दोजेहद से नहीं, बल्कि बोसा-ओ-कनार (चुम्बन-आलिंगन) से। इसके अलावा नज़्म में मौत का एक नग़मा (गीत) है, जो इसे और भी ज़्यादा रजतपसन्द बना देता है। इस नग़मे की रू से मौत इन्सानियत का मज़ाक उड़ाती है। इन्सान जिन ख़राबियों में गिरफ़्तार है, उनके लिए ख़ुद इन्सान ही ज़िम्मेदार क़रार दिया गया है जो सरासर एक रजतपसन्द ख़्याल है।

महेन्द्रनाथ—लेकिन मौत तो उन बुरी रस्मों का ही मज़ाक उड़ाती है जिनमें इन्सान गिरफ़्तार हो जाता है, और अपना बुरा भला भी नहीं पहचानता।

प्राणनाथ जलाली—यहां तो रस्मों की बुराई के साथ-साथ 'इन्सानियत' की भी तज़हीक (मख़ौल उड़ाना) की जाती है, और वह भी मौत की ज़बानी। मेरे ख़्याल में यह सख़्त क़िस्म की रजतपसन्दी है।

निर्दोष—जहाँ तक मैं समझता हूँ 'राही' ने बड़े दक़ियानूसी ख़्याल को नज़्म किया है। अगर 'दोशीज़ा' की बजाय उन्होंने तहरीक (आन्दोलन, के एक कारकुन को दिखाया होता, तो नज़्म सही मायने में एक लाजवाब चीज़ बनती। नज़्म में जो यह 'बोसा-ओ-कनार' का बराबर ज़िक्र आता है वह पढ़ने-सुनने वालों पर बोझ-सा लगता है। इसमें सिर्फ़ मोहब्बत के ज़रिये मौत पर फ़तेह दिखायी गयी है।

महेन्द्रनाथ—मैं समझता हूँ कि 'निर्दोष' का ऐतराज़ दुरुस्त है कि मौत सिर्फ़ ज़िन्दगी का हुस्न देखकर हार जाती है। यह दुरुस्त है कि मोहब्बत तवाना

(महत्तर) है, लेकिन ऐसा महसूस होता है कि मौत ज़िन्दगी की महज़ (केवल) रंगीनियों में खो गयी है।

प्रो० कामिल—मेरे ख़याल में मौत ज़िन्दगी की क़ूवतों से हार जाती है, क्योंकि मोहब्बत ज़िन्दगी ही का नाम है।

महेन्द्रनाथ—लेकिन ज़िन्दगी सिर्फ़ मोहब्बत ही तो नहीं है ?

प्राणनाथ जलाली—निर्दोष का ऐतराज मुझे भी दुरुस्त लगता है। मौत ज़िन्दगी की तरफ़ सिर्फ़ बोसा और आग़ोश की बिना पर मायल हो जाती है, गोया ऐसी हालत में कहना दुरुस्त होगा कि मौत पर फ़तेह हासिल करने के लिए 'बोसा-ओ-कनार' काफ़ी हैं, हालांकि यह जद्दोजेहद के बारे में निहायत ही ग़लत नज़रिया होगा। मौत पर फ़तेह पाने के लिए चूमाचामी नहीं, एक बाक़ायदा जद्दोजेहद की ज़रूरत होती है। एक और बात दिखायी है; वह यह है कि इसमें मौत मर नहीं जाती, हालांकि ज़िन्दगी की भरपूर फ़तेह के लिए उसे मर ही जाना चाहिए था।

राजबंस—जहाँ तक जद्दोजेहद (संघर्ष) का ताल्लुक (सम्बन्ध) है हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि तबक़ाती जद्दोजेहद (वर्ग संघर्ष) उस वक्त से शुरू हुई है जब दुनिया में मुख़्तलिफ़ मुल्कों का ज़हूर हुआ। लेकिन इससे पहले भी एक बहुत ही तवील (लम्बा) ज़माना बीत चुका है जिसमें न तबक़े (वर्ग) थे और न मुल्कों की बाहमी कशमकश (आपसी विरोध)। उस वक्त की जद्दोजेहद आज की जद्दोजेहद से मुख़्तलिफ़ रही होगी। इसी तरह आज दुनिया का एक अज़ीम (महान्) मुल्क सोवियत् रूस बड़ी तेज़ी से इश्तराकियत (साम्यवाद) की आख़िरी मंज़िल की तरफ़ दौड़ रहा है जहाँ यह सारे तबके (वर्ग) मुकम्मल तौर पर (पूर्ण रूप से) ख़त्म हो जायेंगे, और जद्दोजेहद की सारी तवय्यत (रूप) ही बदल जायगी। अगरचे हम इस मंज़िल से अभी दूर हैं लेकिन पहुँचना सारी दुनियाँ को वहीं है। जब वह नया ज़माना आयेगा, उस वक्त इन्सानी जद्दोजेहद की क़ूवतें मौत पर ग़लबा (क़ाबू) पाने के लिए वक़्फ़ (लग) हो जायेंगी, और साइंस (विज्ञान) के तमाम ज़रियों (साधनों) को क़ुदरत पर ज्यादा से ज्यादा क़ाबू हासिल करने के लिए इस्तेमाल किया जायेगा। मैंने इसी नुक्ता-ए-नज़र (दृष्टिकोण) से इस नज़्म को सुनना शुरू किया था। अव्वल अव्वल तो मुझे महसूस हुआ कि ज़िन्दगी और मौत के दरम्यान आख़ीर पर बड़ी सख़्त क़िस्म की टक्कर होगी, लेकिन नज़्म के आख़िरी हिस्से ने मायूस कर दिया। वहाँ पहुँचते-पहुँचते ज़िन्दगी और मौत की यह जंग मद्धिम पड़ गई है। 'राही' की यह नज़्म सुनते-सुनते मुझे एक यूनानी शायर की नज़्म 'प्रोमेथियस' याद आ गयी। पहला हिस्सा सुनकर मैं ऐसा ख़याल करने लगा था कि 'राही' की नज़्म भी मज़कूरा (ऊपर ज़िक्र की गई) नज़्म की तरह तस्वीरकशी के जलाल और जमाल (महानता

और सौन्दर्य) को पा लेगी। लेकिन आख़ीर पर इब्तदा (प्रारम्भ) की शान बाक़ी न रह सकी। फिर भी इसमें जो मुख़्तलिफ़ Touches हैं वह इस क़दर ख़ूबसूरत हैं कि दाद के क़ाबिल हैं। आख़ीर पर मैं प्राणनाथ और निर्दोष के ऐतराजों को दुहराता हूँ जो उन्होंने ज़िन्दगी की तस्वीरों के बारे में पेश किये हैं, और मैं समझता हूँ कि ये ऐतराज दुरुस्त हैं।

प्राणनाथ जलाली—राजबंस ने भी जो यह बात कही है कि तबक़ात (वर्गों) के ख़ात्मे पर इन्सानियत की तमामतर जद्दोजेहद क़ुदरत पर ग़लबा हासिल करने पर सर्फ़ होगी, इससे भी यही बात ज़ाहिर होती है कि मौत पर फ़तेह पाने की ख़ातिर हमें 'बोसा-व-कनार' की बजाय साइन्स से काम लेना होगा। अगर हमारे हाथों में साइन्स का हरबा (अस्त्र) नहीं होगा तो क़ुदरत को ज़ेर करना नामुमकिन होगा। इस लिहाज़ से देखा जाय तो पता चले कि नज़्म में जो बोसे वग़ैरह का ज़िक्र है, और जो तसव्वुर पेश किया गया है वह एक दक़ियानूसी तसव्वुर है, जिसमें Scientific approach (वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने की प्रवृत्ति) नहीं है।

राजबंस—मुझे प्राणनाथ के इस ख़्याल से पूरा इत्तफ़ाक़ (सहमत) नहीं। हमने अपनी सदियों की जद्दोजेहद में जो चन्द रिवायाती (रूढ़िगत) Symbols (प्रतीक) पैदा किए हैं उनको क़तई (बिलकुल) तौर पर नज़रअन्दाज़ करना ठीक नहीं है। रिवायाती अन्दाज़ में (रूढ़िगत ढंग से) बात कही जाये तो ज़्यादा पुरअसर (प्रभावपूर्ण) बनती है। प्राणनाथ ने अभी मोहब्बत के नज़रिये पर तक़ज़िया (विवेचन) करते हुए कहा है कि मोहब्बत में ज़िम्मेदारी का ऐहसास होता है। मैं इसके मुत्तफ़िक़ (सहमत) हूँ। लेकिन मुहब्बत में क़ुर्बानी का भी ऐहसास होता है। हमें इसे नहीं भूलना चाहिये। अगर इस ऐहसास को मोहब्बत से अलग किया जाये, तो मोहब्बत मोहब्बत नहीं रहती। एक कामरेड का भी अपने कामरेड के बारे में यही रवैया होता है। किसी ख़तरे के वक्त दोनों की यही कोशिश रहती है कि 'मेरी ज़िन्दगी अगर जाती है तो जाये, लेकिन दूसरा सलामत रहे।'

अम्बारदार—'निर्दोष' ने अपने एक ऐतराज़ में नज़्म की तशबीहात (उपमाओं) और किनारियों (संकेतों) को भी मोरदेऐताब (रोष का लक्ष्य) बनाया है। मैं समझता हूँ कि ऐसा करके शायर की कुव्वते बयाना (वर्णन-शक्ति) पर नाक़ाबिले बर्दाश्त पाबंदियां आयद करना चाही है।

शिवदानसिंह चौहान—मैं बड़े ग़ौर से इस बहस को सुनता रहा हूँ। इसके पहले कि मैं 'राही' की तर्जुमानी (पक्ष समर्थन) करते हुए यह कहूँ कि क्योंकर इस नज़्म में मुहब्बत के बारे में एक नया और सही रवैया पाया जाता है, मन्नन्द· एक और बातें भी कहना ज़रूरी समझता हूँ।

यह दुरुस्त है कि मुहब्बत के सवाल पर पुराने नज़रिए तबक़ाती समाज के आईनादार हैं लेकिन आप याद करें तो आपको मालूम होगा कि हमारे यहाँ की तरक्कीपसन्द शायरी में मोहब्बत के जो नज़रिए रहे हैं उनकी बुनियादें भी इन्सानी और वैज्ञानिक नहीं हैं। यह नज़रिए ज़्यादातर मुतवस्त (मध्यम वर्ग) तबक़े के रुझानात (प्रवृत्तियों) से पैदा हुए हैं। हमारी तरक्कीपसन्द शायरी में अक्सर यह नज़रिया पेश किया गया कि चूँकि हम मज़दूर तबक़े के साथी और इन्कलाबी बन गये हैं इसलिए पुराने तबक़े के साथ रहकर हमने मुहब्बत का जो तसव्वुर क़ायम किया था, सिर्फ़ वही ग़लत नहीं 'मुहब्बत' करना भी ग़लत है। या कम-से-कम यह ख़्याल राह पा गया कि औरत हमें इन्क़लाब से दूर हटाती है। अली सरदार जाफ़री, फ़िकर तोंसवीं और दीगर शोअरा की बहुत सी नज़्में इस रवैये की आईनादार हैं। कभी यह ख़्याल आया कि हमें इन्क़लाब बरपा करना है इसलिए मुहब्बत नहीं की जा सकती। इसका मतलब यह कि मुहब्बत और इन्क़लाब दो मुतज़ाद (परस्पर विरोधी) चीज़ें हैं जिनमें से दोनों का ही ज़िन्दगी से कोई ताल्लुक नहीं। ग़रज़ यह कि इस ग़लत नज़रिये को मुख़्तलिफ़ शायर मुख़्तलिफ़ रंगों में पेश करते आये हैं। लेकिन इन सब की तह में वही पुरानी बूर्जुआ (पूंजावादी) ज़ेहनियत (विचारधारा) काम करती है जो औरत को पापी और मायाविनी समझती है और मुहब्बत को नापाक तसव्वुर करती है। इन्क़लाब के नाम पर औरत के बारे में यह ग़लत और फ़रसूदा (सड़ा-गला) ख़्याल हमारे शायरों को मुहब्बत के सवाल पर गुमराह करता आया है और इन्क़लाब में औरत की हैसियत को हिक़ारत की नज़र से देखता आया है।

आज की इस नज़्म में यह बात नहीं है। इसमें मुहब्बत के बारे में एक सही नज़रिया ज़ाहिर किया गया है।

यहाँ जितने ऐतराज़ात किये गये हैं उनका इस नज़्म से बहुत कम ताल्लुक़ है। एक सवाल यह उठाया गया है कि आज इस नज़्म की क्या इफ़ादियत (उपयोगिता) है? मैं पूछना चाहता हूँ कि हम नज़्म को क्या समझते हैं? क्या नज़्म महज़ सियासी दस्तावेज़ हो तभी उसकी फ़न्नी (कलात्मक) इफ़ादियत हो सकती है? या उसकी इफ़ादियत इस बात के मद्दे-नज़र जांची जाती है कि वह किस क़दर हमारे ऐहसासात (अनुभवों) को वुसअत (व्यापकता) बख़्शती है और कितनी शिद्दत से हमारे इन्सानी जज़्बात (भावनाओं) को झकझोरती है! मेरे ख़्याल में अगर कोई नज़्म पढ़ने और सुनने वालों के ऐहसासात को बेदार (सचेतन) और वसीह (व्यापक) बनाती है और जज़्बात को इन्सानियत-परवर (मानवीय) बनाती है तो वह कामयाब नज़्म है, और बड़ी इफ़ादी है।

आप दोस्तों के ऐतराज़ कुछ अजब क़िस्म के हैं। किसी को शिकायत है

कि ये उल्फ़त के बोसे मौजूदा जद्दोजेहद में क्या हमारे काम आ सकते हैं ! किसी को शिकायत है कि अपने महबूब (प्रेम) के लिए नज़्म की दोशीज़ा एकतरफ़ा क़ुर्बानी देकर सामन्ती दौर की मुहब्बत की रजतपसन्द रिवायात को क्यों ताज़ा कर रही है ! किसी को शिकायत है कि दोशीज़ा इन्सानियत की जद्दोजेहद से नहीं बल्कि बोसा-ओ-कनार के बलबूते पर ही क्यों मौत पर फ़तेह हासिल कर लेती है ! किसी को शिकायत है कि इन्सान जिन ख़राबियों में गिरफ़्तार है उनके लिए ख़ुद इन्सान को ज़िम्मेदार करार देने का हक़ मौत को क्यों दिया गया ? इन्सानियत का मज़ाक़ और वह भी मौत की ज़ुबानी ! किसी को शिकायत है कि मौत से लड़ने के लिए साइन्स को सामने लाना चाहिए था न कि मुहब्बत को। और इसके लिए उन्होंने तबक़ाती जद्दोजेहद की तवारीख़ बयान करके हम सबकी जानकारी में इज़ाफ़ा करने की कोशिश की है। और भी ऐसे ही बहुत से ऐतराज़ इस नज़्म पर उठाए गये हैं। कुछ दोस्तों ने शायर को कुछ ऐसे सुझाव भी दिये हैं जिनको अगर नज़्म में शामिल कर लिया जाय तो बहुत से ऐतराज़ वापस ले लिये जायँ। एक सुझाव तो यह है कि दोशीज़ा की बजाय किरदार (पात्र) के रूप में शायर को चाहिए था कि वह तहरीक (आन्दोलन) का कोई कारकुन पेश करता और बोसा-ओ-कनार की बजाय साइन्स का हरबा (अस्त्र) इस्तेमाल कराता और ज़िन्दगी की भरपूर फ़तेह के लिए मौत को क़तई तौर पर मार देता। इसमें शक नहीं कि शायर इन सब नेक सलाहों के लिए अपने को मश्कूर समझ रहा होगा। लेकिन मैं सिर्फ़ इतना अर्ज़ करूँगा कि ये सुझाव इस नज़्म को और बेहतर बनाने के लिए नहीं हैं, बल्कि एकदम कोई नई नज़्म लिखने की तवक़्क़ो (अपेक्षा) करते हैं। यह सारे ऐतराज़ इसलिए नहीं पैदा हुए लगते कि इस नज़्म में शायर ने जो तसव्वर पेश किया है उसमें कोई ख़ामी है बल्कि इसलिए कि ऐतराज़ करने वाले दोस्तों की पहले से तै-शुदा (पूर्व निश्चित) ख़्वाहिशात हैं जिनको वे ज्यों का-त्यों हर नज़्म में पूरा होते देखना चाहते हैं। इसलिए एक हक़ीक़तनिगार (यथार्थवादी) की तरह वह ज़ेरे-बहस नज़्म को एकदम नज़रअन्दाज़ करके अपनी ही हांके जाते हैं। ऐतराज़ करने वालों में से किसी साथी ने ठहरकर एक लमहे (क्षण) के लिए भी यह नहीं सोचा कि जिस मौज़ूं (विषय) को लेकर यह नज़्म कही गई है, क्या शायर उस तसव्वुर का पूरी तरह निबाह कर सका है और क्या फ़न्नी नुक़्तेनिगाह से यह एक मुकम्मल चीज़ है ! जहाँ तक इफ़ादी पहलू का ताल्लुक़ है, तमाम ऐतराज़ करने वाले दोस्तों ने, मेरी नज़र में, इन्सानी क़द्रों की बेक़द्री की है। इसका वजह सिर्फ़ यह है कि हम ज़िन्दगी को ज़िन्दगी के रूप में, एक ठोस हक़ीक़त के रूप में नहीं देखते बल्कि ख़्याल से पैदा की हुई, एक बेजान, बनावटी हक़ीक़त के रूप में देखते हैं। क्या हमारे ऐहसासात और जज़्बात बर्फ़ की तरह जमकर इतने सर्द

हो गये हैं कि यह भी नहीं महसूस कर सकते कि मुहब्बत और मौत जिन्दगी की दो ठोस हक़ीक़तें है जिनके साथ इन्सान के जज़्बात हमेशा से वाबस्ता (सम्बद्ध) रहे हैं और हमेशा वाबस्ता रहेंगे ? मुहब्बत वह शम्र है जिसमें जिन्दगी का हुस्न अपने पूरे जलाल पर निखरता है। मुहब्बत दो दिलों को जोड़कर एक करती है। मुहब्बत इन्सानी क़द्रों का सरचश्मा है। मुहब्बत इन्सान-दोस्ती का पैग़ाम है। वह भरपूर इन्सानी जिन्दगी का सिम्बल (Symbol) है। इसके बरक्स (विपरीत) मौत इन्सान की तमाम उम्मीदों, हसरतों और तमन्नाओं की क़ब्र है। तरक्क़ी के रास्ते बन्द करने वाली, जिन्दगी की दुश्मन और इन्सान के मासूम ख़्यालों को रौंदकर पामाल करने वाली ऐसी हक़ीक़त है जो इन्सान को इन्सान से अलग करती है। इन दोनों हक़ीक़तों के साथ इन्सान के जज़्बात कुछ इसी तरह क़ुदरती तौर पर वाबस्ता हो गये हैं। इसीलिए अगर मोहब्बत एक जिन्दगी-आमेज़ हक़ीक़त है, तो मौत इन्सान-दुश्मन हक़ीक़त है। अफ़सोस है कि इस बात को भी आज दुहराने की ज़रूरत पड़ गई है क्योंकि हम अपने महदूद नज़रिये की वजह से अक्सर इस बात का इम्तयाज़ (भेद) भी भूल जाते हैं कि क्या चीज़ इन्सानी है और क्या ग़ैर-इन्सानी। और इन्सानी क़द्रों की ही बेक़द्री करने लगते हैं। आखिर इस नज़्म मे मुहब्बत और मौत के बीच जिस जद्दोजेहद की तस्वीरकशी हुई है क्या वह हमारे ऐहसासात को बुलन्द नहीं बनाती ? और ख़ास तौर पर आज जब दुनिया की रजतपसन्द ताकतें, यानी साम्राजी जंगबाज़, तीसरी जंग की तैयारी करके सारी दुनिया को मौत की गोद में सुला देने की साजिश कर रहे हैं, ऐसे वक़्त इस मासूम दोशीज़ा की कामयाब जद्दोजेहद का यह प्यारा-सा अफ़साना क्या हमारी हिम्मत-अफ़ज़ाई नहीं करता और क्या इस बात का ऐहसास नहीं जगाता कि यह जिन्दगी, जिसे अपनी जद्दोजेहद से ज्यादा-से-ज्यादा जीने लायक़ और पुर-मुहब्बत बनाया जा सकता है सब कुछ कुर्बान करके भी महफ़ूज की जानी चाहिए ? और क्या यह ऐहसास बुनियादी तौर पर अमन की आलमगीर जद्दोजेहद को तक़वियत (शक्ति) नहीं पहुँचाता ! इस नज़र से यह नज़्म अमन की नज़्म है।

जो ऐतराज़ात उठाये गये हैं वे मुझे बेमानी लगते हैं, क्योंकि शायर के तख़य्युल (कल्पना) मे जो मौज़ूं था, ये सारे सुझाव और ऐतराज उससे कोई ताल्लुक़ नहीं रखते। दोशीज़ा ज़ारशाही के ज़माने की एक लड़की है, सोवियत-यूनियन की कम्यूनिस्ट लड़की नहीं। उसका सारा तख़य्युल और तसव्वुर उसी माहौल का होना लाज़िमी था, जिस माहौल की वह पैदावार है।

आख़ीर में, यह बताना ज़रूरी है कि इस नज़्म के बारे में अपनी राय देते हुए का० स्तालिन ने कहा है कि···

राजबंस—(ताज्जुब से) अच्छा ! राही साहब की नज़्म कामरेड स्तालिन

तक भी पहुँच गई ? .....

शिवदानसिंह चौहान—जी हां, कामरेड स्तालिन ने कहा—यह नज़्म मौत पर मुहब्बत की फ़तेह के मौज़ू के मुतल्लिक गेटे के फ़ास्ट (Faust) से भी ज्यादा ताकतवर है। यह गोर्की की नज़्म Death and the Maiden का तर्जुमा है।

—फरवरी १९५१

टिप्पणी

आज मैं हिन्दी पाठकों के सामने गोर्की की कविता Death and the Maiden का उर्दू अनुवाद और उस पर काश्मीर के प्रगतिशील लेखक संघ में जो बहस हुई थी उसकी विस्तृत और प्रमाणिक रिपोर्ट पेश कर रहा हूँ। कविता का अनुवाद मेरे आग्रह से काश्मीर के तरुण कवि रहमान 'राही' ने किया था। और मेरे ही कहने पर उन्होंने मीटिंग के सामने इस अनुवाद को अपनी मौलिक कविता के रूप में उपस्थित किया था।

दुर्भाग्य से कुत्सित समाज-शास्त्रीयता का दृष्टिकोण लेकर चलने वाले संकीर्ण मतवादी दोस्तों ने साहित्य और कला को समझने और उसका रसास्वादन करने की रुचि को भी असंस्कृत और छिछला बना दिया है, जिसका ही परिणाम है कि तरह-तरह के मनगढ़न्त मापदण्ड साहित्य की परख के लिए प्रयोग में आने लगे और साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न नजरअन्दाज़ कर दिया गया। मेरा विचार है कि यह बहस इस भोंडी हकीकत को उघाड़कर हमारे सामने रख देती है कि हमारे अनेक साथी कुत्सित समाज-शास्त्रीयता के बुरी तरह शिकार हो गये हैं जिसके कारण साहित्य और कला के जीवनदायी तत्त्वों को भी वह पहचान नहीं पाते और उनकी तमाम प्रतिक्रियाएँ एकांगी और यान्त्रिक होती हैं। स्वतन्त्र रूप से जैसे वे सोचना ही नहीं चाहते। इस बहस के अन्त में जब मैंने कहा कि यह गोर्की की कविता का अनुवाद है तो जैसे आक्षेपकर्त्ताओं पर वज्रपात हो गया, और उन्होंने रोषपूर्वक यह प्रकट किया कि मैंने उनकी परीक्षा ली है और उन्हें धोखा दिया है ! लेकिन मेरे यह पूछने पर कि यदि उन्हें पहले से बता दिया गया होता कि यह गोर्की की कविता है तो क्या वे इतना खुलकर बहस करते, वे साथी चुप हो गये। और साथी राजवंश ने बाद में राही से यह भी स्वीकार किया कि "गोर्की को मैं उनसे कुछ सीखने के लिए पढ़ता हूँ उनकी आलोचना करने के लिए नहीं।" अर्थात् अगर उन्हें मालूम होता तो वे विज्ञान के स्थान पर मुहब्बत को मौत के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उपस्थित करने वाले सावियत यूनियन के ही महानतम कलाकार गोर्की की इस 'हेरेसी' को आँख मूँदकर स्वीकार कर लेते ! यह कुत्सित और यान्त्रिक दृष्टिकोण संकीर्ण मतवादियों का है जो रचना

का मूल्य आँकने से पहले लेखक का नाम जान लेना अनिवार्य समझते हैं क्योंकि वह नाम ही उस रचना की स्तुति गाने या निन्दा करने के लिए उनके निकट एक अवसरवादी मापदण्ड बन जाता है। रचना को समझना उनकी संकीर्ण और कुत्सित समझ से बाहर है। उनकी भावप्रवणता और कला-रुचि भी नामों की बैसाखी लगाकर ही खड़ी हो पाती है, अन्यथा वह एक पंगु की तरह लड़खड़ाकर गिर पड़ती है। यह उनकी बौद्धिकता का आडम्बर रचने वाली (Philistine) मनोवृत्ति का परिचायक है। प्रगतिवादी आलोचना और प्रगतिशील साहित्य उस समय तक उन्नति नहीं कर सकता, जब तक इस मनोवृत्ति के विरुद्ध सजग संघर्ष न किया जायगा। इसीलिए इस बहस की रिपोर्ट तमाम पाठकों और साथी लेखकों के लिए आत्यन्तिक महत्त्व रखती है।

यहाँ यह कह देना ज़रूरी है कि काश्मीर का सांस्कृतिक आन्दोलन (प्रगतिशील लेखक संघ, काश्मीर भी जिसका अंग है) संकीर्णतावादी पथों पर नहीं भटका। इसीलिए वहाँ के लेखकों और कवियों ने मौन रहकर ही इस बहस को सुना या कवि अम्बारदार और प्रो० कामिल की तरह दो-एक बार आक्षेपों का विरोध किया। आक्षेपकर्त्ता अधिकतर राजनीतिक कार्यकर्त्ता ही थे। कोरे राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की साहित्यिक रुचि कितनी विकृत होती जा रही है किन्तु फिर भी वह अपने असाहित्यिक पूर्वग्रहों को कवि और लेखक पर किस उद्धत भाव से थोपने की कोशिश करते हैं, यह सब को मालूम है। इस बहस को पढ़कर उन्हें भी अपने दामन में मुँह डालकर अपनी खामियों को देखने की प्रेरणा मिलेगी, ऐसी आशा मुझे है। क्योंकि मेरा आग्रह केवल इतना ही है कि हमारे राजनीतिक मोर्चों पर काम करने वाले साथियों की कलाभिरुचि को अधिक परिष्कृत, सचेतन और व्यापक रूप से संवेदनशील होना चाहिए। तभी वह लेखकों के मानस में मानव-संस्कृति के प्रहरी और उन्नायक 'हीरो' बन सकते हैं।

शिवदानसिंह चौहान
—अक्तूबर १९५१

१६

सुमित्रानन्दन पन्त—युगवाणी और ग्राम्या

अब तक पाठक पन्त जी को छायावाद के सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप मे ही जानते थे, लेकिन 'युगान्त' के पश्चात् उनका विकास प्रगतिवाद के दृष्टिकोण की तरफ़ रहा है और 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में आकर यह दृष्टिकोण यथेष्ट रूप से परिपक्व हो गया है। इस लेख में मेरा उद्देश्य 'पन्त' के इस अन्तिम विकास का ही विवेचन करना है।

'युगवाणी और ग्राम्या' में श्री सुमित्रानन्दन पन्त की कविता का विकास एकदम नये ढंग का हुआ है। आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य मे यह विकास बेजोड़ है।

छायावादी कविता ने रीतिकालीन नख-शिख-शृङ्गार की संकीर्ण, रूढ़िग्रस्त, स्थविर काव्य-परिपाटी के बन्धनों से उन्मुक्त हो व्यापक दृष्टिकोण और प्रगतिशील भावनाओं की अभिव्यञ्जना की। सामन्ती युग की समाज-शृङ्खलाओं और रूढ़ि-बन्धनों ने मनुष्य के जिस व्यक्तित्व का अपहरण कर लिया था, उस व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करके छायावादी कविता ने स्वतन्त्रता की भावना का पोषण किया। लेकिन आधुनिक जीवन की असंगतियों, उसकी विषमताओं और विडम्बनाओं ने छायावादी कवि के उन्मुक्ति-उल्लास, श्रेष्ठ, स्वतन्त्र-जीवन के सुख-स्वप्नों को तोड़-मरोड़कर मसल डाला। इस वीभत्स वास्तविकता के प्रति छायावादी कवियों ने अपने गहरे प्रतिवाद की अभिव्यक्ति की, अपने असन्तोष की घोषणा की। लेकिन क्रूर सामाजिक सम्बन्धों ने उनके हृदय की अन्ततम शक्तियों तक को शृङ्खलाबद्ध कर दिया, और चूंकि वे आधुनिक जीवन को इतना निर्मम और कठोर बनाने वाली शक्तियों के उन्मूलन की आवश्यकता की चेतना प्राप्त नहीं कर पाये इसलिए वे सामाजिक कार्यशीलता से तटस्थ होते गये और कविता और जीवन का व्यवधान बढ़ता गया। इस प्रकार अनेक छायावादी कवि निराशावादी और अहंवादी हो गये, वे कला के लिए कला की सृष्टि करने लगे। उनके समाज-विरोधी दृष्टिकोण ने उन्हें विक्षिप्त, विषादमय, करुण, निरुपाय और एकान्त-प्रिय बना दिया। और उनकी कविता इस विषम जीवन को ही गौरवान्वित करने लगी, उसमें आत्म-समर्पण, आत्म-पराजय और आत्म-विस्मृति के भावों ने प्रधानता ले ली। लेकिन विश्व-क्रान्ति की शक्तियों के प्रचण्ड वेग ने और शोषित श्रमिकों के तुमुल घन-नाद न छायावादी

कविता की जीवन-रहित निश्चलता तोड़ दी। और छायावादी कविता में दो परस्पर-विरोधी धाराएँ फूट निकलीं—एक प्रतिक्रियावादी, दूसरी प्रगतिशील। अपने निरर्थक जीवन को प्रिय बनाने के लिए निरर्थक जीवन की कला चाहने वाले, क्रान्ति की आकांक्षाओं को निरर्थक मानने वाले कवियों ने प्रतिक्रिया का दामन पकड़कर अधिकार-वञ्चित जनता के सन्देह-संशयों की अभिव्यक्ति करनी शुरू कर दी। दूसरी ओर क्रान्ति की आकांक्षाओं की अभिव्यञ्जना करने वाली प्रगतिशील धारा फूट निकली।

गत चार-पाँच वर्षों से हिन्दी-काव्य-साहित्य मे नूतन और पुरातन के जिस संघर्ष ने तीव्ररूप धारण किया है उसमें श्री सुमित्रानन्दन पन्त, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, अज्ञेय, नरेन्द्र शर्मा, सोहनलाल द्विवेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और उदय-शंकर भट्ट नूतन की ओर आकृष्ट हुए है और न्यूनाधिक मात्रा मे क्रान्ति की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति कर रहे है। लेकिन पन्त की कविता इन सब कवियों से भिन्न प्रकार की है। अतः क्रान्ति की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करने वाली काव्य-धारा में भी दो प्रवाह है—एक है जिसका नेतृत्व भगवतीचरण वर्मा और दिनकर कर रहे है; दूसरा है जिसके अभी एकमात्र प्रवर्तक-समर्थक पन्त है। भगवतीचरण वर्मा और दिनकर की कविता नाशवाद की कविता है, पन्त की नवजीवन की कविता है। अतः पन्त की नया कविता के महत्त्व को समझने के लिए भगवतीचरण वर्मा और दिनकर आदि की कविताओं से परिचित होना आवश्यक है। संक्षेप में उनकी विशेषताओं का वर्णन करना व्यर्थ नहीं होगा।

इस समय विश्व की पूँजीवादी संस्कृति संकटापन्न है। अतः जब तक प्रगति-शील लेखक और कवि आधुनिक जीवन की वास्तविकता की चेतना प्राप्त नहीं कर लेते, वे एक सच्चा क्रान्तिकारी साहित्य उत्पन्न नहीं कर सकते। क्योंकि असंगठित अन्तर्वृत्तियाँ (Instincts) मनुष्य के भावजगत की आवश्यकताओं के प्रति मानवता की अन्तर्वृत्तियों में परिवर्तन नहीं कर सकतीं। भगवतीचरण वर्मा या दिनकर की कविता इसी अवगुण से सीमाबद्ध है। वे आधुनिक जीवन से सन्तुष्ट नहीं है और न वे निष्क्रिय होकर उसके सामने आत्म-समर्पण ही करना चाहते है। वे जीवन में परिवर्तन चाहते है और चूँकि विश्व की क्रान्तिकारी शक्तियों की पदचाप उन्हे सुनाई पड़ रही है इसलिए वे आशान्वित है और उत्कण्ठित नेत्रों से क्रान्ति के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे है। वे इस क्रान्ति का स्वागत करने को तैयार है, क्योंकि क्रान्ति कदाचित् इस जगत् के 'हाहाकार-उत्पीड़न' को खत्म कर देगी इसलिए क्रान्ति के प्रति उनकी रागात्मक सहानुभूति है। लेकिन चूंकि क्रान्तिकारी शक्तियों, क्रान्ति-कारी श्रमिक जनता, उसके संगठन-आन्दोलन से उनका अंतरंग सम्पर्क नहीं है और न वे

उसकी विचारधारा से परिचित हैं इसलिए वे क्रान्ति की सही रूपरेखा नहीं बना पाते। वे समझते हैं, कोई प्रचण्ड ज्वालामुखी फूटने को है जो अपने तप्त आग्नेय लावा से विश्व के विषाद, उसके चीत्कार को भस्म कर देगा। उसके बाद क्या होगा, वे अभी अनुमान नहीं कर पाये। उनकी अवचेतन अन्तर्वृत्तियां अभी सचेत नहीं हुई हैं। भगवतीचरण वर्मा 'बादल' को सम्बोधित करते हुए लिखते हैं—

गगन पर घिरो मण्डलाकार
अवनि पर गिरो वज्र सम आज
गरज कर भरो रुद्र हुँकार
यहाँ पर करो नाश का साज
नष्ट-भ्रष्ट प्रासाद पड़े हों जल-प्लावित संसार
शून्य कर रहा हो पागल-सी लहरों का अभिसार
नीचे जल हो, ऊपर जल हो, ऐ जल के उद्गार
बरसो-बरसो और सघन घन महाप्रलय की धार

इस सांकेतिक पदावली-द्वारा उन्होंने आकांक्षा प्रकट की है कि 'प्रतिहिंसा' के 'प्रतिघात' बनकर 'उल्कापात' की तरह ये 'सघन घन' 'उत्पीड़न' पर बरस पड़ें, ताकि उसमें 'जग का कलुषित हाहाकार' डूबकर विलुप्त हो जाय। लेकिन इसका परिणाम क्या होगा ? संसार जलप्लावित हो जाय, और सारी सृष्टि प्रलयमग्न हो विराट् शून्य की गोद में सो जाय !

इसी तरह दिनकर की क्रान्ति-कल्पना रचनात्मक नहीं, ध्वंसात्मक है। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के शब्दों में, 'हमारे क्रान्ति-युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कविता में इस समय दिनकर कर रहा है।' इस तरह का दावा इस बात का द्योतक है कि बेनीपुरी स्वयं आवेशपूर्ण भावनात्मक सहानुभूति की प्रेरणा से क्रान्ति का पक्ष-समर्थन कर रहे हैं, आवश्यकता की चेतना उनमें भी जाग्रत नहीं हुई है। इसीलिए अनिश्चित, अस्पष्ट भावनाओं की प्रधानता रखने वाली ध्वंसात्मक कविता के प्रति उनका इतना अनुराग है ! किन्तु चेतना-प्राप्त कोई भी प्रगतिवादी आलोचक दिनकर की कविता की सीमाओं को स्पष्ट देख लेगा। दिनकर में साम्यवादी चेतना का अभाव है। इसमें सन्देह नहीं कि वे राष्ट्रीयता या जातीयता की भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। किन्तु राष्ट्रीयता या जातीयता की कोई भिन्न विचारधारा नहीं होती, कोई भिन्न जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण नहीं होता, कोई भिन्न समाज-दर्शन नहीं होता। उसमें केवल बलिदान होने की उत्कट अभिलाषा स्वतन्त्र होने की हार्दिक कामना रहती है। दिनकर के अन्दर भी इसी भावना का प्राधान्य है। उनके मानस के अन्धकार में अनजान अन्ध-शक्तियां ही प्रेरक बनकर उनके हृदय को चिर-व्याकुल किये रहती हैं।

जिस समय दिनकर 'सुधा-वृष्टि' के बीच अपने 'क्लान्त मन-प्राण' जुड़ा रहे थे कि सहसा किसी अपरिचित मोहनी शक्ति का आह्वान सुनायी पड़ने लगा। उन्होंने सोचा, क्या कल्पना की इस रमणीय वाटिका को छोड़कर जाना होगा ? उन्होंने कुछ अस्त-व्यस्त होकर पूछा—

तुम्हारी भरी सृष्टि के बीच
एक क्या तरल अग्नि ही पेय
सुधा-मधु का अक्षय भण्डार
एक मेरे ही हेतु अदेय ?

वासन्ती मलयानिल का मर्मर, कोकिला के गान, लताओं का नया शृङ्गार, विस्तृत आकाश का सौन्दर्य, प्रकृति की अभिनव सुषमा कवि का हृदय आकर्षित करती है, उसके रोम-रोम में पुलक पैदाकर उसे क्रीड़ा-कौतुक के लिए आमन्त्रित करती है, लेकिन यह 'असमय आह्वान' ? नहीं, कवि स्वप्नों के आलोक-जगत मे विचरण नहीं करेगा। वह गरजकर कहता है—

फेंकता हूँ मैं तोड़-मरोड़
अरी निष्ठुर ! बीन के तार
उठा चाँदी का उज्ज्वल शङ्ख
फूंकता हूँ भैरव हुंकार
नही जीते जी सकता देख
विश्व मे झुका तुम्हारा भाल
वेदना मधु का भी कर पान
आज उगलूंगा गरल कराल

यह प्रतिवाद की भावना मध्यवर्गी-भावना है। दिनकर की 'हाहाकार' कविता में इस सत्य की पुष्टि और भी स्पष्ट हो जाती है। दिनकर के प्रति 'नियति' इतनी विषम है कि उनकी कविता उन्हें मनुष्य के विषाद की करुण कथा लिखने के लिए प्रेरित करती है और उन्हें सृष्टि-ताप मे अपने कोमल हृदय को दग्ध करना पड़ता है। दिनकर का यह दुर्भाग्य है कि वे जीवन के सुखद-उपादानों से वञ्चित है और उनकी कल्पना रमणीय सौन्दर्य की सृष्टि नहीं करती। इसलिए वे कविता के प्रति अपने उद्गार प्रकट करते हुए लिखते है—

वही धन्य जिनको लेकर तुम
बसी कल्पना के शतदल पर
जिनका स्वप्न तोड़ पाती है
मिट्टी नही चरण तल बजकर

और दिनकर उसके सामने आकांक्षाओं से भरा अपना हृदय खोलकर रख देते हैं—

मेरी भी यह चाह विलासिनि
सुन्दरता को शीश झुकाऊँ
जिधर-जिधर मधुमयी बसी हो
उधर वसन्तानिल बन धाऊँ

और

जनारण्य से दूर स्वप्न में
मैं भी निज संसार बसाऊँ
जग का आर्त्तनाद सुन अपना
हृदय फाड़ने से बच जाऊँ

किन्तु निरुपाय दिनकर क्या करें ? जीवन के अनुभव ने जो कुछ भी चेतना उन्हें प्रदान की है, वह आकाश में उनकी कुटी नहीं बनने देती और अगर वह बन भी जाती है तो तुरन्त वास्तविकता अपना अग्निबाण छोड़कर उसे भस्म कर देती है। पंखहीन खग की तरह दिनकर फिर पृथ्वी की हलचल में गिर पड़ते हैं और पृथ्वी की वास्तविकता कैसी है ? यहाँ 'निज सिंह-पौर' पर आधुनिक 'संस्कृति' 'दलित-दीन' की 'अस्थि-मशालें' जलाती है, कृषक अविश्राम परिश्रम करते हैं, माताओं के स्तन में दूध नहीं है, बालक बिलख-बिलखकर मर जाते हैं, इन बालकों की कब्रों से रोती, भूखी हड्डी की 'दूध-दूध' की सदा सुनायी पड़ती है !

दिनकर इस हाहाकार-चीत्कार को अपनी नजरों से ओझल नहीं कर पाते और वे तिलमिलाकर उठ खड़े होते हैं और निश्चय करते हैं—

'दूध-दूध !' फिर सदा कब्र की
आज दूध लाना ही होगा
जहाँ दूध के घड़े मिले
उस मञ्जिल पर जाना ही होगा

और वे कब्र में सोये बालकों को आश्वासन देते हुए कहते हैं—

हटो व्योम के मेघ पंथ से
स्वर्ग लूटने हम आते हैं
'इधर इधर !' ओ वत्स तुम्हारा
दूध खोजने हम जाते हैं

'दिगम्बरि' में दिनकर ने क्रान्ति के आगमन के पूर्व-चिन्हों की कल्पनात्मक तस्वीर खींची है। 'तलातल से उभरती' 'कोई आग' आ रही है और उसके आगमन

का आभास पाकर तरुणों की टोलियों में बलिदान देने की आकांक्षा उमड़ पड़ी है, दिशाएँ गूंज गयी है और व्योम में उल्लास छा गया है। युगों से मनुष्य अनय का भार ढोते, अपने को मिटाते चले आ रहे थे, वे अब दानवों को अपना रक्त पिलाने को तैयार नहीं हैं, बल्कि आज वे अपने प्रतिशोध के स्वत्व का प्रयोग करने पर तुल गये है। इस क्रान्ति के इशारे पर वे सारी धरा को फूंक देने का निश्चय कर चुके हैं।

इसके बाद दिनकर ने 'विपथगा' में क्रान्ति की कल्पना की है। उनकी क्रान्ति 'विपथगा' है, 'विपथगा' इसलिए कि वह कहीं भी, कभी, किसी रास्ते से पहुँच जाती है, उसकी गति-चाल अनिश्चित है। इस क्रान्ति का स्वरूप क्या है? दिनकर के ही शब्दों में—

संहार-लपट का चीर पहन नाचा करती मै छूम-छनन !
मैं निस्तेजों का तेज, युगों के मूक मौन की बानी हूँ;
दिलजले शासितों के दिल की मैं जलती हुई कहानी हूँ।
सदियों की ज़ब्ती तोड़ जगी मैं उस ज्वाला की रानी हूँ;
मैं ज़हर उगलती फिरती हूँ, मैं विष से भरी जवानी हूँ।
भूखी बाघिन-सी बात-क्रूर, आहत भुजङ्गिनी का दंसन !

इस 'विपथगामिनी' की गति-विधि अनियन्त्रित है—

मुझ विपथगामिनी को न ज्ञात किस रोज़ किधर से आऊँगी;
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अम्बर में आग लगाऊँगी।
आँखों को कर बन्द देश में जब भूकम्प मचाऊँगी;
किस का टूटेगा शृङ्ग, न जाने किसका महल गिराऊँगी।
निर्बन्ध, क्रूर, निर्मोह सदा मेरा कराल नर्तन गर्जन !

सोहनलाल द्विवेदी ने 'तरुणों के प्रति' कविता में तरुणों से माँग की है कि वे अपने कठोर कर में राष्ट्र की बागडोर लेकर दम्भी का नाश कर दें, पाखण्ड तोड़ दें और देश-देश के घर-घर में करुणा, शान्ति और स्नेह की वर्षा कर दें।

उनकी 'किसान' कविता में किसान की मेहनत, हिकमत, क़ूवत और दौलत से निर्मित सभ्यता-संस्कृति और विश्व-वैभव का विशद चित्रण किया गया है।

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी के कई बड़े-बड़े लेखक-कवि क्रान्ति की आकांक्षाओं की अभिव्यञ्जना करने लगे है।[1] इस नयी काव्य-धारा की क्या-क्या विशेषताएँ और सीमाएँ हैं? इसकी विशेषताएँ है—

---

१. लेखक का आशय हिन्दी की प्रगतिशील कविता का क्रम-बद्ध विवेचन नहीं था, इस कारण 'प्रवृत्तियों' का निरूपण करने के लिए कतिपय उदाहरण दिये गये हैं।

(१) इन कविताओं में छायावाद की अन्तर्मुखी, व्यक्तिवादी, केवल सौन्दर्योपासक, समाज-विरोधी कविता से पृथक् होकर प्रतीकवादी-यथार्थवाद (Symbolic Realism) की शैली के प्रारम्भ की झलक है।

(२) इन कविताओं मे क्रान्ति को गौरवान्वित किया गया है।

(३) इन कविताओं मे जिस अनीति, हाहाकार, वैषम्य, उत्पीड़न या आर्त्तनाद के विरुद्ध क्रान्ति या परिवर्तन का ओजपूर्ण आह्वान किया गया है, वह इसी समाज की देन है; अर्थात् पूंजीवादी समाज और भारत की परतन्त्रता के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। इसलिए ये कविताएं वर्तमान समाज-व्यवस्था और देश की गुलामी के विरुद्ध जन-मत का संगठन करने में सहायक सिद्ध हो रही हैं।

(४) इन कविताओं मे गहरा विद्रोह है और ये एक मूलगत सांस्कृतिक परिवर्तन की द्योतक है। उनके नाशवाद की तह में गहरे मानववाद का स्रोत है।

इस नयी काव्यधारा की सीमाएँ भी हैं—

(१) इन कविताओं का जन्म बुद्धि-तत्त्व और भाव-तत्त्व के सामञ्जस्य से नहीं हुआ है, बल्कि भावात्मक आवेश के गर्भ से ये उत्पन्न हुई है।

(२) ये कवि नयी प्रगतिशील कला के रूप-विधान या शैली और उसके विषय, बुद्धि-तत्त्व या वस्तु के प्रति पूर्णतः सचेत नहीं है।

(३) इन कविताओं में व्यक्त भावनाएँ जीवन या क्रान्ति की आवश्यकताओं के प्रति सचेत नहीं है, इसलिए वे ध्वंसात्मक या नाशवादी हैं, नवांकुरित-जीवन और गर्भजात-भविष्य की रूप-रेखा के विशिष्ट सौन्दर्य की कल्पना का उनमें अभाव है।

(४) इन कविताओं में आधुनिक जीवन की जिन प्रतारणाओं के विनाश की कामना और जिस सुख, शान्ति, करुणा और स्नेह से परिपूरित स्वतन्त्र जीवन की आकांक्षा की गई है, उनकी आकांक्षा मध्यमवर्ग की आकांक्षा है, और उनकी स्वतन्त्रता की कल्पना वर्तमान समाज-व्यवस्था की ही आदर्शवादी कल्पना है। स्पष्ट विचारधारा के अभाव के कारण सुख, शान्ति, न्याय, प्रेम और स्वतन्त्रता की उनकी कल्पना अधूरी, अस्पष्ट, अमूर्त्त एवं आदर्शवादी है, इसलिए नये जीवन की कल्पना करने में असमर्थ है। उसका आधार अवचेतन भावनाएँ है।

(५) इन कविताओं में जिस क्रान्ति का वर्णन किया गया है वह वास्तव में क्रान्ति नहीं अराजकता है। क्रान्ति में संगठित एवं स्व-उत्पन्न असंगठित शक्तियों का

अतः सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', नरेन्द्र शर्मा, आदि उच्चकोटि के कवियों की कविताओं के यदि उदाहरण नहीं दिये गये हैं तो इसका यह अर्थ नही कि लेखक उनके महत्त्व को गौण समझता है। —ले०

सामञ्जस्य रहता है, अराजकता में आतंकवाद और व्यक्तिवाद की प्रमुखता होती है। क्रान्ति के विध्वंस में नव-जीवन की रूपरेखा समायी रहती है, अराजकता में केवल संहार-प्रवृत्ति ही प्रधान होती है। क्रान्ति, क्रान्ति या परिवर्तन-वाहक है, अराजकता समाज के नष्ट-सन्तुलन को और भी नष्ट कर पुराना समाज-सन्तुलन ही स्थापित करती है। अतः वह पूँजीवाद का नाश कर पूँजीवाद की ही पुनर्स्थापना कराती है। इसीलिए इन कविताओं में क्रान्ति की स्पष्ट कल्पना का अभाव है, केवल नयी-नयी अतिशयोक्तियों की सृष्टि कर क्रान्ति का चित्रण किया गया है। उनमें क्रान्ति का विध्वंसात्मक रूप मूर्तिमान् है, रचनात्मक रूप अगोचर है। अतः वे यद्यपि विस्फोटक 'विद्रोह' की द्योतक हैं पर क्रान्तिकारी नहीं हैं। उनका नाशवाद मूलतः मानववादी होते हुए भी संस्कृति-विरोधी है।

(६) इन कविताओं में यथार्थवाद का भी अभाव-सा ही है, क्योंकि उनमें विराट् प्रतीकों का प्रयोग अधिक किया गया है, जीवन की अनुभवगत वास्तविकता का यथार्थवादी चित्रण कम। श्री भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' कविता एक अपवाद है। 'भैंसागाड़ी' एक यथार्थवादी कविता है और उसमे भाव और वस्तु का सुन्दर समन्वय हुआ है। अन्यथा अधिकांश कविताएँ उद्बोधनात्मक हैं।

(७) विचारधारा के अभाव के कारण चूँकि इन कवियों मे क्रान्ति की आवश्यकताओं की चेतना का अभाव है, इसलिए वे वास्तव मे अन्त तक क्रान्ति का स्वागत करते जायँगे, इसमें सन्देह है। जब तक क्रान्ति आ नहीं जाती उस समय तक उसके आगमन की पग-ध्वनि सुनकर उल्लसित होना आसान है। लेकिन यदि क्रान्ति-उपासक चेतनाहीन है, न्याय, शान्ति, स्वतन्त्रता और समानता के विचार जीवन में कार्य-परिणत होकर कैसा व्यावहारिक रूप धारण करेंगे, यदि उसके अन्दर इसकी कल्पना अस्पष्ट है, नव-जीवन के नव-संगठन की नव-रूप-रेखा की कल्पना का यदि उसमें अभाव है, स्वयं क्रान्ति प्रतिदिन की बदलती परिस्थितियों में कौन-कौन से रूप धारण कर सकती है, यदि इसके विषय मे उसका साधारण अनुमान संकीर्ण है, तो किसी भी समय, क्रान्ति के आगमन पर, वह क्रान्ति-विरोधी बन सकता है। और इन कवियों की यही सबसे बड़ी कमजोरी है। इस राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति के जमाने में वे शीघ्र ही प्रतिक्रिया की शक्तियों के बहकावे मे आ सकते हैं। इस खतरे के संकेत-चिह्न प्रकट होने लगे है। श्री भगवतीचरण वर्मा ने 'नया वर्ष' कविता 'विशाल-भारत' में लिखी है। इस कविता में उन्होंने वर्तमान यूरोपीय युद्ध का वर्णन करते हुए प्रश्न किया है कि क्या दुःख-पीड़ित मानवता को कभी शान्ति और हर्ष प्राप्त होगा, और हिंसा के ताण्डव-नर्तन का कभी अन्त होगा, क्या गांधी का अहिंसा का सन्देश संसार को त्राण दिला सकेगा,

या फिर वे हिटलर, स्टैलिन ही
अपनी हिंसा की बर्बरता
को ही रक्खेंगे यहाँ अमर ?

अचेतन विचारधारा ने भगवती बाबू को साम्राज्यवादी प्रचार का निरुपाय शिकार बना दिया है। उन्होंने फ़ासिस्ट हिटलर और कम्युनिस्ट स्टैलिन को एक ही कोटि में रख दिया । एक साम्राज्यवादी स्वार्थों के वशीभूत होकर लड़ रहा है, दूसरा क्रान्ति के प्रतीक साम्यवादी राष्ट्र की रक्षा के निमित्त। लेकिन उनकी प्रेरणा के स्रोत ब्रिटिश-साम्राज्यवादी प्रचार-केन्द्र ने तो इस भेद पर असत्य की यवनिका डाल रक्खी है, फिर विचारधारा की रोशनी कहाँ कि भगवती बाबू इस यवनिका के पीछे छिपे सत्य को देख लें। वे क्रान्ति के सूक्ष्म द्वन्द्वात्मक रूप को नहीं समझ सकते जिसके कारण किन्हीं परिस्थितियों में—विशेषकर आज फ़ासिज़्म के उदय के कारण—श्रमजीवी क्रान्ति 'प्रजातन्त्रवाद की रक्षा' का स्वरूप धारण कर सकती है। यह भेदाभेद उनके लिए अगम है, वे आधुनिक जीवन की वास्तविकता को केवल विभिन्न चौरस-स्तरों या समतलों के रूप में ही देख सकते हैं, जब कि वह वास्तव में त्रिगुणात्मक (three dimensional) है और भूत-वर्तमान-भविष्य का द्वन्द्वात्मक प्रवाह है। विचारों की यही अपरिपक्वता इस काव्य-मनोवृत्ति के लेखकों को क्रान्ति-विरोधी बना सकती है। और विचारों की इसी अपरिपक्वता ने इन कवियों की कविता के चारों ओर संकीर्ण परिधि खींच दी है। जहाँ तक क्रान्ति के प्रति अस्पष्ट, अतिशयोक्ति-पूर्ण भावात्मक अनुराग प्रदर्शन करने का प्रश्न है, वे स्वच्छन्द रूप से ऐसा कर सकते हैं, लेकिन वे इस युग के राजनीतिक-सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के संघर्षों की अभिव्यंजना नहीं कर सकते, क्योंकि इन संघर्षों की पूर्ण चेतना उन्हें प्राप्त नहीं है।

क्रान्ति की आकांक्षाओं की अभिव्यञ्जना करने वाली दूसरी काव्य-धारा का प्रतिनिधित्व श्री सुमित्रानन्दन पन्त कर रहे हे।

पन्त की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविता साहित्य में 'भविष्यवाद' की कविता है। रूसी समाजवादी क्रान्ति के समय वहाँ 'भविष्यवाद' की कविता सर्वप्रधान थी। क्लेब्नीकॅव और मयकॅवस्की प्रभृति कवियों ने 'भविष्यवाद' की कविता का विकास किया था। इस कविता ने प्रतीकवादी प्रवृत्ति की कविताओं की सौन्दर्य-प्रियता और रहस्यवादी शैली का विरोध कर क्रान्ति की रूप-रेखा का चित्राङ्कन किया। रूसी क्रान्ति के समय 'भविष्यवाद' की कविता ने खुलकर क्रान्ति का पक्ष-समर्थन किया। पन्त की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविताओं में रूसी भविष्यवाद की कविताओं-की-सी मांसल-रक्तिम कला नहीं है; लेकिन उनमें नूतन की बौद्धिक कल्पना अवश्य है।

युगवाणी : 'युगवाणी' की कला बुद्धिजीवी है । उसमें भावना-तत्त्व का अभाव-सा है। क्यों ? क्योंकि छायावाद की जीवन से भाग निकलने वाली कविता स्पष्ट दृष्टिकोण से रहित, मुख्यतः भावना-प्रधान थी, उसके कवियों की अन्तर्वृत्तियाँ अवचेतन एवं असंगठित, वैयक्तिक एवं असामाजिक थीं और इस अबुद्धिवादी कविता के प्रति प्रतिक्रिया बुद्धि-प्रधान ही हो सकती थी। इसलिए 'युगवाणी' में हमें नये विचारों, नये भावों, नये सौन्दर्य-मूल्यों, नये जीवन-सम्बन्धों के बारे मे वक्तव्य मिलते हैं।

पन्त जी के सम्बन्ध मे यह बात उल्लेखनीय है कि वे प्रारम्भ से ही प्रगति के समर्थक रहे है, जीवन-संघर्ष से भागने की प्रवृत्ति उन पर अधिकार न कर सकी। 'पल्लव' में भी उन्होंने परिवर्तन का स्वागत किया है और 'गुञ्जन' में उनके 'विदग्ध हृदय की भावुकता और कोमल कल्पना का लय आत्म-चिन्तन और लोक-कल्याण की भावना' में हो गया था । यद्यपि 'गुञ्जन' में वे नवजीवन की विकसित कल्पना नहीं प्राप्त कर सके और न उस समय तक जीवन-वैषम्य के मूल कारणों की चेतना प्राप्त कर पाये थे, जिसके कारण उन्होंने 'सुख' और 'दुख' की नित्यता स्वीकार करके उनमे सामञ्जस्य स्थापित कर मानव-जीवन की अपूर्णता और उसके उत्पीड़न को दूर करने की कोशिश की थी, लेकिन उस समय भी उन्हें विश्व प्रिय था, तृण-तरु, पशु-पक्षी, नर-सुरवर सभी के प्रति उनका अनुराग था। 'गुञ्जन' में पन्त जी ने कहा भी है—

मै प्रेमी उच्चादर्शों का
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का
जीवन के हर्ष-विमर्शों का
लगता अपूर्ण मानव जीवन
मै इच्छा से उन्मन-उन्मन

और चूंकि मानव-जीवन की अपूर्णता की चेतना उन्हें 'इच्छा' से 'उन्मन-उन्मन' बनाये रहती थी इसीलिए उच्चादर्शों के प्रेमी पन्त अपने मार्ग को प्रशस्त करते आगे बढ़ते आये और आज वे प्रगतिशील शक्तियों के साथ है। उस समय भी उनकी कामना थी कि—

नव छवि, नव रँग, नव मधु से
मुकुलित, पुलकित हो जीवन

युगवाणी में उनकी चेतना परिपक्व हो गयी है । आत्मचिन्तन और कठोर अन्तर्द्वन्द्व के पश्चात् पन्त जी को मानव-विकास का एक मात्र मार्ग मिल गया है, वह मार्ग है साम्यवाद का । इस चेतना के प्राप्त करते ही उन्हें स्वयं अपनी कविता के बन्धन टूटते नज़र आये है—

खुल गए छन्द के बन्ध
प्रास के रजत् पाश,
अब गीत मुक्त
औ' युगवाणी बहती अयास।
बन गए कलात्मक
जगत के रूप नाम
जीवन संघर्षण देता सुख
लगता ललाम।

इसलिए अब वे सुख और दुःख की नित्यता में विश्वास नहीं करते और न उनमें सामञ्जस्य उत्पन्न करने की चेष्टा में ही संलग्न हैं। अब उन्हें इस बात की चेतना प्राप्त हो गयी है कि—

जगजीवन के तम में
दैन्य, अभाव शयन में
परवश मानव!

इस 'परवश मानव' का उद्धार तभी होगा जब नयी मानवता की रचना की जायगी। इस नयी मानवता का एक नयी संस्कृति के अन्दर ही निर्माण किया जा सकता है। इस नयी संस्कृति की क्या रूप-रेखा होगी? पन्त के अनुसार इस नयी संस्कृति में मृत-आदर्शों का बन्धन न होगा, रूढ़ि और रीतियों की आराधना न होगी, उसमें मनुष्य श्रेणी-वर्ग मे विभाजित न होंगे, और न उसमें धन-बल से जन-श्रम-शोषण होगा। उसमें जीवन सक्रिय होगा, और जीवन को उन्नत बनाने वाले सभी प्रयोजन-साधन उपस्थित होंगे। ऐसी नव संस्कृति में वाणी, भाव, कर्म, मन तो संस्कृत होंगे ही, जनवास, वसन और मनुष्य के शरीर भी सुन्दर होंगे। पन्त की नव-संस्कृति की कल्पना अतिशयोक्तियों या वर्तमान के तिरस्कार पर ही अवलम्बित नहीं है, वरन् उसमें नव-संस्कृति की रचनात्मक विशेषताओं की छवि भी मौजूद है।

'शिल्पी' कविता मे पन्त जी ने मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को ऊँचा उठाने, उसकी अवचेतन अन्तर्वृत्तियों को चेतन और उसके भावों को संगठित करने में कवि की जो भूमिका होती है उसका वर्णन किया है—

निर्माण कर रहा हूं जग का
मैं जोड़-जोड़ मनुजों के मन
मैं काट-काट कटु घृणा कलह
रचता आत्मा का मनोभवन
मैं जग-जीवन का शिल्पी

जीवित मेरी वाणी के स्वर
जन-मन के मांस खण्ड पर
मुद्रित करता हूँ सत्य अमर

यद्यपि इस कविता का दृष्टिकोण आदर्शवादी है, क्योंकि 'मन' को जग-जीवन का अवलम्ब माना गया है, तो भी इसमें सत्य का अंश बहुत ज्यादा है। जब तक 'जन-मन के मांस खण्ड' पर 'अमर-सत्य' मुद्रित नहीं किया जायगा, उस समय तक मनुष्य का भाव-जगत, उसका आध्यात्मिक जीवन क्षुद्र और संकीर्ण ही बना रहेगा। लकिन यह 'अमर-सत्य' क्या है ? क्या यह वर्ग-सत्य तो नहीं है ? नहीं,

सत्य नहीं वह, जनता से जो
नहीं प्राण-सम्बन्धित

इस प्रकार पन्त जी ने अनुभव किया है कि जीवन के वर्तमान वर्ग-मूल्यों का परित्याग करके नये मूल्यों की सृष्टि करनी होगी, क्योंकि

आज असुन्दर लगते सुन्दर
प्रिय पीड़ित, शोषित जन

अतएव,

आज सत्य, शिव, सुन्दर केवल
वर्गों में है सीमित
ऊर्ध्व मूल संस्कृति को होना
अधो मूल है निश्चित।

यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'कला, कला के लिए' के समर्थक आज वर्ग-कला का निर्माण कर रहे हैं किन्तु यह कला पृथ्वी पर सिर के बल खड़ी है, अगर संस्कृति और कला का विकास होना है, तो संस्कृति और कला को उलटकर पैर के बल खड़ा करना होगा, ऐसा करने पर जीवन-मूल्यों में भी परिवर्तन करना होगा। ये जीवन-मूल्य सौन्दर्य-तत्त्व की उपेक्षा नहीं करेंगे, बल्कि उनका सौन्दर्य-तत्त्व अधिक व्यापक और सर्व-जन-सुलभ होगा। इसलिए पन्त जी कहते हैं—

रम्य रूप निर्माण करो हे
रम्य वस्तु परिधान,
रम्य बनाओ गृह, जन पथ को
रम्य नगर, जन स्थान

किन्तु जब तक पुरुष परवश और बन्धन-ग्रस्त है उस समय तक नयी सभ्यता, नयी संस्कृति और नये जीवन का निर्माण नहीं हो सकता। इस आधुनिक संस्कृति और समाज ने मनुष्य की मनुष्यता का अपहरण कर लिया है और उसमें अनेकानेक

भेदभाव उत्पन्न कर उसे अलग-अलग बाँट दिया है। इसलिए पन्त जी का आदेश है—

आज मनुज को खोज निकालो
जाति वर्ण संस्कृति समाज से
मूल व्यक्ति को फिर से चालो

मनुष्य के वर्ग-समाज ने नारी जाति को सदैव दासता के बन्धन में जकड़कर रखा है। पन्त जी उसे अब ऊँचा उठाकर स्वतन्त्र जीवन प्रदान करना चाहते हैं। उनका आदेश है—

मुक्त करो नारी को मानव !
चिर बन्दिनि नारी को
युग-युग की बर्बर कारा से
जननि, सखी, प्यारी को।

आज इस बन्दिनी की क्या करुण दुर्दशा है—

वह नर की छाया नारी !
चिर नमित नयन, पद विजड़ित
वह चकित भीत हिरनी-सी
निज चरण चाप से शङ्कित !
मानव की चिर सहधर्मिणि
युग-युग से मुख अवगुण्ठित
स्थापित घर के कोने में
वह दीप शिखा-सी कम्पित !

परन्तु स्त्री-पुरुष तभी स्वतन्त्र हो सकते हैं जब उनके जीवन के अन्धकार, भेदभाव, पाशविकता, बर्बरता आदि जीवन के कुत्सित रूप मिट जायें और नये विचार, नयी संस्कृति की रोशनी उनमें पैदा हो जाय। इसलिए—

कातो अन्धकार तन-मन का,
नव प्रकाश के रजत स्वर्ण से
बनो तरुण पट नव-जीवन का।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि पुरातन की जीवित निधियाँ भी हम नष्ट कर दें या देश-देश की सांस्कृतिक विशेषता को एकदम मिटा दें, नहीं—

सजा पुरातन को कर नूतन
देश-देश का रंग अपनापन
निखिल विश्व की हाट-बाट
में लेन-देन हो मानवपन का।

पन्त जी की नव-जीवन की यह कल्पना उस समय तक कार्य-रूप में परिणत नही हो सकती जब तक वर्तमान पूंजीवादी समाज स्थापित है, उसके विनाश पर ही नव-संस्कृति, नव-मानवता पल्लवित-फलित हो सकती है। इसलिए वे आधुनिक जीवन में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव करते है। क्रान्ति के कृष्ण घन को उठते देख वे कहते है—

मुस्काओ हे भीम कृष्ण घन !
गहन भयावह अन्धकार को
ज्योति मुग्ध कर चमको कुछ क्षण
दिग् विदीर्ण कर, भर गुरु गर्जन,
चीर तड़ित से अन्ध आवरण,
उमड़-घुमड़ फिर झूम-झूम हे
बरसाओ नव-जीवन के कण

'पन्त' की क्रान्ति के प्रतीक 'कृष्ण घन' भगवतीचरण वर्मा या दिनकर के बादलों की तरह केवल संहार और प्रलय के वाहन नहीं है, बल्कि नव-जीवन के कणों की भी वर्षा करते हैं।

इसलिए उनकी क्रान्ति एक ही साथ विनाशमयी और सृजनमयी है। पन्त के ही शब्दों में—

तुम चिर विनाश, नव सृजन गोद में लातीं
चिर प्राकृत, नव संस्कृत के ज्वार उठातीं
× ×
जीवन वसंत तुम, पतझड़ बन नित आतीं।

इस क्रान्ति का संगठन कौन करेगा ? या पन्त जी भी भगवतीचरण वर्मा, दिनकर और 'अज्ञेय' की तरह क्रान्ति को 'विपथगा' मानते है, जो कहीं भी, किसी व्यक्तिविशेष के रूप में स्वयमेव प्रकट हो जायगी ? नहीं, पन्त जी क्रान्ति की आवश्यकताओं की चेतना से अनभिज्ञ नहीं है। उन्होंने 'घननाद' सुना है—ठङ्··· ठङ्·· ठन ! और उन्हें ज्ञात है कि—

अग्नि स्फुलिंगों का कर चुम्बन
जाग्रत करता दिग्-दिगन्त घन
जागो श्रमिको बनो सचेतन
भू के अधिकारी हैं श्रम जन !

इस घननाद ने विश्व के श्रमिकों को अपनी सामूहिक शक्ति की चेतना प्रदान कर दी है, और चेतना-प्राप्त संगठित श्रमजीवी ही—

लोक क्रान्ति का अग्रदूत
नव सभ्यता का उन्नायक
जीवन का शिल्पी।

पन्त जी की 'कार्ल मार्क्स', 'भौतिकवाद', 'साम्राज्यवाद' 'समाजवाद-गांधीवाद', 'धनपति', 'मध्यमवर्ग', 'कृषक', और 'श्रमजीवी' आदि कविताओं मे आधुनिक जीवन-सम्बन्धों की वास्तविकता की व्याख्या की गयी है। इन कविताओं में वर्ग-संस्कृति और समाज के प्रति पन्त जी ने अपनी स्थिति तो स्पष्ट की ही है, वर्गों की वस्तु-स्थिति की छिद्रान्वेषी व्याख्या भी की है। उनकी पैनी दृष्टि से कुछ छिपा नहीं मालूम पड़ता, उन्हें ज्ञात है कि—

मरणोन्मुख साम्राज्यवाद, कर वह्नि और विष वर्दण
अन्तिम रण को है सचेष्ट, रच निज विनाश आयोजन।
विश्व क्षितिज में घिरे पराभव के हे मेघ भयंकर
नवयुग का सूचक है निश्चय यह ताण्डव प्रलयंकर।

इस नवयुग की सूचना उन्हें अनायास ही नहीं प्राप्त हो गयी है, बल्कि उनके ऐतिहासिक दृष्टिकोण ने उन्हें सूचना दी है—

साक्षी है इतिहास,—आज होने को पुनः युगान्तर,
श्रमिकों का शासन होगा अब उत्पादन यन्त्रो पर।
वर्गहीन सामाजिकता देगी सब को सम साधन,
पूरित होंगे जन के भव जीवन के निखिल प्रयोजन।

इस प्रकार हम देखते है कि पन्त की 'युगवाणी' की 'विचार-वस्तु' हिन्दी काव्यसाहित्य में एकदम नयी है। 'युगवाणी' में प्रकट विचारों में गूढ़-चिन्तन, अध्ययन और अनुभव की झलक है। उनमें परिपक्वता और सारपूर्ण व्यापकता है। क्रान्ति की आकांक्षाओं की अभिव्यंजना करने वाले किसी अन्य कवि की विचार-वस्तु इतनी परिष्कृत, समन्वित एवं प्रगतिशील नहीं रही है।

पन्त जी की युगवाणी का हिन्दी में स्वागत भी हुआ है और विरोध भी। विरोधियों के मुख्य तर्क कुछ इस प्रकार के है—(१) युगवाणी में पन्त जी की कला का ह्रास हुआ है, क्योंकि उन्होंने कल्पना के रजत-पंखों पर उड़ना छोड़ दिया है। (२) युगवाणी में बुद्धिवाद की प्रधानता ने गद्य को ही कविता का जामा पहना दिया है, भाव और अनुभूति का पन्त जी में लोप हो गया है। (३) पन्त जी की काव्य-सरिता शुष्क हो गयी है, और लोक-भावना का आश्रय लेकर उन्होंने स्वयं ही अपनी कविता की भावमयता को नष्ट कर दिया है। (४) पन्त जी की भाषा उनकी लोक-भावना के अनुकूल नहीं है, और ऐसी दुरूह भाषा में लिखकर वे अपने उद्देश्य

का स्वयं ही हनन कर रहे हैं, आदि।

इस लेख में पन्त की युगवाणी के कलापक्ष अर्थात् शैली की एकाग्रता, रस-रमणीयता, पदविन्यास, गुण-प्रकाशन की क्षमता, शब्द-चयन, उपमा-रूपक आदि भाव-प्रकाशन की प्रणालियों, सौन्दर्य-सृष्टि की रीतियों, संगीत एवं ध्वनि आदि का निरूपण करना मेरा उद्देश्य नहीं रहा है, किन्तु तो भी आक्षेपों के उत्तर में कुछ कहना आवश्यक है। मेरा अपना विचार है कि युगवाणी में जहाँ-जहाँ काव्य-कला के हमें दर्शन होते हैं, वहाँ हम उसे अत्यन्त उन्नत रूप में पाते हैं। श्रेष्ठ कला की दृष्टि से 'चींटी', 'पुण्य प्रसू', 'आम्रविहग'...! 'कृष्णघन', 'खोज', 'लेन-देन', 'वाणी' और 'युग-नृत्य', 'गंगा की साँझ' आदि कविताएँ उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ कविताएँ तो पन्त की पहली सभी कविताओं से श्रेष्ठ हैं। इन कविताओं में पन्त ने जिस नयी टेकनीक, जिस नये संगीत, जिन नयी ध्वनियों का सृजन किया है, उससे आक्षेपकों की शंकाएँ निर्मूल हो जानी चाहिए कि पन्त अब नये भाव-सौन्दर्य की सृष्टि करने में असमर्थ हो गए हैं। किन्तु जिनका पन्त की कविता के प्रति आमूल विरोध है, उन्हें इस युग के प्रतिनिधि कवि पन्त से भविष्य में कोई आशा न रखनी चाहिए। पन्त ने रहस्यवाद-छायावाद की शृंखलाएँ तोड़ दी हैं और वे कदाचित् उन्हें फिर कभी धारण नहीं कर सकेंगे, क्योंकि आज उनका मन सचेत है। रहा भाषा का प्रश्न, तो यह आक्षेप एक प्रकार से सही है, 'जन-मन के जाग्रत गीत-यान' बनाने के लिए उन्हें सरल, सुबोध भाषा का विकास करना ही अपेक्षित है।

मैं पहले कह चुका हूँ कि युगवाणी की कविता बुद्धि-जीवी या बुद्धि-प्रधान है और उसमें भावात्मक तन्मयता का अभाव-सा है। उसका मुख्य कारण यह है कि क्रान्ति की आकांक्षाओं की अभिव्यञ्जना करने वाली कविताओं में भावना-तत्त्व की प्रधानता तो थी लेकिन उसका बुद्धि-तत्त्व अत्यन्त अस्पष्ट एवं कमज़ोर था—मानों उसमें रीढ़ की कमी थी। इसलिए 'युगवाणी' में पन्त जी का उद्देश्य इस नवीन कल्पना को रीढ़ प्रदान करना था, उसे एक स्पष्ट, दार्शनिक दृष्टिकोण देना था। दूसरे, पहली कविता केवल विध्वंसात्मक थी, उसमें नव-जीवन के सौन्दर्य का अभाव था। अतः युगवाणी में पन्त जी का उद्देश्य उसे सृजनात्मक-तत्त्व प्रदान करना था। इस कार्य में उन्हें सफलता अवश्य मिली, लेकिन यह सफलता सर्वांगीण नहीं हो सकी, क्योंकि पहली कविता यदि वास्तविकता के एक अङ्ग पर जोर देकर एकाङ्गी थी, तो पन्त जी की कविता उसके दूसरे ध्रुव-केन्द्र पर ज़ोर देकर एकाङ्गी हो गयी। उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने के लिए दोनों का समन्वय करना ज़रूरी है।

इसके अतिरिक्त पन्त की युगवाणी की कविता यूटोपियन है, यद्यपि उनका यूटोपियनिज़्म समाजवादी है, इसलिए प्रगतिवादी है। वह यूटोपियन इसलिए है कि

वे एक आदर्श उच्च जीवन, नये समाज, नयी संस्कृति की कल्पना करते हैं, और आज के समाज की संघर्षमय वास्तविकता, उसके अन्तर्गत बहने वाली नवजीवन की धाराओं, उसके गर्भ में पड़े नव-जीवन के बीज, समाज-परिवर्तन की शक्तियों की अपने ऐतिहासिक-कार्य के प्रति जागरूकता और चेष्टा ने उनके मन में इस विश्वास की पुष्टि कर दी है कि यह यूटोपिया अवश्य कभी-न-कभी, कदाचित् शीघ्र ही, फलित होगी। इसलिए वे नूतन की मधुर कल्पना में ही तन्मय हो जाते हैं, उसके रचनात्मक-तत्त्व को ही देखते हैं, और उसके दूसरे आवश्यक अङ्ग, विध्वंसात्मक-तत्त्व को नज़रन्दाज़-सा कर जाते हैं। लेकिन विध्वंसात्मक-तत्त्व के बिना क्रान्ति सफल नहीं हो सकती और नूतन जीवन सफल नहीं हो सकता। यूटोपियन होने के कारण ही पन्त जी की कविता यथार्थवादी न होकर, आदर्शवादी है।

किन्तु आधुनिक प्रगतिशील-वास्तविकता का सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण, उसके विध्वंसात्मक एवं सृजनकारी दोनों तत्त्वों का सामञ्जस्यपूर्ण चित्रण आदर्शवादी शैली में नहीं किया जा सकता। जहाँ तक शोषित मनुष्य के व्यक्तिगत हर्ष-विमर्ष, प्रेम-विरह, जीवन के अभाव और असहायता की प्रगतिशील अभिव्यञ्जना करनी है, छायावाद की शैली उसका तीव्र संवेदनात्मक चित्रण करने में सफल हो सकती है और किसी प्रगतिशील कवि को छायावाद की अति-उन्नत, परिमार्जित विकसित शैली का इस आधार पर तिरस्कार नहीं करना चाहिए कि उसमें अब तक जीवन की कठिनाइयों से पराङ्मुख होने वाली भावना की ही अभिव्यक्ति की जाती थी। शोषित मानवता भी व्यक्तियों की समष्टि से निर्मित हुई है और इन व्यक्तियों के सुख-दुःख, प्रेम और विरह के चित्र उच्च वर्गों के व्यक्तियों के सुख-दुःख और प्रेम-विरह से कहीं अधिक तीव्र, सत्य और सुन्दर होंगे, क्योंकि उनमें हमें मानवता के यथार्थ रूप का दर्शन मिलेगा, जो वैभव-विलास के नीड़ में पले उपजीवियों की कृत्रिम, स्व-रचित वेदना में कदापि नहीं मिल सकता। अतः छायावाद की शैली के नितान्त परित्याग के हम समर्थक नहीं। किन्तु इसका दूसरा पहलू भी है। प्रगतिशील काव्यशैली छायावादी शैली तक ही अपने को सीमित नहीं रख सकती। क्योंकि आधुनिक जीवन की संघर्षमयी वास्तविकता के अनुभव, अपने विनाश से बचने के लिए मरणोन्मुख साम्राज्यवाद-पूँजीवाद की अन्तिम रण-चेष्टा की विकरालता, क्रान्ति की शक्तियों की कठिनाइयाँ, उनकी शक्ति-सञ्चय एवं ऐक्य-स्थापन की अनवरत चेष्टा, उनके विरोधियों की हिंसा, क्रूरता और बर्बरता, और नये समाज की प्रसव-वेदना के अनुभव का भावपूर्ण, कल्पनात्मक, कलापूर्ण अभिव्यञ्जना छायावाद की आदर्शवादी शैली द्वारा नहीं की जा सकती, वह इस कठोर अनुभूति का भार नहीं उठा सकती। प्रतीकों का प्रयोग वास्तविकता का सर्वाङ्गपूर्ण चित्रण नहीं कर सकता। इसलिए पन्त की कविता

में एक और ऐतिहासिक विकास का आवश्यकता है—वह है आधुनिक वास्तविकता के अनुकूल ही छायावाद के टेकनीक के उत्कृष्ट गुणों से विकसित एक नयी यथार्थवादी शैली का विकास।

मेरा कथन बुद्धिगम्य है। भाव-विचारों के अनुकूल ही उनके प्रकाशन की शैली भी होनी चाहिए। जिस समय शृङ्गार-काल की कविता का परित्याग करके छायावादी कवियों ने कविता में नये भाव, रस और विचार। की सृष्टि की थी, उस समय उन्होंने शृङ्गार-कविता की रीति-शैली का भी परित्याग किया था। इसी प्रकार आज जब फिर कविता में युग-परिवर्तन हो रहा है और उसमे नये भाव-विचार प्रवेश कर रहे है, तो इन नये भाव-विचारों का केवल छायावाद की आदर्शवादी शैली मे ही प्रकाशन कर हम 'मांसल-रक्तिम' कला उत्पन्न नहीं कर सकते। छायावाद की कविता वैयक्तिक-भाव-प्रकाशन की कविता है, इसलिए उसमे व्यक्तिगत अनुभव की ही अभिव्यञ्जना हो सकती है, मनुष्य के सामूहिक अनुभव की अभिव्यक्ति उसमे नहीं की जा सकती। युगवाणी की एक कमी यह भी है कि पन्त जी ने नई विचारधारा के अनुकूल शैली को यथार्थवादी नहीं बनाया। ग्राम्या मे यह दोष अंशतः, केवल अंशतः ही दूर हो गया है और युगवाणी मे भी 'दो लड़के' जैसी अभिनव शैली की कविताएँ है। कदाचित् पन्त जी अपनी कविता के इस अभाव के प्रति सचेत है। उन्होंने स्वयं प्रश्न किया है—

कवि नवयुग की चुन भाव राशि
नव छन्द आभरण, रस विधान
तुम बन न सकोगे जन मन के
जाग्रत भावो के गीत यान ?

इसके अतिरिक्त 'जन मन का गीत-यान' कवि तभी बन सकता है जब वह कविता के विनष्ट मूल-तत्त्व, सामूहिक-भावना की अभिव्यक्ति को पुनः प्रतिष्ठित कर दे। 'खोज' और 'लेन-देन' कविताओं में हमे इस दिशा मे किये गये प्रयत्न का आभास मिलता है, क्योंकि इन दो कविताओं मे कबीर, सूरदास और मीरा के पदों-की-सी सामूहिक गेयता का तत्त्व वर्तमान है।

पन्त जी की नवीनतम काव्य-कृति 'ग्राम्या' है। 'ग्राम्या' मे पन्त जी की कला का विकास स्पष्ट है। 'युगवाणी' मे 'दो लड़के' के अतिरिक्त और कोई ऐसी कविता नहीं है जिसमे वास्तविक जीवन का यथार्थवादी चित्रण मिलता हो। जैसा हम ऊपर कह चुके है, 'युगवाणी की अधिकांश कविताओं मे हमे 'नये विचारों, नये भावों, नये सौन्दर्य-मूल्यों और नये जीवन सम्बन्धों' के बारे मे वक्तव्य मिलते है। 'ग्राम्या' में पन्त जी ने 'ग्रामीणों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति' प्रकट की है। 'ग्रामीणों के प्रति'—ग्रामीणों के प्रति भी बौद्धिक सहानुभूति उस समय तक प्रकट नहीं की जा

सकती जब तक इन ग्रामीणों के जीवन, उनके दुःख-सुख, उनके हर्ष-विमर्श, उनकी यातनाओं-विडम्बनाओं का अनुभव लेखक को न हो। 'ग्राम्या' में हमें इस अनुभव का चित्रण मिलता है। पन्त जी के प्रगतिशील विकास का यह दूसरा चरण है, दूसरा रूप है। 'युगवाणी' में यदि शुष्क सिद्धान्तवाद ने उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण का शिलान्यास किया था तो 'ग्राम्या' मे 'यथार्थ चित्रण' ने उनके दृष्टिकोण को अंशतः जीवन-प्रकृति रूप दे दिया है। ग्राम्या में दार्शनिकता है तो उससे भी अधिक कवित्व है—

पन्त जी का विकास अवरुद्ध नहीं हुआ।

'ग्राम्या' में ग्राम्य जीवन का चित्रण कैसा है ? 'ग्राम चित्र' और 'भारत ग्राम' मे भारत के ग्रामों का चित्र मिलता है। इन ग्रामों में 'अन्न-वस्त्र पीड़ित असभ्य निर्बुद्धि पङ्क में पालित' मनुष्य रहते है।

> झाड़-फूँस के विवर,—यही क्या जीवन शिल्पी के घर ?
> कीड़ों से रेंगते कौन ये ? बुद्धि प्राण नारी नर ?

यह भारत ग्राम—रवि-शशि का लोक, जहाँ पक्षियों की चहचहाहट से सारा वातावरण मुखरित रहता है, जहाँ खेतों की हरियाली से पृथ्वी पर मखमल-सी बिछी हुई है, जहाँ फूल, ओस, कोकिल, आम की डाली, नीला नभ, बोई धरती, सूरज का चौड़ा प्रकाश और ज्योत्स्ना का नीरव प्रसार सभी कुछ है; जो प्रकृति धाम है, जहाँ का तृण-तृण, कण-कण प्रफुल्लित और जीवित है लेकिन—

> • 'यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत !!'

केवल ग्राम ही नहीं, वरन् समूचा भारत आज इन्हीं जीवन्मृत निवासियों का महाग्राम बना हुआ है जिनका आध्यात्मिक और बौद्धिक विकास रुका हुआ है। इस महाग्राम में 'सामाजिक जन' नहीं वरन् 'अहंकाम व्यक्ति' निवास करते है, जिनकी चेतना क्षुद्र है, जो व्यक्तिगत राग-द्वेष से पीड़ित हैं, जो परम्परा-प्रेमी, अन्ध-विश्वासी, परिवर्तन-विमुख, भाग्य के क्रीत दास और पाप-पुण्य से संत्रस्त है। इन मनुष्यों में आज भी आदि-मानव ही निवास करता है। वे सभ्य नहीं हैं, उनके वेश चाहे सभ्य क्यों न हों। किन्तु अब युग परिवर्तन समीप है क्योंकि—

> ललकार रहा जग को भौतिक विज्ञान आज,
> मानव को निर्मित करना होगा नव समाज
> विद्युत औ' वाष्प करेंगे जन निर्माण काज,
> सामूहिक मंगल हो समान :

अतः पन्त जी ग्रामों के जीवन के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही नहीं प्रदर्शित करते, 'विषण्ण-जीवन्मृत' मनुष्य को देखकर दया और करुणा से ही नहीं

भर जाते, बल्कि परिवर्तन की अनिवार्यता की ओर भी इशारा करते हैं, जिसके बिना उसमें पुनर्जीवन नहीं उत्पन्न हो सकता। यद्यपि यह सच है कि इस 'अहंकाम', 'संत्रस्त', 'अन्ध-विश्वासी', मानव (अर्थात् भारतीय किसान) को उसके खण्ड-खण्ड कमज़ोर रूप में देखना मध्यमवर्गी मनोवृति है, जिसके कारण पन्त जी यह नहीं देख पाये कि आज जग को यदि 'भौतिक विज्ञान' ललकार रहा है जिसके कारण 'युग-परिवर्तन' समीप है, तो यह 'भौतिक विज्ञान' बिना इस 'विषण्ण जीवन्मृत' मानव के सामूहिक संघर्ष के 'युग-परिवर्तन' कर ही नहीं सकता। अतः खण्ड-खण्ड, व्यक्ति रूप मे यदि यह मानव कमज़ोर और अन्धविश्वासी है तो समूह के रूप में वह क्रान्ति और मौलिक परिवर्तन की शक्तियों का ज्वालामुखी भी है, अतः उसके सामूहिक संगठित 'अमल' के अन्दर जो शक्ति गर्भजात है उसे स्वीकार न करना इस मानव का उपहास-चित्र खींचना भी हो सकता है—

इन ग्रामों के निवासी कैसे हैं—

उन्मद यौवन से उभर
घटा-सी नव असाढ़ की सुन्दर,

एक ग्राम-युवती का चित्र है। कितनी क्रियाशील, यौवन के सहज उत्साह से कितनी उल्लसित-चकित, हर काम में कितनी दत्तचित्त; किन्तु अपने यौवनोल्लास के कारण कितनी विरक्त ! उसका वह खल-खल हँसना, वह मटकना, लचकना, पनघट पर केलि करना, उसका वह यौवन-उन्माद !

रे दो दिन का उसका यौवन !

× ×

दुःखों से पिस, दुर्दिन में घिस
जर्जर हो जाता उसका तन !

और ग्राम नारी ? वह वर्ग-नारियों की तरह न 'सुज्ञ' है, न 'संस्कृत', न उसके 'कपोल', 'भ्रू', 'अधर', रंगे हुए है और न उसके अंग 'सुरभित वासित' हैं। न वह उनकी तरह 'रङ्ग प्रणय' की कला में कुशल है, क्योंकि सम्मोहन, विभ्रम, अङ्ग-भङ्गिमा उसे आती ही नहीं। वह तो सरल, अबोध स्त्री है, जिसकी मांसपेशियों में दृढ़ कोमलता भरी हुई है, जिसके अवयव सुगठित है, 'उरोज' 'अश्लथ' है। उसमें न कृत्रिम रति की आकुलता है न कल्पित मनोज उसके मन को उद्दीप्त करता रहता है। सच तो यह है कि—

वह स्नेह, शील, सेवा, ममता की मधुर मूर्ति
यद्यपि चिर दैन्य, अविद्या के तम से पीड़ित

कर रही मानवी के अभाव की आज पूर्ति
अग्रजा नगरी की,—यह ग्राम वधू निश्चित्।

पन्त ने क्यों इस ग्राम-नारी की इतनी प्रशंसा की है? क्योंकि यद्यपि वह सुसंस्कृत नहीं है; पर अमानवी भी नहीं है, उसमें एक मानवी के गुण अभी मौजूद हैं, जिनको प्रकाश मे लाकर एक श्रेष्ठ, भावी मानवी की जीवित प्रतिमा ढली जा सकती है।

'कठपुतले', 'गाँव के लड़के', 'वह बुड्ढा' और 'वे आँख' कविताएँ यथार्थवादी-चित्रण की श्रेष्ठ नमूना हैं। इन कविताओं में पन्त जी ने ग्रामीण जनों का जो चित्र खींचा है वह एक लकीर की तरह पाठक के हृदय पर भी खिंच जाता है। उन्हें भुलाया नहीं जा सकता। 'ग्राम्य-युवती' और 'ग्राम-नारी' का चित्र हम देख चुके। 'गाँव के लड़के' उनसे किसी मात्रा में अधिक सुखी नहीं है। भावी-समाज के ये जीवित-स्तंभ, ये भू-धन किस प्रकार पैदा होते हैं, पाले-पोसे जाते हैं, उन्हें भावी-समाज का भार-वहन करने के लिए कैसी शिक्षा-दीक्षा मिलती है, इनका स्वरूप क्या है?

मिट्टी मे भी मटमैले तन,
अधफटे, कुचैले, जीर्ण वसन,—
× × ×
कोई खण्डित कोई कुण्ठित
कृश बाहु, पसलियाँ रेखाङ्कित
टहनी-सी टाँगें, बढ़ा पेट,
टढ़े-मेढ़े विकलाङ्ग घृणित!

हमारे वर्ग-सौन्दर्य-शास्त्री मानव की इस विकृत पौध को, अपने सौन्दर्य-जग के इस अन्तर्जगत् को देखकर क्या सिहर नहीं उठते? इन बालकों को देखकर जिनकी—

पशुओं-सी भीत मूक चितवन
प्राकृत स्फूर्ति से प्रेरित मन

जो

तृण तरुओं-से उग-बढ़, झर-गिर,
ये ढोते जीवन-क्रम के क्षण!

पन्त जी के लिए उनकी यह दुर्दशा असह्य है—

इन कीड़ों का भी मनुज बीज
यह सोच हृदय उठता पसीज,

मानव प्रति मानव की विरक्ति
उपजाती मन में क्षोभ खीज !

'वह बुड्ढा'—एक भिखारी का चित्र है। इस 'जीवन के बूढ़े पञ्जर' की सिकुड़ी चमड़ी चिमट गयी है, उसकी सूखी ठठरी से 'उभरी ढीली नसें जाल-सी' लिपटी हुई हैं, मानों एक ठूंठ पेड़ से पतझड़ में अमरबेल चिपटी हो—

उसका लम्बा डील-डौल है,
हट्टी कट्टी काठी चौड़ी
इस खण्डहर में बिजली-सी
उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी।

अपने बुढ़ापे में 'बैठ, टेक धरती पर माथा' वह सबको सलाम करता है, अपनी 'मौन त्रस्त चितवन' से वह कातर वाणी में अपना दुःख कहता है। भूखा है, पैसे पाकर वह घर चला जाता है। पन्त जी के अन्दर वह पैशाचिक छाया की तरह अपनी काली नारकीय छाया छोड़ गया! शायद दुःखों से उसमें मनुष्य मर गया है।

'वे आँखें' एक विदग्ध-कल्पना की सृष्टि हैं। बिना उन आँखों को देखे उनकी कल्पना नहीं की जा सकती। एक किसान है, जिसके लहराते खेत बेदखल हो गये हैं, जिसका जवान बेटा कारकुनों की लाठी से मारा गया है, जिसका घर-द्वार महाजन ने कुर्क करा लिया है, जिसकी बिटिया दूध न पाने से मर गई है, जिसकी लक्ष्मी-सी पतोहू कोतवाल की नृशंसता के कारण कुंए में डूबकर मर गई है—ये उसी किसान की आँखें हैं, उनमें कितने दुःख और कितनी यातनाएँ समा चुकी हैं ?

अन्धकार की गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन
भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दुःख का नीरव रोदन !
मानव के पाशव पीड़न का
देतीं वे निर्मम विज्ञापन !
फूट रहा उनमें गहरा आतंक,
क्षोभ, शोषण, संशय, भ्रम
डूब कालिमा में उनकी
कँपता मन उनमें मरघट का तम !
ग्रस लेती दर्शक को वह
दुर्ज्ञेय, दया की भूखी चितवन

झूल रहा उस छाया-पट में
युग-युग का जर्जर जन-जीवन !

और क्या वे 'आँखें' अकेली हैं ? भारत के सात लाख गाँवों में ऐसी करोड़ों 'आँखें' हमें मिलती हैं जो एक-दूसरे के दारुण दुःख की गहराई नापती रहती हैं, उनकी यह गहराई, यह कालिमा, यह मरघट का तम ही उन्हें एक साथ बाहर निकलने, ऊपर उठने के लिए विचलित, प्रेरित, आकुल कर रहा है।

'सन्ध्या के बाद' में कवि ने गाँव के बनिये का चित्र खींचा है, जो दिन-रात मेहनत करके भी गरीब है, दरिद्र है। वह बनिया अपनी दुरवस्था पर विचार करता है, सोचता है कि वह भी क्यों नहीं नगर के सेठों की तरह धनी बन जाता, महाजन बन जाता। क्या कारण है ? इस व्यवस्था में कौन-सा दोष है ? क्या कोई व्यवस्था ऐसी नहीं हो सकती जिसमें सभी सुखी हों, सभी काम करते हों, एक सामूहिक जीवन हो, कर्म और गुण के अनुसार वितरण हो, जन का जन शोषण न करते हों—आदि। इतने ही में—

टूट गया यह स्वप्न वणिक का
आयी जब बुढ़िया बेचारी
आध पाव आटा लेने,—
लो, लाला ने फिर डण्डी मारी !

यह गाँव का बनिया अपने निम्न मध्यम-वर्ग का कितना सच्चा प्रतिनिधि है ? उसके विचार कितने उदार, उसका कर्म कितना कुत्सित है, उसकी नैतिक-भित्ति कितनी डाँवाडोल है ? पन्त जी ने इन पंक्तियों में कितनी खूबी से एक समूचे वर्ग की मनोवृत्ति का व्यंग-चित्र खींच दिया है !

ग्राम-जीवन के ये कुछ दृश्य हैं, लेकिन यह केवल उसका एक पहलू है। यदि दुःख और दैन्य ही जीवन में हों तो शायद मनुष्य के लिए वह असह्य हो जाय। सदियों से दुःख और दरिद्रता, शोषण और पराधीनता-ग्रस्त ग्राम-निवासी किसान की रीढ़ अबतक टूट गई होती, लेकिन नहीं, वह आज भी जीवन से चिपटा है, गिरता है, घसिटता है, उसके अङ्ग-अङ्ग छिल जाते हैं, रक्त-स्राव से उसकी आकृति बिगड़ गई है, लेकिन उसने जीवन का दण्ड अपने हाथ से नहीं छोड़ा। अपनी यातना को सह्य बनाने के लिए उसने करुण-क्रन्दन-भरे जीवन में भी मनोरञ्जन के साधन जुटाये हैं, नृत्य और सङ्गीत ! आत्मा की क्षुधा शान्त करने के लिए ही तो नृत्य और सङ्गीत कलाएँ हैं, उत्कृष्ट कलाएँ हैं ! ऐसी कलाएँ जो मनुष्य की कल्पना को सरस और कोमल बनाती हैं, उसके कार्य में अनुराग-रति उत्पन्न करती है। जीवन-श्रम को मधुर बनाती हैं और आत्मा को एक आध्यात्मिक-भोजन प्रदान करती हैं। लेकिन ये

कलाएँ आज गाँव के निरीह, संत्रस्त मानव की आत्मचेतना कुण्ठित करने, उसके जीवन-भार को सह्य बनाने का कार्य कर रही है। तो भी ग्राम्य-जीवन को वे प्रिय है क्योंकि उनके अतिरिक्त उनके हृदय को सान्त्वना प्रदान करने का कोई अन्य साधन नहीं, उनकी जीवन-रति को प्रकट करने का कोई अन्य माध्यम नहीं। पन्त जी ने 'धोबियों का नृत्य' और 'चमारों का नृत्य' इन दो कविताओं में ग्रामीणों की इस कला का बड़ा सुन्दर और यथार्थ चित्रण किया है। 'चमारों का नृत्य' से यह भी स्पष्ट होता है कि किस प्रकार व्यङ्ग और विद्रूप का सहारा लेकर शोषित किसान अपने शोषकों के प्रति अपना प्रखर असन्तोष प्रकट करते है, और किस प्रकार उनकी इस कला, अर्थात लोकगीत लोकनृत्य के भीतर क्रान्तिकारी कला का बीज मौजूद है। इस कला में वर्ग-कला की तरह यथेष्ठ सौन्दर्य, कोमल कल्पना या सौष्ठव नहीं, लेकिन उनके 'हुल्लड़-हुरदङ्ग' मे उनका मृत-जीवन एक बार फिर जाग उठता है। 'कहारों का रौद्र नृत्य' में नृत्य का वर्णन तो नहीं है, किन्तु उस नृत्य का कवि पर जो प्रभाव पड़ा उसका आभास हमें ज़रूर मिलता है। इस नृत्य में प्रकट होने वाली 'जनमन की उच्छृङ्खल आकांक्षा', 'प्रखर-लालसा', 'जीवनोल्लास', 'उद्दाम-कामना' ने कवि पन्त को विचारमग्न कर दिया—

> वाद्यों के उन्मत्त घोष से, गायन स्वर से कम्पित
> जन इच्छा का गाढ़ चित्र कर हृदय-पटल पर अंकित
> खोल गये संसार नया तुम मेरे मन में, क्षण-भर
> जन संस्कृति का तिग्म स्फीत सौन्दर्य स्वप्न दिखलाकर
> युग-युग सत्याभासों से पीड़ित मेरा अन्तर
> जन-मानव गौरव पर विस्मित : मैं भावी चिन्तन पर !

पन्त जी जनता की इस कला को पतित, निकृष्ट और कलाहीन कहकर उसे उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखते, क्योंकि वे जानते है कि कला को यदि जीवित रहना है तो उसे वर्गों की सीमा तोड़कर सम्पूर्ण मानव-जाति की कला बनना पड़ेगा, उसे अपनी सकीर्ण परिधि को हटाकर विस्तृत और विराट् बनना होगा, और इस विस्तृत और विराट् के तत्व ग्रामीणों की इस निकृष्ट कला में निहित है। इसी कारण पन्त जी 'कहारों का रौद्र नृत्य' देखकर 'चिन्तन' में डूब गए।

इसके अतिरिक्त, पन्त जी ने गाँव के प्राकृतिक चित्र भी खींचे है। 'ग्राम श्री' 'गङ्गा', 'खिड़की से', 'रेखाचित्र', 'दिवा स्वप्न', 'आँगन से', आदि कविताओं में हमें प्रकृति-चित्र मिलते है, जो अपनी ग्रामीण विशेषता के कारण पन्त जी के पूर्व प्रकृति-वर्णनों से एकदम निराले हैं। इससे कौन इन्कार कर सकता है कि पन्त जी प्रकृति वर्णन में अन्यतम हैं ?

'ग्राम-देवता' एक सुन्दर कविता है, इसमें ग्रामरूपी देवता के विकास का चित्रण है, ग्राम-देवता जिसका बाह्य रूप आदि काल में कितना 'अभिराम' था, 'मोह मुक्त' कर जिसने मनुष्य को प्रकृति के अन्ध-प्रकोपों से उबारा था, वही ग्राम-देवता सामन्त काल में 'रूढ़िधाम' बन गया, 'अस्थिर, परिवर्तन रहित, जीवन-संघर्षण से विरत, प्रगति-पथ का विराम !' और वर्तमान काल में तो यह ग्राम-देवता केवल नाम का ही देवता रह गया, पाखण्डी, आचरणहीन, पतित, अन्धविश्वासी । इसलिए—

हे ग्रामदेव, लो हृदय थाम,
अब जन स्वातन्त्र्य युद्ध की जग में धूम-धाम
उद्यत जनगण युग क्रान्ति के लिए बाँध लाम
तुम रूढ़ रीति की खा अफीम, लो चिर विराम !

इस प्रकार पन्त जी ने ग्राम-जीवन के सभी पहलुओं पर ब्रश चलाया है। कोई अङ्ग अछूता या मलिन नहीं रहा । यह दूसरी बात है कि हम इन अङ्गों का उभार किसी अन्य प्रकार से करना चाहें, या उनमें दूसरे रङ्गों का प्रयोग करें ।

इसके अतिरिक्त ग्राम्या में 'युगवाणी' की छाया भी है, 'सौन्दर्य-कला', 'आधुनिका', 'नारी', 'मजदूरनी के प्रति', 'द्वन्द्व-प्रणय', 'उद्बोधन', 'वाणी' आदि कविताओं की भाववस्तु बौद्धिक है, उनमे इन विषयों पर कवि के वक्तव्य कविताबद्ध हैं । 'स्वीट पी के प्रति' एक सुन्दर लाक्षणिक कविता है, जिसमें 'कुलवधुओं' या वर्ग नारियों की हृदयहीनता, कृत्रिमता और अनुदारता के विरुद्ध कवि का व्यंग्य छिपा है।

'महात्मा जी के प्रति' और 'बापू' दो कविताएँ महात्मा गांधी के सम्बन्ध में हैं । इसमें सन्देह नहीं कि एक समाजवादी कवि भी महात्मा जी के व्यक्तित्व की उपेक्षा नहीं कर सकता । महात्मा जी एक महान् व्यक्ति हैं । हमारे राष्ट्रीय जीवन पर उनकी छाप स्पष्ट अंकित है । पन्त जी ने भी उनके इस महान् व्यक्तित्व को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है, लेकिन अपनी अभिनव दृष्टि से, महात्मा जी के कार्य का मूल्य आँककर—

निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अन्तिम दीप शिखोदय !
गत आदर्शों का अभिभव ही मानव आत्मा की जय,
अतः पराजय आज तुम्हारी जय से चिर लोकोज्वल !

अन्त में हम राष्ट्रीय गीतों पर विचार करेंगे । 'भारतमाता' में भारतमाता का चित्र अंकित किया गया है । 'वन्दे मातरम्' में हमें भारतमाता के एक स्वरूप का चित्र मिलता है, उसके 'सुजलाम्, सुफलाम्, सुखदाम्' स्वरूप, उसकी 'बहुबल धारणीम्' 'रिपुदल वारिणीम्', अतुलशक्ति का परिचय मिलता है । लेकिन पन्त की कल्पना की भारतमाता एक मनोरथ सिद्ध आदर्श की वन्दनीय प्रतिमा नहीं है, जिसकी वर्तमान

से कोई सङ्गति न हो। पन्त की 'भारतमाता' वास्तविक भारत की माता है, वर्ग-माता नहीं। वह उन तीस करोड़ भारतीयों की माता है, जिन्हें हम किसान-मजदूर कहते हैं, जो ग्रामों में निवास करते हैं, जो पीड़ित और शोषित हैं। पन्त की भारत-माता भी उन्हीं की तरह निर्धन और पीड़ित है, उन्हीं की तरह ग्रामवासिनी है—वह सच्ची भारतमाता की मूर्त्ति है।

भारत माता
ग्रामवासिनी !

इस भारतमाता का 'धूल-भरा मैला-सा श्यामल अञ्चल' खेतों में फैला हुआ है, 'गङ्गा-जमुना में' उसका 'आँसूजल' भरा हुआ है, वह 'मिट्टी की प्रतिमा' के सदृश 'उदासिनी' है। उसकी चितवन नत है, जिसमें दैन्य भरा है, 'अधरों' में 'चिर नीरव रोदन' है, उसका मन 'युग-युग के तम से विषण्ण' हो रहा है, आज वह अपनेही घर में 'प्रवासिनी' बनी हुई है। उसकी तीस कोटि सन्तान नग्न-तन, अर्धक्षुधित, निरस्त्र हैं मूढ़, अशिक्षित और निर्धन है, उसका मस्तक नत है। यह प्रवासिनी माँ आज तरुतल की निवासिनी बनी हुई है !

उसकी धन-सम्पदा विदेशियों के पैरों के नीचे कुचली जा रही है, उसका सहिष्णु मन धरती की तरह कुंठित हो रहा है, उसके क्रन्दन-कम्पित अधरों पर मौन हास्य है। जो पूर्णिमा के चन्द्र की तरह हास्यमयी थी वह आज 'राहुग्रसित' है !

जो कभी गीता-प्रकाशिनी थी, वह आज ज्ञान मूढ़ है !

लेकिन उसका तप-संयम आज सफल हो रहा है, अहिंसा का सुधोपम स्तन्य पिलाकर वह आज जनमन का भय निवारण कर रहा है, भव के तम का भ्रम दूर कर रही है !

वह जगजननी
जीवन विकासिनी !

पन्त जी का 'राष्ट्रगान' भी एक नयी चीज़ है, कवीन्द्र रवीन्द्र के 'जन गन मंगलदायक 'जय हे, भारत भाग्य विधाता', के समान ही श्रेष्ठ राष्ट्रगान है। पन्त का राष्ट्रगान वास्तव में भारत की स्वातन्त्र्य-संघर्ष निरत शोषित जनता का सामूहिक गान है। यद्यपि भाषा क्लिष्ट है, जैसी 'वन्दे मातरम्' में है परन्तु उसके अन्दर छिपी भारत की कल्पना अत्यन्त भव्य है। पन्त की कल्पना का भारत उन उच्च वर्गों का भारत नहीं है जो राष्ट्रनीति के संचालक हैं, वरन् जनता का भारत है—उस जनता का भारत जो जाग्रत एवं वर्ग-चेतना से संघर्ष-प्रिय है। उसकी वन्दना करने वाले भी भारत के श्रमजीवी सुत ही हैं। तभी—

जन भारत हे
जाग्रत भारत हे
कोटि-कोटि हम श्रमजीवी सुत
संभ्रम युत नत हे !

इस जन-भारत का 'इन्द्र चाप मत' तिरङ्गा झण्डा है, तो श्रमजीवियों का 'रक्त ध्वज' भी उस पर फहराता है। इन दोनों झण्डों में कोई विरोध नहीं है क्योंकि वे दोनों भारतीय जनता की आकांक्षाओं के प्रतीक हैं।

इस राष्ट्रगान द्वारा भारतीय जनता की अपनी आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने वाली ध्वनि मुखरित हो उठती है—

जाति धर्म मत, वर्ग श्रेणि शत
रीति नीति गत हे
मानवता हैं सकल समागत
जन मन परिणत हे
वर्ग मुक्त हम श्रमिक कृषक जन
चिर शरणागत हे
जन भारत हे
जाग्रत भारत हे

इस राष्ट्रगान का एक-एक शब्द सांकेतिक है, और अब तक हमारे विचारकों ने स्वतन्त्र भारत की जितनी भी कल्पनाएँ की हैं, उन सबसे ज्यादा जन-हितकारी आदर्शपूर्ण कल्पना पन्त के राष्ट्रगान में हमें मिलती है।

ग्राम्या पन्त जी की अनुपम कृति है।

—मार्च १९३९

२०

मधूलिका, अपराजिता और किरणवेला

"रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल' नवीन हिन्दी काव्य का क्रान्तिदूत है। मैं उसे क्रान्ति का स्रष्टा भी कह सकता हूँ, यदि स्रष्टा शब्द से केवल सृजनकर्ता का आशय हो। ..."

"क्रान्ति उसने की है छायावाद की मानवीय किन्तु अशरीरी सौन्दर्य-कल्पना के स्थान पर अपनी मांसल कृतियों द्वारा।......इस क्रान्तिदूत का सन्देश है तृष्णा, लालसा, प्यास। तृष्णा सौन्दर्य की, लालसा रूप की, प्यास प्रेम की। सौन्दर्य नारी का, रूप व्यक्त, प्रेम-विनाशी अथवा जो विनष्ट हो चुका है। पूछा जा सकता है कि क्या यह कोई नया क्रान्तिकारी सन्देश है?"—नन्ददुलारे वाजपेयी (अपराजिता की भूमिका में)

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने जिस प्रश्न की पाठकों से आशा की है उसका उत्तर वे अपनी भूमिका के पहले वाक्य में ही दे चुके हैं। उसी को उन्होंने हिन्दी काव्य की परम्परा के क्रम-विकास की विशद व्याख्या करके तर्क-संगत साबित करने की कोशिश की है। अर्थात् यह दिखाया है कि छायावाद की अशरीरी भावनाओं की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में ही अञ्चल की कविता में स्थूल की तृष्णा और लालसा जागरित हुई है। यह एक नैसर्गिक विकास है और इसी कारण क्रान्तिकारी है।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के तर्कों से पाठकों को अवगत करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि वाजपेयी जी ही हिन्दी के पहले अधिकारी आलोचक हैं जिन्होंने अञ्चल की कविताओं को न केवल सहानुभूति प्रदान की, जब कि उनके ही शब्दों में "इस विद्रोही के 'गदले गीत' अरुचिकर हो रहे थे", बल्कि इस तथ्य का अन्वेषण भी किया कि अञ्चल की कविता में क्रान्ति का सन्देश है, और अञ्चल क्रान्ति का अग्रदूत है। 'अपराजिता' से पूर्व 'मधूलिका' प्रकाशित हुई थी, और उसके भूमिका-लेखक श्री विनयमोहन शर्मा ने 'अञ्चल' की कविता के क्रान्ति-तत्त्व की ओर कहीं संकेत नहीं किया; उन्होंने केवल इतना ही स्वीकार किया कि 'अञ्चल' की कविता में 'यदि एक ओर यौवन का प्रचण्ड, निर्बन्ध प्रवाह है तो दूसरी ओर है अनुभूति की विचारोत्तेजक आँधी।' लेकिन वाजपेयी जी ने जब अञ्चल की कविता में क्रान्ति-तत्त्व की अवस्थिति स्वीकार की तो नये आलोचकों, विशेषकर प्रगतिवादी आलोचकों के लिए मार्ग साफ़ हो गया और वे अपनी आलोचनाओं में वाजपेयी जी से भी आगे बढ़ गये।

क्योंकि जो कुछ भी हो, वाजपेयी जी ने अपनी व्याख्या में यह स्पष्ट कर दिया था कि 'अञ्चल' की कविता का क्रान्ति-तत्त्व हिन्दी-कविता में अभिव्यक्त भावनाओं के क्रम-विकास के तर्क से ही निरूपित है। वास्तव में क्रान्ति क्या है, दार्शनिक अथवा सामाजिक दृष्टि से क्रान्ति की भावना क्या है, और क्या 'अञ्चल' की कविता उन भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है, इन मापदंडों से उन्होंने जाँच नहीं की थी। कदाचित् वाजपेयी जी इन कसौटियों पर अञ्चल की कविता को जाँचना भी नहीं चाहते थे। अतः हिन्दी-कविता के विकास-क्रम के चौखटे के अन्दर रखकर ही उन्होंने अञ्चल को क्रान्ति का अग्रदूत कहा था। लेकिन वाजपेयी जी ने यदि हिन्दी काव्य-परम्परा द्वारा निरूपित सीमाओं में बाँधकर तृष्णा, लालसा, प्यास की प्रतिक्रिया को क्रान्तिकारी कहा था, तो नये आलोचक इन सीमाओं का विचार न करके केवल 'क्रान्तिकारी' शब्द से प्रभावित हो गये और वे अञ्चल की कविता के साथ 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग उन अर्थों में करने लगे जिन अर्थों में उसका प्रयोग समाज-शास्त्र में अथवा आमतौर पर राजनीति में किया जाता है। परन्तु समाज-शास्त्र या राजनीति में क्रान्ति का अर्थ समाज में बहुत व्यापक और बुनियादी परिवर्तनों का सूचक होता है और अञ्चल की कविता क्या वास्तव में इन परिवर्तनों की आवश्यकता के प्रति सचेत है, यदि है तो कहाँ तक और कैसे है, इस दृष्टि से आलोचकों ने जाँच नहीं की। परिणाम यह हुआ कि यद्यपि अञ्चल की कविता की प्रशंसा में अन्य किसी प्रतिभावान तरुण कवि की अपेक्षा अधिक लिखा गया है, किन्तु आज भी "इस विद्रोही कवि के 'गदले गीत' अरुचिकर हैं।" और स्वयं अञ्चल इस बात को जानते हैं। कारण स्पष्ट है कि आलोचकों ने अञ्चल के काव्य के विकास-क्रम को स्पष्ट रूप से समझने की चेष्टा नहीं की और न उनके काव्य की अपेक्षा में क्रान्ति-तत्त्व की जाँच ही की। फलतः पाठकों की स्मृति में 'मधूलिका' और 'अपराजिता' के अञ्चल की अभिव्यक्तियाँ ही प्रबल हो उठती हैं, और 'किरणवेला' या उसके बाद की कविताओं के नये घुमाव दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। और, जब प्रशंसक आलोचक नयी कविताओं की कुछ पंक्तियों के आधार पर अञ्चल को क्रान्ति का अग्रदूत या क्रान्ति का स्रष्टा कहते हैं, और अञ्चल की काव्यधारा की अभिव्यक्तियों का अस्तित्व भी नहीं स्वीकार करते, तब पाठकों के हृदय में यह बात नहीं उतरती। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने, काव्य-परम्परा की सीमाओं के अन्दर बाँधकर ही सही, अञ्चल के तृष्णा, लालसा और प्यास के आदर्श को सामाजिक दृष्टिकोण से न जाँचकर जो स्वीकृति प्रदान की और उससे तर्कहीन प्रशंसा की जो परिपाटी चल पड़ी, उसने अञ्चल की काव्य-प्रतिभा के विकास को गहरा धक्का पहुँचाया, और उन्हें अपने काव्य की कलागत त्रुटियों और दृष्टिकोण की संकीर्णताओं के प्रति बेखबर कर दिया। इससे हानि अधिक हुई लाभ कम, क्योंकि

यदि अञ्चल की कविता के विकास-क्रम को देखा जाय तो यह ज्ञात होता है कि उनमें चेतना का विकास अभी एकांगी ही हुआ है। वे एक दिशा में तो काफ़ी आगे बढ़े हैं, लेकिन दूसरी दिशाओं में वे अपनी पहली जगह पर ही हे, और इससे पाठकों के हृदय का द्वन्द्व दूर नहीं हो पा रहा। आलोचक जो कहते है पाठक उस पर विश्वास नहीं कर पाते। आलोचकों को इस विषम परिस्थिति को समझने की चेष्टा करनी चहिए, ताकि उनके वक्तव्य ऐसे न हों जो कवि को भी भ्रम मे रखे और पाठकों को भी और कवि का विकास ही रोक दें।

वाजपेयी जी का यह कथन सत्य है कि अञ्चल अभी मार्ग में है। इस कारण और भी आलोचकों को उन्हें सिद्ध-प्राप्त कवि के रूप मे पेश कर उनके आगे बढ़ते क़दमों को रुक जाने की प्रेरणा नहीं देनी चाहिए।

अञ्चल के तीन कविता-संग्रह अभी तक प्रकाशित हुए हैं, जिनका उल्लेख प्रारम्भ में ही हो चुका है। उनकी सारी कविताएँ पढ़ जाने के बाद तीन प्रश्न उठते हैं—नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण क्या है? उनके काव्य में भावनाओं की गहराई, अभिव्यक्ति की परिष्कृति कितनी है? और उनमे काव्य-गत सौन्दर्य कैसा है? पहले दो प्रश्न अञ्चल के विरोधी और समर्थक आलोचकों के कथनों से भी प्रेरित हे, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उनकी व्याख्या अञ्चल के काव्य से ही सम्बन्ध रखती है।

नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण क्या है? नारी के प्रति इसलिए कि उनकी अधिकांश कविताओं में नारी को लक्ष्य करके ही तृष्णा, लालसा, प्यास का आदर्श निरूपित हुआ है। छायावाद की अशरीरी भावनाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया नारी के प्रति उनके दृष्टिकोण के रूप में ही सब मे पहले व्यक्त हुई। इस दृष्टिकोण की जाँच श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की तरह काव्य-परम्परा के क्रम-विकास की दृष्टि से ही करना त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि इस तरह केवल इतना ही साबित किया जा सकता है कि यह दृष्टिकोण एक प्रतिक्रिया है और इसमें नवीनता है। नारी के प्रति काव्य में एक नये दृष्टिकोण की स्थिति को स्वीकृति प्रदान करने के अतिरिक्त वाजपेयी जी की प्रणाली से अधिक प्रकाश नहीं पड़ सकता था। परन्तु नारी एक सामाजिक प्राणी है, और उसके प्रति कोई भी दृष्टिकोण कतिपय सामाजिक सम्बन्धों का निर्देष करेगा और ये सामाजिक सम्बन्ध कहाँ तक उचित-अनुचित हैं, सामाजिक विकास में अवरोधक या सहायक है, इसकी जांच किये बिना निर्णय नहीं किया जा सकता कि कोई दृष्टिकोण क्रान्तिकारी है अथवा नहीं। अञ्चल के पाठक अपने रूढ़ संस्कारों की चेतना से उनके नारी के प्रति दृष्टिकोण की जाँच करते हैं, और उसे अनुचित मानते हैं, जब कि उनके प्रशंसक आलोचक अत्यन्त संकुचित मापदंड का प्रयोग करके इस

प्रश्न को टाल देना ही उचित समझते रहे हैं। अतः यह विरोधी परिस्थिति है। वाजपेयी जी ने अपनी भूमिका में एक जगह संकेत किया है कि 'यौवन सुलभ सौन्दर्य की लालसा जहाँ वह सौन्दर्य तक ही सीमित है, भोग नहीं है। यदि उसमें पर्याप्त निस्संगता है तो वह काव्य का आभूषण ही है।' आगे उन्होंने कहा कि 'सस्ती अनैतिक उत्तेजना वस्तुवादी (?) साहित्य का' दूषण है। इन दो कसौटियों पर उन्होंने अञ्चल की कविता को जाँचने की कोशिश नहीं की, उन्होंने भी इसे टाल दिया है। वैसे भी 'भोग' और 'अनैतिक' की व्याख्या नहीं की है, और इन कसौटियों की सत्यता के बारे में बहस की गुञ्जाइश रह जाती है। अतः नारी के प्रति अञ्चल के दृष्टिकोण को जाँचने में आलोचकों ने जो हिचकिचाहट दिखाई है, उससे अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो गई हैं।

'हंस' की एक टिप्पणी में मैंने यह स्वीकार किया था कि अभी तक नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण अपमानजनक रहा है। कई मित्रों ने रोषपूर्ण पत्र लिखे कि शायद मेरा सिर फिर गया है जो मैं प्रतिक्रियावादियों के साथ समझौता कर रहा हूँ, या कम-से-कम उन्हें अञ्चल की कटु आलोचना करने का प्रोत्साहन दे रहा हूँ। स्वयं अञ्चल को मेरा कथन कटु लगा। लेकिन निष्पक्ष आलोचना का वातावरण यह नहीं है, और इसी दूषित वातावरण ने अञ्चल की प्रगति को बहुत कुछ रोका है। 'अपमानजनक' के स्थान पर यदि 'संकीर्ण' लिखता तो कदाचित् किसी को आपत्ति न होती। अतः नारी के प्रति अञ्चल के दृष्टिकोण को जाँचना आवश्यक है।

वाजपेयी जी ने भूमिका में लिखा है, 'स्त्री पर्दे की वस्तु या छायात्मक भाव-संकेतों की पात्री न रहकर सामाजिक प्राणी के रूप में प्रतिष्ठा पा रही है, यह अञ्चल के काव्य से सुस्पष्ट हो जाता है ...' अञ्चल के काव्य की नारी क्या वास्तव में सामाजिक प्राणी है? 'मधूलिका' और 'अपराजिता' की सभी कविताओं में नारी के साथ अञ्चल ने जिस सामाजिक सम्बन्ध की कल्पना की है वह केवल यौन-सम्बन्ध है।

> एक पल के ही दरस में जग उठी तृष्णा अधर में
> जल रहा परितप्त अङ्गों में पिपासाकुल पुजारी
>
> —(अन्तर्गीत : मधूलिका)

'मधूलिका' की अधिकांश कविताओं में उद्दीपन का एक ही वातावरण रहता है, प्रकृति भी निर्बंध यौन-सम्बन्ध का विराट आयोजन है :

> केलि-कलानत नव लतिकाएँ लिपट-लिपट तरु-तरु से
> रभस-विभासित-आत्मशिथिल-सी विकल हुई रति-मुख में
>
> —(मधु का पापी : मधूलिका)

और इस 'इन्द्रजाल' के कारण निर्बंध पिपासा छिपाये छिपती ही नहीं—

कौन जलाता रन्ध्र रन्ध्र में उच्छल रति-गति रस की,
अभी नहीं संतोष अभी तो अमित पिपासा बाक़ी,

और इस अनियन्त्रित तृष्णा का परिणाम है कि कवि बलात्कार के लिए भी तत्पर हो जाता है :

आज सोहाग हरूँ किसका लूटूँ किसका यौवन,
किस परदेसी को बन्दी कर सफल करूँ यह वेदन?

—(आज तो : मधूलिका)

और मिलन-वेला में तो प्यास बुझती ही नहीं—

अभी बहुत बेहोश-शिथिल होना, सुध-बुध खोना है !
अरे, अभी तो उस अनन्त आलिङ्गन में सोना है !!

—(मेरे भोले साक़ी : मधूलिका)

इस प्रकार मधूलिका में तृष्णा, लालसा और प्यास का आदर्श स्त्री के साथ केवल अनियत्रित, निर्बंध यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का आदर्श है। कवि के किसी अन्य कार्य-व्यापार में वह सहयोग-असहयोग करती नहीं दीखती। यहां तक कि मधूलिका की अन्तिम कविता 'आज मरण की ओर' में जब कवि संघर्ष या क्रान्ति की ओर बढ़ते 'भूखे-प्यासे' लोगों का चित्र खींचता है तो उस चित्र में भी भूखे पेट को भरने के लिए स्त्री अपने रूप का व्यापार ही करती है, अपना पेट भरने का उसके पास और कोई सामाजिक साधन नहीं है; स्त्री के ऊपर समाज यदि अत्याचार करता है तो वह भी अनियंत्रित यौन-सम्बन्ध का ही क्रय करके।

'अपराजिता' में नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण किंचित परिष्कृत रूप में वही है जो 'मधूलिका' में है। प्रेमी और ग्राहक दोनों स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध ही स्थापित करते हैं, स्त्री दोनों के लिए केवल योनि-मात्र ही है। प्रेम-मिलन में अथवा अत्याचार की चक्की में, दोनों स्थितियों में पड़कर उसे पुरुष की तृष्णा ही बुझानी पड़ती है। यहाँ तक कि प्रेमी भी उसके साथ अन्य किसी प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध नहीं स्थापित करना चाहता। यह दृष्टिकोण संकीर्ण तो है ही, अपमानजनक भी है। यदि किसी संभ्रांत, शिक्षित, नये स्वतन्त्र विचारों की महिला से पूछा जाय तो वह भी पुरुष के साथ केवल अनियंत्रित यौन-सम्बन्ध ही स्थापित करना न चाहेगी, और ऐसा किया जाना उसे अपने नारीत्व का अपमान लगेगा, क्योंकि नारी एक सामाजिक प्राणी है, और पुरुष के साथ उसके सुख-दुःख, उत्थान-पतन और संघर्ष में कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना चाहती है। आज यदि नारी परतन्त्र है, तो केवल यौन-स्वातन्त्र्य देने से उसे स्वतन्त्र नहीं किया जा सकता।

'किरणवेला' में भी नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण मूलतः वही है

जो पहले था। इसे उन्होंने स्वयं अपने प्राक्कथन 'मैं—अब तक' में स्वीकार किया है—'जहाँ मैं बहक गया हूँ वहाँ मेरी दुर्बलता है—जीवन के क्षयी रोमांस के प्रति अवांछनीय आसक्ति है।' एक प्रतिष्ठित कवि के मुख से निकले ये शब्द महत्त्व रखते हैं। क्योंकि, कवि अपने प्रशंसक आलोचकों की अपेक्षा अधिक ईमानदारी से अपनी जिम्मेदारी को महसूस करने लगा है। उन पाठकों को भी जो अन्य रूढ़ कारणों से अञ्चल की कविता को अरुचिकर मानते हैं, कवि के इस वक्तव्य पर विचार करना चाहिए। कवि स्वयं अपने पुराने दृष्टिकोण को अनुचित मानने लगा है, और यह साधारण बात नहीं है। अभी कवि उस दृष्टिकोण को पूरी तरह बदल पाया है या नहीं, यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि हम जानते हैं कि अभी तक वह इसमें सफल नहीं हुआ है लेकिन वह प्रयत्नशील है, इस बात को भूल जाना कवि के साथ अन्याय करना है।

यह 'क्षयी रोमांस' जिसके प्रति अञ्चल ने संकेत किया है, छायावाद की ही विकृति है। छायावाद मे यदि अशरीरी भावनाओं द्वारा आध्यात्मिक आधार देकर प्रेमाभिव्यक्ति की गई थी, और अञ्चल के काव्य मे स्थूल इन्द्रियता के रूप में, तो इससे दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं हो जाता। छायावाद की अशरीरी भावनाएँ भी असन्तोष को व्यक्त करती हैं, अन्यथा सामाजिक प्रतिबन्धों को स्वीकार कर भावनाओं मे जीवन की वास्तविकता से भागने का उपक्रम न होता। मानसिक विशृंखलता इसका परिणाम है। अञ्चल का असन्तोष सामाजिक प्रतिबन्धों और जिम्मेदारियों को ठुकराकर व्यक्त होता है। सामाजिक विशृंखलता या अराजकता इसका परिणाम है। वर्तमान सामाजिक विषमताओं और प्रतिबन्धों के प्रति विद्रोह की शृंखला के ये दो छोर है, शृंखला एक ही है। अतएव नारी के प्रति अञ्चल का अब तक का दृष्टिकोण किसी नये क्रान्तिकारी सन्देश की घोषणा नहीं करता। 'किरणवेला' मे इस 'क्षयी रोमांस' की अन्तिम विकृति भी देखने मे आती है। नारी यहाँ अब वर्ग-समाज की प्राणी भी है, मजदूरिन या भिखारिन! और शोषण और दोहन के बीच पली इस नारी के जननी-रूप को कवि घृणा की दृष्टि से देखता है, उसकी बेडौल आकृति उसे और भी भद्दी लगती है, क्योंकि उन्मुक्त रोमांस की कल्पना की नारी सदैव अप्सरा-जैसी सुन्दर और यौवन-मदमाती होती थी। इसी कारण गर्भिणी स्त्री के ये चित्र :

पेट में भरा एक दूसरा माँस पिंड हड्डियो का निचोड़।

या

उलटा टँगा है अति पीड़क झुकावन
काल का कठोर अत्याचार देखो इसकी कमर मे!

नारी की दुर्गति करने वाले समाज के शोषकों की अञ्चल ने इस कविता में भर्त्सना की है, लेकिन नारी के मातृत्व के प्रति घृणा भी दिखाई है। और यह 'क्षयी रोमांस' की विकृति है जो स्त्री-पुरुष के बीच केवल यौन-सम्बन्ध को ही स्वीकार करता है।

नई कविताओं में नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण बदला है, यद्यपि पुराना दृष्टिकोण पीछा करता है।

'किरण-वेला' में आकर अञ्चल की कविता में एक नये दृष्टिकोण की सूचना मिलती है, और यह दृष्टिकोण प्रगतिवाद का है जिस पर मार्क्सवाद का प्रभाव है। लेकिन जब तक जीवन के प्रति समूचा दृष्टिकोण न बदल जाय तब तक उसमें प्रौढ़ता नहीं आ पाती। अञ्चल की 'किरणवेला' की कविताओं से भी यह स्पष्ट है। 'क्षयी रोमांस' की स्मृतियाँ तो प्रबल हो ही उठती है, वर्ग-संघर्ष की चेतना पा जाने पर भी क्रान्ति और जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण एक रोमांटिक क्रांति-कारी का ही रहता है। इसी कारण 'सर्वहारा' और 'शोषिता' के प्रति अपनी सहा-नुभूति व्यक्त करके भी कवि अकेला है, व्यग्र है, मगर 'मरण त्यौहार' नहीं आता।

'किरणवेला' के बाद की कविताओं में अञ्चल अपने दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाते जा रहे हैं।

अब हम संक्षेप में अञ्चल के काव्य के कलागत सौन्दर्य पर विचार करेंगे। भावनाओं की व्यापकता, तीव्रता और गहराई कविता में अपेक्षाकृत अधिक स्थायी सौन्दर्य की सृष्टि करती है। 'मधूलिका' और 'अपराजिता' की कविताएँ सीमित दृष्टिकोण के कारण भावनाओं के संकुचित चौखटे में ही समा जाती हैं। अधिकांश कविताएँ शब्दों के परिवर्तन के साथ अपने को दुहराती हैं प्रारम्भ में प्रकृति द्वारा नियोजित उद्दीपनों का जमघट, उसके उपरान्त कवि के मानस में विरह-वेदना की टीस का उठना और तृष्णा और लालसा का उमड़ पड़ना। यह वस्तु (Content) किरणवेला तक की कविताओं में बार-बार सामने आती है, और इसी कारण 'अन्त-र्गीतों' की भरमार है। कारण, नारी के साथ केवल यौन-सम्बन्ध की कल्पना है, और यह यौन-सम्बन्ध विशेष उद्दीपन द्वारा ही व्यक्त और सुलभ होता है। 'किरणवेला' में यदि अञ्चल की प्रतिभा नये मार्ग पर न मुड़ती तो कदाचित् अपने को बार बार दुहराकर शुष्क हो जाती। इस कारण व्यापक दृष्टिकोण का अभाव यदि पहली दो काव्य-पुस्तकों में खटकता है, तो 'किरणवेला' में आकर नये सीमांत नजर आते हैं, और एकरसता टूटती है। परन्तु अभी इन नये सीमांतों की परिधि-रेखाओं को और भी विस्तार देने की आवश्यकता है, अनुभव की गहराई और व्यापकता द्वारा।

कविता का सबसे बड़ा गुण है संक्षेपण द्वारा भावनाओं की अभिव्यक्ति।

बिना इसके, कविता के भावात्मक प्रभाव शिथिल और विशृंखल हो जाते हैं। अञ्चल की कविता में ऐसा परिमार्जन अभी तक दिखाई नहीं पड़ रहा। यही कारण है कि इतनी प्रतिभा का कवि होते हुए भी उनकी कविताएँ किसी कोटि के पाठकों की ज़ुबान पर नहीं चढ़ पातीं, अर्थात् उनका संगीत, उनकी शब्द-ध्वनि संक्षेपित भावात्मक प्रभावों द्वारा संगठित नहीं होती कि अनायास ही पाठकों के कानों में गूंज उठे और पंक्तियां या कविताएँ स्मृति में घर बनालें। अञ्चल स्वयं इस त्रुटि का अनुभव करने लगे हैं, यह उनके भावी विकास के लिए शुभ लक्षण है। शब्द योजना और भावाभिव्यक्ति प्रभावपूर्ण और प्रसादगुणयुक्त होने से ही काव्य का सौन्दर्य बढ़ता है, अञ्चल अब तक इस ओर अधिक सचेष्ट नहीं रहे। परन्तु अञ्चल विकास-पथ पर हैं, अभी उनकी यात्रा का आरम्भ ही है, अतः प्रारम्भिक त्रुटियों का मार्जन उनके विकास को अधिक गति ही प्रदान करेगा।

—मई १९४२

२१

प्रात-प्रदीप और ऊर्मियाँ

आधुनिक हिन्दी कवि की अपनी अनेक अक्षमताएँ हैं। अपनी प्रतिभा के विकास के लिए उसे जो सामाजिक परिवेश मिला है वह किसी भी प्रकार उसके प्रति, उसकी कला के प्रति सहृदय नहीं है। इसी कारण अधिकांश कवि, जो सामाजिक प्रगति के ऐतिहासिक पहलू से अनभिज्ञ हैं, समाज के इस विरोधी वातावरण को एक चिरंतन स्थिति मान लेते हैं। यह स्वाभाविक भी लगता है, क्योंकि सामाजिक जीवन की आज तक की परम्परा भी तो बहुत-कुछ ऐसी ही रही है, और वह प्रत्येक मनुष्य के संस्कारों में पैठकर उसकी भावनाओं को, उसकी बाह्य और आन्तरिक प्रतिक्रियाओं को अपने ही अनुरूप ढालती आई है; फिर कवि तो भावनाओं की दृष्टि से अत्यन्त संश्लिष्ट कोमलता का केन्द्र अपने में विकसित किये होता है। अतः उसकी प्रतिक्रियाएँ कोमती होती हैं, चाहे वह इस सामाजिक परिवेश के सम्मुख नतमस्तक रहे या उसका विरोध करे। आज के अधिकांश कवि निराशावादी हैं, तो उसका यह अर्थ नहीं कि वे असन्तोष की अभिव्यक्ति नहीं करते—संतुष्ट व्यक्ति निराशावादी कैसा? अतः हमें निराशावादी कवियों के व्यक्तिगत उद्‌गारों का भी सामाजिक आधार ढूँढ़ना चाहिए, व्यक्तिगत उद्‌गार भी समाज-प्रभावित होते हैं और निराशापूर्ण-उद्‌गार क्या यह स्पष्ट नहीं करते कि वह समाज कैसा है जो व्यक्ति के अन्दर ऐसी अस्वस्थ विकृतियाँ उत्पन्न करता है? श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की कविताएँ इसी दृष्टि से वर्तमान समाज की कड़ी आलोचना हैं। वैसे कहने को कहा जा सकता है, और कहना अनुचित भी न होगा कि 'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्मियाँ' की अधिकांश कविताएँ प्रगतिशील नहीं हैं, और वे छायावाद की ही परम्परा में आती हैं। 'ऊर्मियाँ' में आकर 'अश्क' छायावाद के दायरे से निकलते दिखाई ज़रूर पड़ते हैं, लेकिन अभी तक वे उस दायरे से एकदम बाहर नहीं आ पाये हैं। और छायावाद की परम्परा के कवि होने के कारण 'अश्क' की कविताओं की सीमाएँ भी छायावाद की हैं, उनकी शहज़ोरियाँ और कमजारियाँ भी छायावाद की हैं। अर्थात् उनकी निराशा की अभिव्यक्ति में गहराई है, हृदय को द्रवीभूत करने की शक्ति है लेकिन एक व्यापक दृष्टिकोण का अभाव है, ऐसे दृष्टिकोण का जो नित्यप्रति के जीवन की आशा और निराशा उत्पन्न करने वाली घटनाओं के आर-पार देख सके। 'अश्क' की कविताओं में कवित्व है, हृदय की निगूढ़ भावनाओं को सरल, स्वाभाविक ढङ्ग से व्यक्त करने

की क्षमता है, और उनकी कला महादेवा जी की कला की तरह सूक्ष्मदर्शी और प्रौढ़ भी है। अतः यदि 'अश्क' की इन दो कविता-पुस्तकों की अधिकांश कविताएँ सामान्य अर्थ में प्रगतिशील नहीं है, तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनमें कवित्व की कमी है या हृदय को स्पर्श करने की शक्ति और कल्पना की ऊँची उड़ान नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनमें सौन्दर्य और सत्य का अभाव है। छायावाद की या पिछले किसी भी युग की कविता के विषय में ऐसा कहना असंगत और संकुचित मनोवृत्ति का परिचय देना होगा। यदि ऐसा होता तो वह हमारे हृदय को स्पन्दित न करती। छायावाद, या यहाँ पर 'अश्क' की कविता को कहाँ से सौन्दर्य और सत्य प्राप्त हुआ है ? वर्तमान समाज की असंगतियों से, जिसने प्रत्येक मनुष्य का जीवन अनिश्चित बना दिया है, जिसने उसके व्यक्तित्व के विकास के द्वार बन्द कर दिये है, जिसने उसका भावनाओं को एक ऐसे ढाँचे मे ढाल दिया है कि उसका स्पन्दन समाज-विरोधी दृष्टिकोण को जन्म देता है। और चूँकि प्रत्येक व्यक्ति इन चारों दिशाओं की विषमता का अनुभव करता है, इस कारण छायावादी कवियों के नैराश्यपूर्ण उद्गार और पलायनवादी वृत्तियां उसे सुखकर लगती है, सत्य लगती है। और, हमारे वर्तमान समाज-सम्बन्ध इन विषमताओं को असली जामा पहनाकर उनकी अभिव्यक्ति को सौन्दर्य प्रद न कर देते है। इस प्रकार छायावाद की कविता में हमें सौन्दर्य और सत्य दोनों दिखाई देते है, यद्यपि ये दोनों आधुनिक समाज द्वारा निरूपित है, अतएव सीमित है। इस दृष्टि से 'अश्क' की कविताओं को इस विषमता की सुन्दर अभिव्यक्ति कह सकते है। और मुझे खुशी है कि कहीं-कहीं इस अभिव्यक्ति मे इतनी स्वस्थता भी है जो 'अश्क' को नयी दृष्टि, नये सौन्दर्य-मूल्यों और नये सत्यों के आँगन में खींच ले जाय—कला की प्रौढ़ता के साथ।

कविताओं के कुछ टुकड़ों की बानगी दिखाकर यह सिद्ध करना आसान काम है कि देखिये 'अश्क' की कविताएँ कितनी मधुर है, उनमे कैसी सरल अभिव्यक्ति है, भावों का कैसा हृदय-स्पर्शी स्रोत बहा है, या कि वे ऐसे सुन्दर चित्र देती है कि मन मुग्ध हो जाता है। मै यह सब नहीं करूँगा, क्योंकि इतना कहना काफी समझता हूँ कि दोनों कविता—पुस्तकें अनेक ऐसी ही पुस्तकों की अपेक्षा अधिक ऊँचे स्तर की है, और पाठक उन्हें पढ़कर उनकी कला से निराश न होगा। मै यहाँ पर यह समझने की चेष्टा करूँगा कि इन पुस्तकों में व्यक्त 'अश्क' का प्रेम के प्रति दृष्टिकोण कितना स्वस्थ या अस्वस्थ है, क्योंकि 'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्मियाँ' की अधिकांश कविताएँ प्रेम-सम्बन्धी है और इस जांच से कवि और पाठक दोनों को लाभ होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। यहाँ इसकी आवश्यकता इसलिए भी है कि 'अश्क' के अपने व्यक्तिगत जीवन के उतार-चढ़ाव की, उसके भाव-अभाव की झलक हमें इन कविताओं में मिलती

है। और, इस कारण अन्य कवियों की अपेक्षा 'अश्क' की कविताओं में अधिक सच्चाई है। तात्पर्य यह है कि यदि 'अश्क' को विरह-वेदना सहन करनी पड़ी है तो उन्होंने अपने काव्य में आँसू बहाये हैं, और यदि पुनः उनके जीवन में प्रेम का स्पर्श हुआ है तो वे पुलकित और उल्लसित भी हुए हैं और इस रोदन और उल्लास ने प्रेम के प्रति उनके दो दृष्टिकोण विकसित किए हैं, जिनके कारण उनकी कविताओं में कम-से-कम व्यक्तिगत सच्चाई तो आ ही गई है। छायावाद के अनेक कवियों की तरह वे निरन्तर अश्रुओं का व्यापार ही नहीं करते रहे हैं, यह उनकी कविता की शक्ति है।

'प्रात-प्रदीप' 'अश्क' की स्वर्ग-गता पत्नी शीला को समर्पित है और उसमें १९३६ से ३७ तक की कविताएँ ही संग्रहीत हैं। उनकी जीवन-संगिनी के वियोग का शोक इन कविताओं में छाया हुआ है। 'प्रात-प्रदीप' कवि का ही प्रतीक है, जो 'विहान' में अपना 'अवसान' देख रहा है। 'अश्क' के अन्दर इस 'अवसान' के समय भी एक चेतना है—

इतना क्या कम था तुम आईं,
उड़ते-से पक्षी की नाईं,
चार घड़ी को जीवन लाईं
जड़ता गति होकर बह निकली
उत्फुल्लित अविराम !

अर्थात् प्रियतमा के मिलन और प्रेम में जीवन लाने और जड़ता को गति देने की शक्ति है। और कवि व्यक्तित्व का विकास करने वाले इस प्रेम से वंचित नहीं होना चाहता, अतः उसकी आत्मा चीख़ उठती है—

चल दोगी कुटिया सूनी कर
इसी घड़ी इस याम !

लेकिन कवि की यह स्वस्थ चेतना, जिसमें दो प्रेमियों का मिलन दोनों के व्यक्तित्व के विकास का कारण समझा जाता है, जीवन की विषमता से कुण्ठित हो जाती है, और कवि में एक मिथ्या-सत्य का आभास देने वाली चेतना जग जाती है—

समझाता हूँ अपने दिल को,
माँग न पागल प्यार !

× ×

क्या रक्खा है मनुहारों में,
क्या आतुर अभिसार ?
एक क्षणिक सुख उसके पीछे,
दुख का वारापार !

पहले दृष्टिकोण से यह दृष्टिकोण भिन्न है। अस्वस्थ है। इसके पीछे रूढ़ि-ग्रस्त मध्यकालीन मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रिया है, जो उसे मृत्यु देखकर होती थी और उसे भयभीत कर जीवन को माया और भ्रम समझकर, उससे भागकर बनों में तपस्या और उपासना करने को प्रेरित करती थी। उस पलायन में जिस प्रकार चिर-जीवन की आकांक्षा के पीछे मनुष्य की निस्सहायता और भय का भाव था, उसी प्रकार आज के मनुष्य के इस पलायन या प्रेम और सुख के क्षणों को क्षणकालिक मानने की वृत्ति के पीछे सामाजिक प्रतिबन्धों से उत्पन्न जीवन की अनिश्चितता के प्रति भय और कुण्ठा का भाव है। कवि इस अनिश्चितता की अवस्था को चिरंतन मानकर उसके आगे घुटने टेक देता है और यहीं से उसकी भाव-प्रतिक्रियाएँ विकृत होने लगती हैं। वह गाता है—

भला न मेरे सुख-सपनों को
होने दो साकार!
रोको नहीं अश्रुओं का पर,
पागल पारावार

विरह और आँसुओं से इतना प्रेम क्यों? क्योंकि प्रेम और सुख के क्षण छोटे हैं, दुःख का पारावार अनन्त है, इस कारण वह अधिक सत्य है। और, कवि अपनी आत्मा को आघात पहुँचाने, पीड़ा सहने की वृत्ति को अपने अन्दर जगा लेता है। उसे विरह से प्रेरणा मिलती है, मिलन से नहीं। और वह पुराने प्रतीकों को लेकर प्रेम-सम्बन्ध की व्याख्या करता है—

तुम हो दीपक, मैं परवाना!

इस विकृति की परिणति इसी में होनी स्वाभाविक थी। दो प्रेमियों के मिलन की परिस्थितियाँ हमारे समाज-सम्बन्धों को व्यक्त करती हैं। 'प्रतीक्षा' में अश्क ने आशा की थी—'कर दोगी नीरस जीवन में, नव रस का संचार!' यह मिलन जिस समाज-सम्बन्ध का द्योतन करता है, क्या वह 'दीपक और परवाने' के समाज-सम्बन्ध से भिन्न नहीं है? पहले में मिलन 'नव रस का संचार'—आत्म-विकास का सूचक है, दूसरे में दीपक अलग जलता है और परवाना उसके चारों ओर दीवाना हो फिरता है और मिलन होते ही उसे प्राण गँवाने पड़ते हैं—मिलन में भी उसके पर जलते हैं और यातना सहनी पड़ती है। आज तक के अधिकांश कवियों ने प्रेम के इन जैसे अनेक प्रतीकों का मुक्त प्रयोग किया है, क्योंकि इन प्रतीकों को प्रेम का आदर्श भी बना लिया गया है! इसलिए यदि 'अश्क' ने उनका प्रयोग किया है और दीपक और परवाने के परस्पर-सम्बन्ध को आदर्श मान लिया है तो अकेले उन्हीं को दोषी नहीं कहा जा सकता। और, साधारणतया उनके लिए ऐसा मानना स्वाभाविक भी था।

अब तक के समाज-सम्बन्ध—जिनमें स्त्री पराधीन और वासना-तृप्ति का साधन रही है, जिनमें उन्मुक्त प्रेम पर प्रतिबन्ध लगते हैं, और जब कभी भी ये प्रतिबन्ध शिथिल पड़े हैं या टूटे हैं तो स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों का आदर करने के लिए नहीं वरन् उनका अपमान करने के लिए, जिनमें प्रेमी या प्रेमिका का मिलन उक्त कारणों से असम्भव रहा है, और उनके मिलन की दशा पर 'पाप' की चेतना की छाया रही है, जिसमें प्रेम मनुष्य के आत्म-विकास का साधन न रहकर आत्मघात का साधन बना है, जिस आत्मघात को समाज की वर्ग-भावना ने प्रश्रय दिया है, सींचा है और शीरीं-फरहाद, लैला-मजनू या ऐसे ही अलग-अलग विरह में तिल-तिल कर अस्तित्व मिटाने वाले प्रेम के अदम्य 'हीरो' उत्पन्न किये हैं—भावनाओं को विकृत कर ऐसा ही दृष्टिकोण बनाते आ रहे हैं। अतः आज का छायावादी कवि यदि दीपक और परवाने, चाँद और चकोर के उपमान प्रयुक्त करता है तो उसकी मानसिक स्थिति के प्रति हमें सहानुभूति ही दिखानी चाहिए, क्योंकि असली दोष समाज-सम्बन्धों का है। कवि का दोष इतना ही है कि वह इतना चेतन नहीं कि इस दृष्टिकोण के सामाजिक आधार को समझ सके। उसका यह सोचना कि चूँकि उसे व्यक्तिगत जीवन में प्रियतमा का वियोग सहना पड़ा है तो उसके उद्‌गार ऐसे होंगे ही, भ्रामक है। और ऐसा कहते समय मैं यह नहीं भूल जाता कि जब समाज-सम्बन्ध प्रेम को उन्मुक्त कर देंगे, उस समय भी संयोग-वियोग के मौके व्यक्तियों के जीवन में आएँगे और उनकी अभि-व्यक्तियों में आशा और निराशा दोनों होंगी। लेकिन उस आशा और निराशा का स्वरूप दूसरा होगा, निराशा के क्षण व्यक्ति का जीवन-दर्शन व्यक्त करने वाले दृष्टिकोण को अवैज्ञानिक न बना देंगे।

'प्रात-प्रदीप' की कविताओं में प्रकृत-विह्वलता है, लेकिन उनमें व्यक्त दृष्टि-कोण महादेवी जी के दृष्टिकोण की ओर बढ़ता दिखाई देता है। 'अश्क' की व्यक्तिगत वेदना भी इसका एक कारण है। लेकिन 'ऊर्मियां' में 'अश्क' पुनः अपनी पहली चेतना की ओर अग्रसर हुए हैं कि प्रेम दोनों प्राणियों के व्यक्तित्व के विकास का साधन है। अतः 'ऊर्मियां' उल्लास की अभिव्यक्तियों से मुखरित है, यद्यपि बीच-बीच में 'दीपक-परवाने' वाला प्रेम का दृष्टिकोण भी पीछा करता दिखाई देता है—

पर पागल परवाने ही
सखि, जग में पूजे जाते!
जो जलते हैं ज्वाला में
औरों को नहीं जलाते!

लेकिन प्रेम का यह अत्यन्त वैयक्तिक, एकांगी, विकृत, आत्मघाती दृष्टिकोण अब उतने ज़ोर पर नहीं रहा। 'अश्क' गतिहीन व्यक्ति नहीं, उन्होंने अपनी गति के

दूसरे मार्ग निकाले, और उन्हें दूसरी प्रेयसी मिली जिससे वे पुनः अपनी वाणी में उल्लास भर लाए। 'हम मिले' वाले गीत में कवि अपनी अक्षमताओं के प्रति सचेत है। लेकिन वह अपनी प्रेयसी से पूछता है, जो तरुण नदी, चिनगारी और चिड़िया की तरह उन्मुक्त-गति है—

हम मिले
देवि मैं पूछ रहा हूँ तुम से—
मुझे बहाओगी क्या ?
मुझे जिलाओगी क्या ?
मुझे उड़ाओगी क्या ?

यह बहना, जीना और उड़ना जो जीवन का सूचक है, बिना प्रेयसी के सम्भव नहीं। विरह यह आशा नहीं प्रदान करता, और न दीपक-परवाने का संयोग इस संयोग का आदर्श है, बल्कि इसका आदर्श स्वस्थ है जिसमें प्रेम पंख जलाकर परवाने की स्वतन्त्रता, उसके विकास को रुद्ध नहीं कर देता। वरन् उसमें प्रेमी बहने, जीने और उड़ने की आशा करता है। 'मधुप ने की जाकर गुञ्जार' गीत के अन्दर इस उल्लास की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति हुई है, और प्रेम ने कवि के जीवन में एक नई आशा का संचार किया है—

किस स्नेह परस ने छेड़ दिया ?
सब तार तने, झंकार उठी !
ज्यों अन्धकार में रजनी के,
हो ज्योत्स्ना की दीवार उठी !

और, कवि अपनी आशा-निराशा के सामाजिक कारण भी खोजने लगता है। वह सोचता है कि नष्ट होने के बाद जब पुनः उससे भी सुन्दर रचनाएँ बन जाती हैं—

फिर सिख मैं क्यों छोड़ूँ,
नित नूतन जगत बनाना ?

उपेक्षित नारी, कारागार के बन्दी और टूटे छप्पर के भीतर पड़े ज्वर-पीड़ित कंकाल को देखकर वह सोचता है कि दुनिया में लोग उससे कहीं ज्यादा दुःखी हैं, और वह तो अपेक्षाकृत सुखी ही कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण में भी अ-सामाजिकता की एक कोर है, अर्थात् दुखों के कारण जानने की चेष्टा नहीं है, और एक अर्थ में अपने दुःखों का सामाजिक उदाहरण देकर पिष्ट-पेषण भी किया गया है, लेकिन यह दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा अधिक सामाजिक भी है। अन्तर्मुखी, व्यक्तिनिष्ठ प्रवृत्ति का यहाँ अन्त होता है। और "ओ नीम !" वाले गीत में तो इस निराशा और वियोग का सामाजिक कारण भी खोजा गया है—

लेकिन इस दुनियाँ में उल्फत
तुलती है धन के तोलों में !

जिस प्रकार अपनी कहानियों और उपन्यासों में, उसी प्रकार अपनी कविताओं में भी 'अश्क' छायावाद की अस्वस्थता त्यागकर एक सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण की ओर अग्रसर हो रहे है, यह हर्ष की बात है। उनकी कविताओं में प्रेम को लेकर जिन दो दृष्टिकोणों का संघर्ष दिखाई देता है, वह आधुनिक समाज की देन है। और चूंकि उनमें स्वस्थ दृष्टिकोण ही विजयी होता दीखता है, इस कारण आशा है कि अगले संग्रहों मे वे छायावाद के दायरे से बाहर निकल चुके होंगे।

—सितम्बर १६४१

२२

'बरगद की बेटी', 'दीप जलेगा'

और

'चाँदनी रात और अजगर'

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' एक कृती और मेधावी कलाकार हैं। उनके काव्य-संग्रह 'दीप जलेगा' की भूमिका में 'बुझते दीप से जलते दीप तक' के क्रमिक विकास का संस्मरणात्मक परिचय देते हुए श्रीमती कौशल्या 'अश्क' ने सूचित किया है कि इस सम्बन्ध में पाठकों तथा आलोचकों के भिन्न-भिन्न मत हैं, कि 'अश्क जी मूलतः कवि हैं, कथा लेखक हैं अथवा नाटककार ! कोई उन्हें कथाकार और उपन्यासकार से पहले कवि मानते हैं तो कोई पहले नाटककार और फिर कवि।' हमारे आलोचना-साहित्य में यह 'पहले' और 'बाद' की रस्साकशी बहुत दिनों से चलती आई है। मूल प्रश्न यह नहीं है कि लेखक पहले कथाकार है या कवि, बल्कि यह है कि उसने अपने साहित्य में—उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम कविता हो या उपन्यास या नाटक—अपने समय के जीवन का वैविध्यपूर्ण, मूर्त्त और यथार्थ कलात्मक-चित्रण कैसा किया है ? उसकी सहानुभूति कितनी व्यापक, मानवीय और सामाजिक है—अर्थात् सत्य के प्रति उसके आग्रह और उसकी खोज में कितनी ईमानदारी है ? समाज के समस्त अन्तर्विरोधों को उद्घाटित करते समय उसकी सहज सहानुभूति जनता के प्रति कितनी गहरी है ? जीवन के प्रति उसकी आस्था कितनी प्रबल और नैतिक है ? कोई रचना यदि इन दृष्टियों से खरी सिद्ध होती है तो उसके रचनाकार को मूलतः कवि ही कहना चाहिए, क्योंकि वस्तुतः ऐसी रचना ही युग का काव्य है—चाहे उसका रूप उपन्यास हो, नाटक हो या रूढ़ अर्थों में कविता हो।

इस दृष्टि से जाँचने पर 'अश्क' के समूचे साहित्य में जो तत्व सब से अधिक उभर कर ऊपर आता है, वह यह है कि उनका दृष्टिकोण और उनकी सहानुभूतियाँ क्रमशः अधिक सामाजिक और सत्यनिष्ठ होती गई हैं। उनकी कविता, कहानी और नाटक—सभी में यह क्रमविकास सहज ही खोजा जा सकता है। प्रारम्भ की कविताओं में उनका दृष्टिकोण छायावादी अर्थात् रूमानी था। उस समय वे एक आत्मनिष्ठ प्रेमी की तरह केवल अपने मिलन-विरह के उल्लास और पीड़न को ही व्यक्त करते थे। ऐसी कविताओं के दो संग्रहों 'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्मियाँ' की

आलोचना करते हुए मैंने सन् ४१ में लिखा था कि "अपनी कहानियों और उपन्यासों की तरह अपनी कविताओं में भी 'अश्क' छायावाद की अस्वस्थता त्याग कर, एक सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण की ओर अग्रसर हो रहे हैं, यह हर्ष की बात है। उनकी कविताओं में प्रेम को लेकर जिन दो दृष्टिकोणों का संघर्ष दिखाई देता है, वह आधुनिक समाज की देन है और चूँकि इस में स्वस्थ दृष्टिकोण ही विजयी होता दीखता है, इस कारण आशा है कि अगले संग्रहों में वे छायावाद के दायरे से बाहर निकल चुके होंगे।" इसे यदि आप आत्म-प्रशंसा न कहें तो कहूँगा कि यह 'आशा' आज एक 'भविष्यवाणी' सिद्ध हो चुकी है। 'दीप जलेगा', 'बरगद की बेटी' और अन्तिम कविता 'चाँदनी रात और अजगर' इसके प्रमाण है।

'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्मियाँ' के पश्चात् 'अश्क' ने एक प्रकार से रूमानी मिलन और विरह के गीत रचना बन्द ही कर दिया। 'ऊर्मियाँ' में एक कविता 'नीम से' है, जिसमें कवि ने अपने उद्दाम यौवन की अनेक करुण और मधुर स्मृतियों के साक्षी 'नीम' को स्नेहाञ्जलि अर्पित की है। इस कविता मे जितनी आत्म-विह्वलता और गहरी वेदना है उतना ही वर्ग-समाज के वैषम्य के प्रति सचेतन प्रतिवाद का स्वर भी है। नीम उन तमाम प्रणय-काङ्क्षाओं का साक्षी है, जिन्होंने कवि के हृदय में नयी उमंगें, नयी आशाएँ और नयी जीवनकांक्षाएँ जगाईं, पर साथ ही नीम उन मनस्तापों, अश्रुधाराओं और हृदय में तूफ़ान बनकर उठने वाले हाहाकारों का भी साक्षी है, जो दो प्रेमियों के मिलन में दुर्गम बनकर खड़ी, वर्ग समाज की जीवन-भक्षी-नैतिकता के निर्मम दंशन से उसमें पैदा हुए। कवि का हृदय जैसे अपने कठोर अनुभवों की शिला से टकराकर यकायक चीत्कार कर उठा—

लेकिन इस दुनियाँ में उल्फ़त
तुलती है धन के तोलों में।

पर इस सहज-चीत्कार में छिपा प्रतिवाद का स्वर आगे की कविताओं में सचेतन हो जाता है और 'अश्क' 'उल्फ़त' को भी 'धन के तोलों में' तोलने वाली वर्ग-समाज की नैतिकता और उसके वैषम्य को ही और अधिक स्पष्टता से प्रतिबिंबित करने लगते हैं। गीत होने के साथ-साथ 'नीम से' कविता में करुण-मधुर स्मृतियों का अनुगुंफन, पीड़ाओं और पुलकों-भरा आत्म-निवेदन स्वयं में एक भावपूर्ण कहानी बन गया। अगली कविताओं में यह विकास जारी रहा और 'अश्क' पद्य-कहानियाँ लिखने लगे।

रचनाक्रम में 'बरगद की बेटी', 'दीप जलेगा' से पहले की कृती है। सम्भवतः यह पंजाब के किसी गाँव की किसी लोक-कथा के आधार पर लिया गया खण्ड-काव्य है। इस कविता की नायिका लहराँ एक किसान की बेटी है। ज़मींदार का बेटा अनवर

उस पर डोरे डालता है और उस सरल-युवती का मन अपनी ओर खींच लेता है। उधर अनवर का नौकर सादिक भी लहराँ पर जान देता है और बिरादरी एवं वर्ग-समानता के आधार पर वह अपने को लहराँ का एकमात्र प्रेम-पात्र बनने का अधिकारी समझता है। किन्तु लहराँ उसके प्रति अनुरक्त नहीं होती। सादिक का मोहपाश उसे अपनी वर्ग-स्थिति से अचेतन रखता है। सादिक का हृदय ईर्ष्या और क्रोध से जलने लगता है और एक दिन साँझ के झुटपुटे में, जब अनवर और लहराँ ऊसर के एकान्त में, बरगद के नीचे, रोज़ का तरह प्रेमालिंगन में आबद्ध थे, वह अनवर के सीने में खंजर भोंक देता है। उसके दूसरे वार में लहराँ भी लहू मे लथपथ धरती पर गिर पड़ती है। ईर्ष्या और आक्रोश के उन्माद में सादिक पुलिस के सामने आत्म-समर्पण करते हुए अपना अपराध स्वीकार करता है या कहें कि वर्ग-नैतिकता को अपने अरमानों के ख़ून का दोषी ठहराता है—

धनी और निर्धन में कैसा
प्यार कहो कैसी उल्फ़त ?
उसका मन बहलावा है और'
इसकी जाती है इज्ज़त !

ज़मींदार के इशारे पर पुलिस किसानों को बरबाद कर देती है और घायल लहराँ ज़मींदार की अटारी में लाई जाती है। सावन की तूफ़ानी बाढ़ सरीखी लहराँ की जवानी से ज़मींदार की निरंकुश वासना जग जाती है और वह बलात्कार करने पर उतारू हो जाता है। पर लहराँ इस अपमान को सहन न कर उसका गला घोंट देती है और स्वयं भागकर आत्म-हत्या कर लेती है।

इस कथा को 'अश्क' ने ग्राम-जीवन के वातावरण और अन्तर्विरोधों के वैविध्यपूर्ण चित्रण से इतना सम्पूर्ण और चित्रात्मक बना दिया है कि हिन्दी-काव्य में आधुनिक ग्राम-जीवन की समस्याओं का इतना सुन्दर समन्वित चित्रांकन शायद ही कहीं हो। यद्यपि यह एक प्रेम-कथा है, पर इसके ताने-बाने में ग्राम-जीवन का यथार्थ इतनी सूक्ष्म संवेदनशील कलात्मकता से गुंथा हुआ है कि सामन्तशाही उत्पीड़न और अनाचार का सजीव खाका आँखों के आगे खिंच जाता है।

'दीप जलेगा' में 'बरगद की बेटी' जैसी स्पष्ट कहानी नहीं है। केवल उसकी रचना के पीछे लेखक के जीवन की एक व्यक्तिगत घटना है। उसके संकेत इस कविता में आद्यन्त छिपे हुए हैं, जिनसे यह कविता यथार्थ का ऐसा दीर्घ-उच्छ्वास बन गई है जो तीव्र वेदना और संकल्प भरे स्वर में मनुष्य के जीवन-संघर्ष की कहानी का भी प्रतीक है। पृष्ठभूमि की कथा यह है कि सन् ४६, ४७ में कवि यक्ष्मा से पीड़ित होकर पंचगनी के सेनिटोरियम में मृत्यु से जूझ रहा था, पास में केवल पत्नी कौशल्या

और शिशु नीलाभ था। मृत्यु के पाश उसे अपने शिकंजे में जकड़ने के लिए आतुर थे और कवि इस शिकंजे को तोड़ने के लिए! 'अश्क' का यह व्यक्तिगत संघर्ष अपने प्रतीक-रूप में विराट सामाजिक संघर्ष का ही एक मार्मिक रूपक बन जाता है, जिससे इस कविता को शक्ति, सौन्दर्य और सामयिक-महत्त्व प्राप्त होता है। 'अश्क' की कल्पना में जीवन के दीपक को बुझाने के लिए घन-अंधकार चारों ओर से तरह-तरह के हिंस्र-रूप धारण कर आगे बढ़ता है। 'अश्क' की अविजित आत्मा उसे चुनौती देती है। कवि अपनी संगिनी से कहता है—

देख रही हो—
दाँत पीस कर,
शक्ति शेष से
तलछट तक मैं
अन्तर के घट का स्नेहासव
पिला रहा हूँ,
इस दीपक को
अंधकार से जूझ रहा जो!
देख रही हो—
मिट-मिट कर जीने की मेरी प्रबल साध को,
देख रही हो—
प्रतिपल गहरे होते आते तम-अगाध को!

और जीवन के प्रति इस अप्रतिहत, दुर्दमनीय आस्था के बल, वह इसी लाक्षणिक शैली में समाज के उस सारे वैषम्य और संघर्ष की चेतना अपने मन में जगाता है, जिसकी सीमाएँ अतीत और वर्तमान को अपने अंक में समेटे भविष्य तक व्याप्त है और जिसमें पड़कर युगों-युगों से मनुष्य, जीवन के क्रम, जीवन की रचना-शक्ति, जीवन के सत्य और सौन्दर्य को सुरक्षित रखने के लिए अंधकार की शक्तियों से लड़ता आया है और उस समय तक लड़ता रहेगा जब तक यह उत्पीड़न, यह वैषम्य, यह हिंसा, यह गुलामी, यह युद्ध सदा के लिए समाप्त नहीं हो जाते। जीवन के प्रति यह आस्था कवि को मौन नहीं रहने देती। वह अपने संकल्प को गीतों में भर कर गाना चाहता है, ताकि जीवन पर छाये इन तिमिर-घनों को तड़ित की भाँति चीरकर वह कोने-कोने में प्रकाश भर दे। आस्था के इस दीपक को कवि एक के बाद दूसरे हाथों में देकर सतत जलाये रखने का संदेश देता है, यह संदेश कवि की अपनी जीवन-कथा में गुँथकर इतना मार्मिक बन गया है कि हृदय विदग्ध और आँखें पुरनम हो आती हैं।

अपनी इस नई परम्परा में 'चांदनी रात और अजगर' 'अश्क' की नवीनतम कृति है। इस पद्य-कथा की टेकनीक 'बरगद की बेटी' और 'दीप जलेगा' दोनों से भिन्न है। 'बरगद की बेटी' में एक सरल छन्द और सीधा-सादा कथा-सूत्र है। 'दीप जलेगा' में कहानी पृष्ठभूमि में है और काव्य-प्रतीकों द्वारा लेखक का उद्‌गार बनकर व्यक्त होती है। छन्द में भी यहां भिन्नता आ गई है—कहीं बँधा है तो कहीं मुक्त ! किन्तु 'चांदनी रात और अजगर' की कहानी कवि के गत-जीवन के संस्मरणों, अभावों और भावी जीवन के स्वप्नों द्वारा गूँथी गई है। इस प्रकार इस कविता का रूप-विन्यास और छन्द-प्रयोग अपेक्षया अधिक संश्लिष्ट और जटिल है। इस कविता की कहानी का आन्तरिक तारतम्य घटनाओं की क्रम-सूचना के कारण नहीं, बल्कि भाव-प्रतिक्रियाओं के सहज-सम्बन्धों के कारण है। इसी से यह एक पद्य-कथा बनती है। इसमें इतिवृत नहीं, लेखक के भावों, प्रतिक्रियाओं और विचारों के मनके पिरोये हुए हैं, जो उसके गत और वर्तमान जीवन के यथार्थ-अनुभवों और भविष्य की आकांक्षाओं के प्रतिबिम्ब हैं। किन्तु रूप-विन्यास की इस संश्लिष्टता के कारण कविता के प्रवाह में कहीं कमी नहीं आती। छन्द छोटा हो या बड़ा, मुक्त हो या बँधा, कविता की सरिता पूरे वेग से बहे जाती है।

इस पद्य-कथा की रूपरेखा संक्षेप में यों है। शारदीय पूनों का दिन है। बाहर रजत-ज्योत्स्ना फैली हुई है। कवि अपने घर मे वातायन के पास चारपाई पर बैठा यह मनोहर दृश्य देखता है। उसकी जीवन-संगिनि दिन भर के काम-काज से थककर पास में पड़ी सो रही है। उसकी इस श्रम-श्लथ-अवस्था को देखकर, जिसमें शरद पूनों के स्निग्ध रजत वैभव को निरखने का उत्साह तक अवशेष नहीं, कवि स्वयं विचारों के सागर में डूबने-उतराने लगता है। कभी वह उनके भाग्य की बात सोचता है, जो साधन-सम्पन्न और अवकाश-भोगी हे और इस समय अपनी प्रेयसियों के साथ नौका-विहार कर रहे हे या पार गंगा के रेतीले चौड़े तट पर एकान्त में प्यार की सरगोशियों में तल्लीन है। कभी उसके मानस-पट पर आप-बीते अन्तहीन-जीवन-संघर्ष के करुण चित्र उभर आते हे तो कभी अपने बचपन के अपने जैसे ही अनेक दूसरे साथियों की जीवन-यातना मन पर रेखांकित हो जाती है। अवकाश-भोगियों के चिन्ता-रहित आमोद-प्रमोद और श्रमकरों के अभावग्रस्त जीवन के चित्र—वास्तविक जीवन के ये दो विरोधी रूप चिन्तालीन कवि के मन में एक नैतिक प्रश्न उठाते है। इस सामाजिक वैषम्य और शोषण-उत्पीड़न के कारण युगों-युगों से कितनी अनगिनत प्रतिभाएँ अनुकूल वातावरण और अवसर न पाकर मुरझाती आई है ? स्वयं उसने अपने जीवन में देखा है कि ननकू, रहमा, सदना, उसके बचपन के साथी, जिनमें क्रम से एक महान् गायक, शिल्पी और अध्यापक बनने की जन्मजात-प्रतिभा और बलवती आकांक्षा थी, इस वर्ग-वैषम्य के कारण पनप नहीं सके। उसके अपने महाकविब नने के सपने,

सपने ही रह गये। आखिर यह क्यों है ? यह कैसी नैतिकता है, कैसा न्याय है ? कवि के मन में प्रतिभाओं के इस विराट अपव्यय का भाव एक टीस पैदा करता है और भविष्य के जो सपने, आज संघर्षशील मानवता की कल्पना में पल रहे हैं और मुक्त-जीवन और सुख-समृद्धि की जो आकांक्षाएँ असंख्य मानवों के हृदयों में तरंगित हो रही हैं, कवि भी एक वस्तुनिष्ठ स्वप्नदृष्टा की तरह उन सपनों में रम जाता है। अपने अनुभव से और मानवता के व्यापक मुक्ति-संघर्ष से उसे यह चेतना प्राप्त हो चुकी है कि शेषनाग-सा यह मानव-श्रम का अजगर अब अपने सर पर समस्त पृथ्वी का भार उठाये, क्षीर-सागर में लक्ष्मीपति की सेज न बना रहेगा, बल्कि कुंडली खोलकर अपने क्रुद्ध श्वास से शोषण और शासन की पूंजीवादी सत्ता को मिटा देगा। उस मुक्त वातावरण में समस्त मानव-समाज एक साथ उन्नति-पथ पर अग्रसर होगा। प्रत्येक घर में प्रतिभा के कमल खिलेंगे और केवल यह चाँदनी ही नहीं, बल्कि समस्त धरणी और उसका भौतिक वैभव कृती मानव का उपभोग्य बन जायगा।

इतने विचार-सूत्रों को एक संक्षिप्त भाव-कथा में कलात्मक रूप से जोड़ देना निश्चय ही कवि की एक बड़ी सफलता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि छायावाद की कविता के बाद हिन्दी-कविता का युग समाप्त हो गया है, कि अब कविता में वह पहले जैसी भाव-प्रवणता, हृदय को सहज स्पर्श कर देने वाली रागात्मकता नहीं लाई जा सकती; कि जीवन इतना संश्लिष्ट और समाज के अन्तर्विरोध इतने स्पष्ट हो गये हैं कि अब वह शिशु-सुलभ-विस्मय-भावना, जिज्ञासा और सरल करुणा-वेदना असम्भव है जो छायावादी कविता की मार्मिकता का उपकरण थी; कि या तो कोरी राजनीतिक नारेबाजी की तुकबन्दियां लिखी जा सकती है या फिर विषय-वस्तु का आग्रह छोड़कर कविता में केवल रूपगत प्रयोग ही किये जा सकते है; कि कविता नहीं लिखी जा सकती—वह कविता, जो सीधे हृदय से निकली हो, जिसमें जीवन के सुख-दुख हर्ष-विमर्ष और पीड़ा-वेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति हो। 'चाँदनी रात और अजगर' न तो कोरी नारेबाजी है (यद्यपि पूँजीवादी समाज के वैषम्य और अन्तर्विरोधों का मूर्त्त-चित्रण इसमें है) और न केवल कविता में रूपगत-प्रयोग है (यद्यपि कवि ने विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति को मार्मिक और सुन्दर बनाने के लिए 'राशिद', 'फैज़', पंत, महादेवी की शैलियों से प्रभाव-ग्रहण करते हुए अपनी छन्द-योजना और शब्द-विन्यास में कतिपय नये प्रयोग भी किये है।) कुल मिलाकर यह कविता वास्तव में कविता है, जिसकी विषय-वस्तु इतनी यथार्थ और सामयिक है, नैतिक दृष्टिकोण इतना स्पष्ट और जनवादी है और अभिव्यक्ति इतनी चुस्त और मार्मिक है कि सहज ही पाठक के हृदय को झकझोर देती है।

—अगस्त १९५२

२३

गोदान और शेखर

प्रेमचन्द के 'गोदान' में होरी के चरित्र में जीवन के एक मूल तत्त्व का गतिमान चित्रण हुआ है। होरी पर मुसीबत के पहाड़ टूटते हैं और उसके कठोर जीवन में सड़क पर कंकड़ कूटते हुए मरते-दम तक इन मुसीबतों की जटिल शृंखला का अन्त नहीं होता। सब तरफ़ से नोच-खसोट है, उसका भाग्य एक कच्चे धागे से बँधा टँगा है; रोज़ धागा टूटता है और वह धूल में गिरकर ठोकरें खाता है। ऐसा लगता है मानों उसका अब अन्त हुआ तब अन्त हुआ, लेकिन फिर भी होरी जीता जाता है, धूल में से सिर उठाकर अनन्त श्रान्ति और थकान लेकर भी चल पड़ता है। उसमें अक्षय जीवट है। आश्चर्य होता है यह देखकर कि मरुस्थल में पड़ी बूँद-सा होरी मिट क्यों नहीं जाता। कहाँ से मिलता है उसे अनन्त प्राण-रस ? इस प्राण-रस का स्रोत कहाँ है ? और यह बात भी नहीं कि सामन्तवर्ग के आदर्श पुरुष राम की तरह होरी किसान-वर्ग का आदर्श पुरुष हो ! उसमें आधुनिक समाज की परिस्थितियों से उत्पन्न सारी कमज़ोरियाँ हैं, अन्धविश्वास और क्षुद्रताएँ हैं। फिर भी बड़े-बड़े साम्राज्य मिट्टी में मिलाये जा सकते हैं, लेकिन होरी जीवन के मूल-स्रोत से कुछ ऐसा चिमटा हुआ है कि उसको मिटाया ही नहीं जा सकता—और 'होरी' जीता-जागता चरित्र है ! जीवन में सैकड़ों-लाखों 'होरी' हमें मिलते हैं, हम उनके पास से गुज़र जाते हैं, लेकिन उनकी क्षुद्रताएँ ही हमारी दृष्टि में आती हैं, और जो यथार्थवादी लेखक होने का दम भरते हैं वे जैसे सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से उनकी क्षुद्रताओं को विशाल आकार देकर चित्रित कर देते हैं, और यदि प्रगतिवादी हुए तो इन क्षुद्रताओं को समाज-व्यवस्था के मत्थे मढ़कर सहानुभूति के दो शब्दों से उनके चरित्र को आन्तरिक गौरव से मंडित भी कर देते हैं, मानो वे घूरे की खाद हों, जो पूँजीपतियों के शोषक पेट में पड़ने के पहले स्वच्छ अन्न थी और अब भी यदि क़ायदे से खेत में बिखेर दी जाय तो वैसा ही स्वच्छ अन्न पैदा करने में सक्षम है, लेकिन दुर्भाग्य कि आज घूरे पर पड़ी सड़ रही है और कोई उसका उपयोग करने वाला नहीं है। लेकिन इस तरह लेखक होरी के प्राण-रस के उस अजस्र स्रोत तक नहीं पहुँच पाते, जिसके कारण होरी चुस-पिस के भी कभी घूरे की खाद नहीं बन पाया। होरी एक व्यक्ति नहीं है, वह भारत के समूचे किसान-वर्ग का प्रतिनिधि है, और इसी कारण उसके जीवन के सारे सूत्र अपने वर्ग से जुड़े हुए हैं, उन्हीं सूत्रों के द्वारा उसे अक्षय प्राण-रस मिलता है।

वह पिसता है तो इसलिए कि सब किसान—उसके जैसे करोड़ों होरी—पिस रहे हैं, वह जीता जाता है तो इसलिए कि सदियों के शोषण के बावजूद भी सब किसान—करोड़ों होरी—पैदा होते और जीते चले जा रहे हैं, उन्हें कोई मिटा नहीं सकता। और यह जन-जीवन एक अटूट धारा है, प्रकृति के दृश्यमान जगत की तरह एक तरङ्ग-प्रवाह है, और होरो का जीवन-क्रम भी एक अटूट धारा है। उसके जीने की क्रिया एक तरङ्ग-प्रवाह है, और जन-जीवन की धारा से होरी के व्यक्तिगत जीवन के जो सूत्र मिले हुए है, वे ही उस तक प्राण-रस का खाद्य पहुँचाते रहते है, और यह खाद्य प्रेमचन्द के समय की सामाजिक स्थिति के अनुरूप ही है; आज वह भिन्न है, क्योंकि आज परिस्थितियों के दबाव से, चेतना के सतत झकोरों से जन-जीवन की धारा में ऊँची लहरें उठ रही है। आज का लेखक होरी के अक्षय जीवन का गतिमान चित्रण जीवन-स्रोतों से चिपटे रहने की उत्कट क्षमता के ही रूप में करके सफल नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तुस्थिति बदल गई है। उसे नष्ट होने के पूर्व ही शोषणकारी शक्तियों के निरन्तर आक्रमणों से इन जीवन-स्रोतों की रक्षा करना है—सक्रिय और संगठित रूप से। लेकिन हिन्दी के कितने उपन्यासकारों ने इस मूल तत्त्व को समझ पाया है?

अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' 'गोदान' के बाद का सबसे महत्त्वपूर्ण और कलात्मक उपन्यास है। लेकिन 'शेखर' कैसा चरित्र है? उसके जीवन-सूत्र कितने फैले हुए है? वह जन-जीवन से कितना प्राण-रस खींचता है? यह सच है कि शेखर मुख्यतः मनोवैज्ञानिक धरातल पर एक व्यक्ति का अध्ययन है, लेकिन उसकी चेतना एक असामाजिक प्राणी की चेतना है और वह एक उपजीवी है जो सामाजिक जीवन से प्राण-रस खींचकर भी अपनी चेतना मे उसका आभार स्वीकार नहीं करता। ऐसे चरित्र की भाव-प्रतिक्रियाएँ कृत्रिम रूप से अतिरञ्जित और यान्त्रिक ही हो सकती है, जैसी कि 'शेखर' की है। मनोवैज्ञानिक या सामाजिक धरातल पर 'होरी' के बाद के किसान या मध्यवर्गीय चरित्र को 'गोदान' की परम्परा को ही आगे ले जाना था, अर्थात् उसमें आज की संश्लिष्ट वास्तविकता का गत्यात्मक चित्रण होना आवश्यक था, लेकिन 'शेखर' आज के समाज का प्राणी होकर भी, लेखक द्वारा असाधारणता का गौरव प्रदान करने के सारे कलात्मक प्रयत्नों के बावजूद भी, असामाजिक और विक्षिप्त है। व्यक्तिवादी शेखर अपने में ही एक केन्द्र है और उसकी जीवन-क्रिया एक विशाल धारा—प्रोसेस—का अङ्ग नहीं है, वरन् स्वनिर्मित नियमों से परिचालित है। होरी के जीवन में अविराम संघर्ष है, लेकिन होरी अकेला लगते हुए भी इस संघर्ष में अकेला नहीं है। होरी के गिरने पर पूरे समाज का ढांचा गिरता दीखता है, उसके उठने पर पूरा समाज उठता नजर आता है। उसके उत्थान-पतन

के संघर्ष के परोक्ष में पूरे समाज के उत्थान-पतन का विराट् संघर्ष छिपा है। पर होरी अपनी सारी कमजोरियों के साथ धीर और शान्त प्रकृति का है, संघर्ष से भागने के प्रयत्न में वह उसके भँवर में और-और फँसता ही जाता है। इसके विपरीत शेखर अपनी चेतना से असंतोष और संघर्ष का ज्वालामुखी है, लेकिन संघर्ष के सारे मन्सूबे बनाने के बाद भी वह संघर्ष से पलायन कर जाने में ही सफल होता है। इसी कारण उसकी जय-पराजय पर उसके चतुर्दिक वातावरण की एक पत्ती भी खड़कती नज़र नहीं आती, उसकी मानसिक प्रतिक्रियाओं की प्रतिध्वनि समाज के मानस में नहीं होती, जैसे उससे किसी को कोई सरोकार हो न हो। 'होरी' में व्यक्तित्व है और उसका व्यक्तित्व भारतीय किसान के व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है। शेखर में व्यक्तित्व नहीं है, वह कोरा व्यक्तिवादी है, अपना ही प्रतिनिधि है। होरी जीवन में कभी क्रान्तिकारी नहीं हो सका। लेकिन सामाजिक विषमताओं का समाधान पाने के सारे मार्गों की निरर्थकता साबित करने के बाद जब वह मरता है—जब उसकी लाश पर बैठी धनिया के सामने समाज की जोंकें, जिन्होंने उसे आजीवन चूसा था, अब स्वर्ग में उसकी आत्मा के लिए शान्ति की व्यवस्था करने के हेतु मृत होरी के साथ एक गोदान का सार्टीफिकेट रहना अनिवार्य बताती है और धनिया अपनी आखिरी जमा-पूँजी के बीस आने पैसे और गाय उनके हाथ में पकड़ा के पछाड़ खाकर गिर पड़ती है—तो पाठक अनायास इसी परिणाम पर पहुँचता है कि अनचाहे ही सही क्रान्ति ही एकमात्र उपाय रह गया है। शेखर क्रान्ति के प्रति जितना ही उत्साह दिखाता है, उतना ही वह समझौते के मार्ग पर दौड़ता जाता है। दोनों में यही मौलिक अन्तर है।

—फरवरी १९४२

२४

गिरती दीवारें

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का उपन्यास 'गिरती दीवारें' लगभग छः सौ पृष्ठों का एक बृहद् उपन्यास है। स्वर्गीय प्रेमचंद के 'गोदान' के पश्चात् हिन्दी में लघु उपन्यासों की प्रथा रही। अधिकांश उपन्यास दो-तीन सौ पृष्ठों से आगे नहीं बढ़ सके, केवल 'अज्ञेय' का उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' ही एक बृहद् उपन्यास इस बीच प्रकाशित हुआ है। उसके दो भाग निकल चुके हैं, तीसरे भाग की प्रतीक्षा की जा रही है। परन्तु 'शेखर : एक जीवनी' मनोवैज्ञानिक उपन्यास है, और यद्यपि उसकी शैली अत्यन्त परिष्कृत और उसकी टेकनीक अति आधुनिक है, परन्तु मूलतः वह एक रोमांटिक उपन्यास है, इसके ठीक विपरीत 'गिरती दीवारें' मूलतः एक यथार्थवादी उपन्यास है। पर इस व्याख्या से उसका मूल्य 'शेखर' से किसी भी अर्थ में कम नहीं है, क्योंकि 'गिरती दीवारें' की शैली और टेकनीक भी इतनी सुगठित, सुष्ठ, परिष्कृत और कला-पूर्ण है कि निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के 'गोदान' की यथार्थवादी परम्परा में 'अश्क' का यह उपन्यास एक बहुत बड़ा और साहसपूर्ण क़दम है। सम्भवतः इस कथन में अत्युक्ति नहीं है कि 'गिरती दीवारें' हिन्दी की यथार्थवादी परम्परा के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गणना करने योग्य है। प्रेमचंद के 'गोदान' ने यदि किसान-जीवन का सांगोपांग चित्रण किया है तो 'अश्क' ने 'गिरती दीवारें' में निम्न-मध्यवर्ग के जीवन का व्यापक चित्रण किया है। 'गिरती दीवारें' वस्तुतः निम्न-मध्यवर्ग के युवक चेतन की जीवनी है। चेतन 'अज्ञेय' के उपन्यास के नायक शेखर की तरह अभिजात कुल का नहीं, अतः वह प्रारम्भ से ही अपनी वंशानुगत अथवा जन्म-जात प्रतिभा की प्रखर चेतना से आक्रांत नहीं है कि सोते-जागते अपने मन में अपनी प्रतिभा की माला फेरता रहे कि मैं प्रतिभावान हूँ, असाधारण हूँ। चेतन ऐसे साधारण, असंस्कृत और रूढ़ि-जर्जर परिवार में पैदा हुआ था जहाँ चीकने पात वाले होनहार बिरवा भी दुर्धर्ष विषमताओं के वर्षा, आतप, घाम से रूक्ष और धूल-धूसरित दिखाई देते हैं। इस कारण शेखर की तरह अपने जीवन की अधिकांशतः अनुकूल परिस्थितियों पर शासन करके लोगों से प्रतिभा की महत्ता स्वीकार करा लेने की समस्या चेतन को उद्वेलित नहीं करती। वह सबसे पहले जीना चाहता है और जीने के लिए विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करता है और इस संघर्ष के दीर्घ पथ पर साहस-पूर्वक चलने के क्रम में वह अपनी प्रतिभा को कठोर अनुभवों

की शिला पर टकरा-टकराकर तीव्र से तीव्रतर और उत्तरोत्तर अधिक मानवीय, सामाजिक और व्यापक बनाता जाता है। इसी कारण 'अश्क' के उपन्यास में न लम्बी-चौड़ी सैद्धांतिक बहसें हैं, न मतामत का प्रचार, न मिथ्या दार्शनिकता का ढोंग—उसमें साधारण घटनाओं से बना साधारण जीवन अपने संपूर्ण सजीव वातावरण की रूप-रस-गन्ध-मय चित्रात्मकता के साथ प्रतिबिंबित हो उठा है, यही उसकी विशेषता है।

यों कहने के लिए 'गिरती दीवारें' की समस्या पुराने ढंग के अनमेल विवाह से उत्पन्न जीवन के दुर्निवार असामंजस्य की समस्या है, परन्तु वास्तव में 'अश्क' ने अपने को इस समस्या तक ही सीमित नहीं रखा है। 'गिरती दीवारें' का प्रत्येक वाक्य वर्तमान जीवन की विषमता की विविधता का रहस्योद्‌घाटन करता है और आज के सम्पूर्ण जीवन को अगणित समस्याओं की एक जटिल ग्रन्थि के रूप में उपस्थित करता है—एक ऐसी ग्रन्थि के रूप में जो अपनी जर्जरता को छिपाने के लिए अधिकाधिक निर्मम, कठोर और हिंस्र बनती जा रही है, पर साथ ही जीवन के उद्दाम गति-वेग और अविराम परिवर्तन के थपेड़े खाकर जिसके बन्धन असह्य वेदना, गहरी निराशा और मानसिक उद्विग्नता पैदा करके टूटते जा रहे हैं।

इस विशाल रूपक को चेतन की अपेक्षाकृत साधारण पर संश्लिष्ट जीवनी में अत्यन्त कलात्मक ढंग से आबद्ध किया है।

ग़रीब निम्न-मध्य-वर्ग में उत्पन्न चेतन किसी प्रकार बी० ए० पास कर लेता है। काव्य और साहित्य के प्रति उसकी सहज रुचि है और स्वयं कवि और लेखक बनने की आकांक्षा भी उसमें जग चुकी है। उसके घर का जैसा कटुता-पूर्ण वातावरण है और बाहर जीवन जैसा कठोर और दुर्गम है, उसके अनुभव को व्यक्त करके जी हल्का कर लेने की जितनी इच्छा स्वतः उसमें जगती है, उससे ज़्यादा परिस्थितियाँ उसे एक स्कूल का मास्टर और फिर लाहौर में जाकर एक समाचार-पत्र में नौकरी करने के लिए विवश करके उसको साहित्य की दुनिया में ला पटकती हैं।

इसी बीच उसके माँ-बाप उसकी शादी एक साधारण-सी, पर अत्यन्त सरल हृदय रखने वाली लड़की चंदा से कर देते हैं, और यद्यपि चंदा का रूप-रंग उसे पसंद नहीं है और वह शादी नहीं करना चाहता, पर कठोर, निर्दय पिता शादीराम और ममता की देवी माँ के आदेश को टाल नहीं सकता। चंदा की छोटी बहिन नीला उसे प्रारम्भ ही से आकर्षित करती है, परन्तु जैसी रूढ़ियों में बँधे समाज में होता है, चेतन को अपने भाग्य से समझौता करना पड़ता है। नीला के प्रति चेतन का आकर्षण और चेतन के प्रति नीला का आकर्षण एक अत्यन्त जटिल समस्या उत्पन्न कर देता है। चेतन नीला को अपने मन से निकाल नहीं पाता। एक बार जब चेतन अपनी ससुराल में जाकर बीमार पड़ जाता है, नीला उसकी सेवा-सुश्रूषा करती है,

श्रौर यह निकट साहचर्य उसकी इच्छाओं को दुर्दमनीय रूप से उभार देता है। वह एक दिन नीला को बलात् अंक में लेकर चूम लेता है। नीला अपने को छुड़ाकर भाग जाता है और उसका खाना-पीना छूट जाता है, लगातार रोती रहती है, सम्भवतः यह सोचकर कि भाग्य की विडंबना के आगे उसे सिर झुकाना पड़ेगा—चेतन उसे नहीं मिल सकता। इधर चेतन आत्म-ग्लानि से भरकर नीला के पिता को सारी घटना बताकर चंदा को लेकर वहाँ से चल पड़ता है। परन्तु इस छोटी सी घटना की टीस दोनों के मर्म मे बार-बार जीवन भर उठती रही, और नीला जैसे अपने से ही बेसुध होकर अपनी छाया बनती गई और चेतन आत्म-ग्लानि और अपने दाम्पत्य जीवन में सौन्दर्य के अभाव से उत्पन्न आकांक्षा के बीच द्वंद्व मे पड़ा अपने जीवन की आर्थिक परिस्थितियों से ही जूझता रह जाता है।

इस संघर्ष और द्वंद्व-भरे जीवन में चेतन को कतिपय विचित्र और कुरूप अनुभव होते है। अखबारों के दफ्तरों में काम करते-करते वह अपना स्वास्थ्य खो बैठता है, ऐसे ही अवसर पर लाहौर के प्रसिद्ध वैद्य रामदास से उसकी भेंट हो जाती है। अपने स्नेह का अभिनय करके वे चेतन को अपनी बातों मे फाँस लेते है और उसे शिमला ले जाते है। वहाँ वे चेतन से बच्चों के स्वास्थ्य-रक्षा विषय पर एक पुस्तक लिखवाते हैं, पचास रुपये महीने में चेतन तीन मास के अन्दर उन्हें पुस्तक लिखकर दे देता है। पुस्तक वैद्यराज रामदास के नाम से ही प्रकाशित होगी, यह चेतन को बहुत पहले मालूम हो जाता है और तब से उसका मन किसी प्रकार इस धूर्त वैद्यराज के चंगुल से निकल भागने को करता है, परन्तु रामदास बातचीत का इतना मीठा और मतलब का ऐसा चौकस है कि चेतन उसके आगे निरुपाय हो जाता है। वह चेतन से और भी पुस्तकें अपने नाम से लिखाता यदि नीला के विवाह की सूचना पाकर वह शिमले से किसी प्रकार जान छुड़ाकर भाग न निकलता।

नीला का विवाह एक अधेड़ और कुरूप व्यक्ति से हो जाता है। चेतन नीला से एकान्त में मिलकर उससे क्षमा माँगना चाहता है, पर नीला जैसे अपने अस्तित्व ही को भूल चुकी है। वह गुमसुम अलग बैठी रहती है। केवल विदा होने के पहले वह आँखों में आँसू भरे चेतन के कमरे मे आती है और आर्द्र स्वर मे चेतन से अपनी भूल-चूक के लिए क्षमा माँग लेती है। और जब चेतन अपने कसूर के लिए क्षमा माँगता हुआ नीला के चरणों में झुक जाता है, नीला "जीजा जी, आप क्या करते है?" कहकर अपनी सिसकी को दबाती हुई नीचे भाग जाती है।

रात को चंदा गहरी नींद में सो रही थी और चेतन लेटा-लेटा सोच रहा था—उसे लगा कि यह अंधकार की दीवार उसके और उसकी पत्नी के मध्य ही नहीं, नीला और त्रिलोक (नीला के जेठ का लड़का) के मध्य भी है···बल्कि इस परतन्त्र

देश के सभी स्त्री-पुरुषों, तरुण-तरुणियों, वर्गों और जातियों के मध्य ऐसी ही अनगिनत दीवारें खड़ी हैं—कविराज और उसमें, उसमें और (कविराज के क्लर्क) जयदेव में, जयदेव और (कविराज के साधारण नौकर) यादराम में—इन दीवारों का कोई अन्त नहीं। उस तिमिराच्छन्न-निस्तब्धता में चेतन ने अगणित प्राणों की मूक सिसकियाँ सुनीं, जो इन दीवारों में बन्द थीं और निकलने की राह न पा रही थीं। इन दीवारों की नींव कहाँ है ? ये कब गिरेंगी और कैसे गिरेंगी ?

और चेतन निम्न-मध्यवर्ग के उस चेतन प्राणी का सहज प्रतीक बन जाता है जो इन बंद दीवारों की नींव की थाह पाने के लिए और यह जानने के लिए कि वे कैसे गिरेंगी, सप्रश्न हो उठा है।

'गिरती दीवारें' अपनी शैली, कला और चित्रण और मानवीयता के कारण निश्चय ही हिन्दी का एक अनुपम और महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। 'अश्क' ने इसमें चेतन; चेतन के उग्र कठोर शराबी पिता—शादीराम; आत्मभीरू, त्याग, सेवा और ममता की मूर्ति माँ—लज्जावती; नवागत यौवन और सौन्दर्य से दीप्त नीला; सरल हृदय पत्नी चंदा; धूर्त वैद्यराज रामदास और दर्जनों दूसरे पात्रों का चरित्र-चित्रण इतना स्वाभाविक, सजीव और मार्मिक किया है कि ये पात्र स्मृति में घर बना लेते हैं। साथ ही जालंधर, इलावलपुर, लाहौर और शिमले के वे स्थान जहाँ पर इस उपन्यास में वर्णित घटनाएँ घटी हैं, उनका चित्रण भी अत्यधिक सजीव हुआ है। एक प्रकार से 'अश्क' की यथार्थवादी शैली की यह विशेषता है कि उन्होंने वातावरण या परिवेश का चित्रण इतना विशद और सूक्ष्म किया है, जितना हिन्दी के किसी लेखक ने नहीं किया। और 'गिरती दीवारें' पढ़ते समय सहज ही तुर्गनेव, दोस्तोवस्की और गोर्की के उपन्यासों का स्मरण हो आता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'गिरती दीवारें' अत्यन्त सबल और सफल कला का उपन्यास है और यदि 'गोदान' और 'शेखर' हिन्दी में अमर रहेंगे तो 'गिरती दीवारें' की अमरता पर भी आँच नहीं आयेगी।

—जुलाई १९४७

२५

'सुखदा' और 'गर्म राख'

जैनेन्द्र कुमार के 'सुखदा' और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'गर्म राख' ये दोनों उपन्यास महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिए नहीं कि उनके लेखक महत्त्वपूर्ण हैं बल्कि इसलिए कि हिन्दी की उपन्यास-परम्परा में इन दोनों उपन्यासों का कई दृष्टियों से विशेष महत्त्व है। वस्तुतः ये दोनों उपन्यास भिन्न ही नहीं, विपरीत कोटि के हैं। कला के क्षेत्र में एक दूसरे को चुनौती है। प्रेमचन्द के समय से एक ओर रवीन्द्र और शरत् और दूसरी ओर स्वयं प्रेमचन्द का प्रभाव ग्रहण करके हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में जो दो धाराएँ फूटीं उनके विकास के दो चरम बिन्दु यदि इन्हें समझें तो अत्युक्त न होगी। प्रेमचंद का प्रयत्न सदा यथार्थ की ओर रहा, लेकिन उनसे प्रभावित धारा प्रकृतवाद के मार्ग पर पथभ्रष्ट हो गई।

जैनेन्द्र के 'सुखदा' ने जैसे हठात् हिन्दी उपन्यास कला के क्षेत्र में यथार्थवाद बनाम प्रकृतवाद के संघर्ष को दस-पन्द्रह वर्षों के बाद फिर नये सिरे से उठा दिया है; क्योंकि सुखदा एक यथार्थवादी उपन्यास है। ऐतिहासिक परिस्थितियों ने हमारे राष्ट्रीय जीवन में जो अनेक समस्याएँ पैदा कर दी हैं, 'सुखदा' के लेखक ने उनमें से एक महत्त्वपूर्ण समस्या का जीवन की मर्म-छवियों के माध्यम से मूर्त्त, कलात्मक उद्घाटन किया है। इसके विपरीत 'गर्म राख' एक प्रकृतवादी उपन्यास है। उसमें एक संक्षिप्त कथा-सूत्र में बाँधकर लेखक ने जो कुछ देखा-सुना है या दैनिक जीवन की जिन औसत और असम्बद्ध घटनाओं का वह निस्संग द्रष्टा-मात्र रहा है, उन सबका हू-ब-हू, यथा-तथ्य, खूब ब्यौरे के साथ चित्रण किया है। यहाँ किसी मूलभूत समस्या या यथार्थ-जीवन के सत्य का उद्घाटन करने का प्रयत्न नहीं है। जो है, प्रत्यक्ष दीखता है, वह जैसा कुरूप या साधारण है, उसको ज्यों का त्यों और जहाँ सम्भव हो वहाँ और भी सूक्ष्म रीति से कुरूप और साधारण बनाकर चित्रित कर देना ही लेखक को अभीष्ट रहा है।

गत वर्षों से हिन्दी के अधिकतर कथाकार इस दूसरी धारा को ही अपनाते आये हैं। प्रेमचन्द का प्रयत्न सदा यथार्थ की ओर रहा, इसीलिए वे गोदान में अनेक अमर पात्रों की सृष्टि कर सके। लेकिन बाद के हिन्दी कलाकारों का प्रयत्न प्रकृत, यथातथ्य चित्रण की ओर होता गया। देश-काल की परिस्थितियों ने भी इस कला-विरोधी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। उपन्यास के क्षेत्र में जो प्रभाव बाहर से आये,

उन्होंने बाह्य घटनाओं के यथातथ्य चित्रण से कुछ लेखकों को विमुख करके फ्रायडी दृष्टिकोण मनुष्य के अन्तर्मन में होने वाले पाशविक वृत्तियों या दमित यौन-भावनाओं के उत्पात को ज्यों का त्यों चित्रित करने की ओर उन्मुख किया। तात्पर्य यह कि प्रेमचन्द के बाद के कथाकारों का दृष्टिकोण भौतिकवादी हो या आदर्शवादी; वे मार्क्स से प्रभावित हों या गांधी या फ्रॉयड से; उन्होंने बाह्य सामाजिक जीवन के आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों के चित्र खींचे हों या व्यक्ति-विशेष की विशिष्ट मानसिक प्रतिक्रियाओं और यौन-सम्बन्धी अन्तर्द्वन्द्वों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंकन किया हो; चाहे उनके उपन्यासों की विषय-वस्तु सामयिक हो या ऐतिहासिक, पर उन सबकी प्रवृत्ति यथातथ्य प्रकृत चित्रण की ओर ही रही है।

इन सभी उपन्यासों में ऊपर से दिखने वाले लेखक के दार्शनिक विचारों से उत्पन्न दृष्टि-भेद तो काफ़ी महत्त्वपूर्ण लगते हैं लेकिन वास्तव में उनकी कला में कोई तात्विक भेद नहीं है। उनके अधिकांश पात्र अपने दैनंदिक जीवन के व्यक्तिगत या आर्थिक सामाजिक वैषम्य से कुंठित, खंडित और क्षुद्रताओं और वासनाओं से आक्रान्त होते हैं। उनकी ही जीवन-परिस्थितियों का इनमें ज्यों का त्यों चित्रण रहता है। लगता है जैसे मनुष्य खो गया है, क्योंकि पुरानी या नई किसी भा नैतिकता से पात्रों का सम्बन्ध नहीं दीखता। नैतिकता के बिना मनुष्य की सामाजिकता नहीं रहत। और सामाजिकता के बिना मनुष्य समाज-सम्बन्धों में पड़कर ही विकसित होने वाला मूर्त्त मानव नहीं रह जाता, जो अपने इतिहास का, सभी भौतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माता है। प्रकृतवादी उपन्यासों में मनुष्य अपनी मनुष्यता, व्यक्तित्व और ऐतिहासिक-सामाजिक महत्ता खोकर ऐसा ही यन्त्र या बायोलोजीकल (Biological) प्राणी बन जाता है और कला की मूल-वस्तु 'विचार' न होकर अन्तर या बाह्य जीवन की कोई घटना बन जाती है।

इस आलोचना में इस प्रसंग को छेड़ना इसलिए जरूरी हो गया कि भाषा की सूक्ष्मवत्ता, स्फुट उक्तियों की मार्मिकता, रूप-गठन और रचना-तन्त्र की न्यूनाधिक सुघरता के बावजूद इन सभी कृतियों के पात्रों में व्यक्तित्व का अभाव है, इसलिए युग जीवन के सत्य को प्रकट करने वाले किसी सारवाही विचार का उनमें अभाव है। मार्मिकता और आंगिक एकसूत्रता का भी अभाव है। निस्सन्देह इतने अभावों को लेकर कोई भी कलाकृति श्रेष्ठ नहीं हो सकती। इसलिए 'गर्म राख' और 'सुखदा' की एक साथ समीक्षा करने का अर्थ ही है कि मैं हिन्दी-उपन्यास-क्षेत्र की इस विषम स्थिति की ओर भी संकेत कर दूं। 'सुखदा' एक अपवाद है जिस तरह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा में एक अपवाद है। रवीन्द्र और शरत् के बाद ये दोनों कृतियां भारतीय साहित्य में यथार्थवादी

परम्परा की बेजोड़ मिसालें हैं। इन कृतियों के पूरे सौन्दर्य अवगत होने में सम्भव है कि हमारे कथाकारों और आलोचकों-पाठकों को कुछ समय लगे क्योंकि परिस्थितियों ने कलाभिरुचि को सामान्यतः सतही बना दिया है और प्रकृत-चित्रण की परम्परा ने अभी हमारी सौन्दर्य-दृष्टि को मलिन कर रखा है। लेकिन श्रेष्ठ कलाकृति में यह शक्ति भी होती है कि वह अपने प्रभाव से अपने सौन्दर्य के पारखी पाठक पैदा कर सके। जो भी हो 'सुखदा' ने एक नए धरातल पर इस संघर्ष का सूत्रपात्र कर दिया है। इसकी अपेक्षा में श्रेष्ठ कला-सृजन का पथ हमारे कथाकारों को खोजना है। पर हमें यहाँ 'गर्म राख' को इसकी पृष्ठभूमि में रखकर ही जाँचना अभीष्ट है।

'गर्म राख' की कहानी वैसे तो बहुत संक्षिप्त है, किन्तु लेखक ने उसे लगभग साढ़े पाँच सौ पृष्ठों का विस्तार दिया है। इतना विस्तार इसलिए संभव हो सका कि मूल-कथा से जिन घटनाओं का बहुत दूर का नाता था उनका भी पूरे व्यौरे के साथ लेखक ने वर्णन किया है और चूँकि कथा किसी मूल समस्या का उद्घाटन नहीं करती इसलिए यह आनुषंगिक व्यौरे मूल को बिना छुए भी समानान्तर दौड़े चले जाते हैं। मूल कथा केवल इतनी है कि जगमोहन निम्न मध्य-वर्ग का एक तरुण कवि है। वह अपने ही प्रयत्नों से बी० ए० की ड्योढी पार कर चुका है लेकिन अब आगे पढ़ाई जारी रखना उसकी सामर्थ्य से बाहर है। बी० ए० की डिग्री कहीं अच्छी नौकरी पाने में सहायक नहीं होती। लाहौर में जहाँ यह घटना घटित होती है, कोई एक मनचले क्षुद्र मनोवृत्ति वाले कवि चातक भी हैं, जो बिना देखे ही नवोदित लेखिका कुमारी सत्या को अपने प्रेम-जाल में फाँसने के लिए एक संस्कृति-समाज की व्यूह रचना करते हैं, जिसमें जगमोहन और सत्या दोनों उपमन्त्री चुने जाते हैं। इसके बाद कहानी चातक जी आदि को छोड़कर वस्तुतः जगमोहन और सत्या के आकर्षण-विकर्षण की कहानी बन जाती है। सत्या जगमोहन से प्रेम करने लगती है, और जगमोहन यद्यपि उससे प्रेम नहीं करता, बल्कि सत्या की रिश्ते में लगने वाली एक बहन द्रौपदी या 'दुरो' की ओर आकृष्ट होता है, फिर भी सत्या का आना-जाना उसके यहाँ लगा ही रहता है। और सत्या न केवल किसी न किसी रूप मे अपने वेतन के सारे पैसे दे-दिलवाकर तथा एक प्रोफेसर के घर उसकी ट्यूशन लगवाकर जगमोहन को एम. ए. की पढ़ाई जारी करने के लिए साधन जुटा देती है, बल्कि शाम-अँधेरे जगमोहन जब उसको घर छोड़ने के लिए एकान्त गलियों और मैदानों के रास्ते जाता है तो उस समय या खुद उसकी बैठक में आकर अपने सामीप्य से उसे अपने निकट आने का अवसर भी देती है। जगमोहन को अपने मन पर चाहे जितना काबू हो पर शरीर की भाषा उसे विचलित कर देती है, और एक दिन जब बाहर बारिश हो रही थी, सत्या ऊपर से नीचे तक भीगी उसके एकान्त कमरे में आ-दाखिल हुई और उसके कपड़े

लेकर बदलने लगी तो वह एक क्षण के लिए अपने मन पर भी क़ाबू खो बैठा। शारीरिक तृप्ति से जब उसके भीतर का तूफान शान्त हो गया और सत्या ने घुमा-फिराकर विवाह की बात कही तो उसे लगा जैसे सन्तान की आशंका पैदा करके वह उसे जबरन आजीवन के लिए बांध लेना चाहती है। उसे यह सत्या का षड्यन्त्र और 'ब्लैकमेल' लगा और यद्यपि वह खूब जानता था कि दुरो साम्यवादी कार्यकर्ता हरीश से प्रेम करती है और वह उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकेगा, क्योंकि उसके मन मे प्रेम का उच्छ्वास तो पैदा होता है पर ऐसा तूफ़ान नहीं उठता कि वह उसमे अपना सब कुछ स्वाहा करने के लिए बेचैन हो जाए। अपनी मध्यवित्त भावनाओं की सीमा में उसने प्रेम की भावना को भी हिसाब-किताब और 'कैलक्यूलेशन' (Calculation) की दुनियादार आँखों से देखा-समझा है। फिर भी न जाने क्यों वह सत्या के मूक समर्पण और आत्मत्याग को. जिनमें उसे आर्थिक लाभ ही लाभ रहा, स्वीकार न कर सका।

दुर्भाग्य से लेखक ने सत्या के अन्तर मे झाँकने का हमें कहीं मौका नहीं दिया कि हम जान पाते कि उसका प्रेम सच्चा था या उसके पीछे भी दुनियादारी की भावना थी। सच तो यह है कि लेखक ने किसी भी पात्र के अन्तर में झाँकने का मौका पाठक को नहीं दिया है। अधिकतर पात्र नीच, कुटिल, स्वार्थ-लोलुप, सस्ती ख्याति पाने के उत्सुक और कामुक है, और ऐसे पात्रों की संख्या कम नहीं, दर्जनों से ऊपर है। केवल हरीश, दुरो और एक सीमा तक कवि वसन्त और कलुआ उसके अपवाद हैं। नहीं तो क्या बड़े-बूढ़े और क्या तरुण सभी के सभी पात्र अपने दैनंदिक जीवन की क्षुद्रताओं से घिरे है, बल्कि पूरी तरह आक्रान्त है। और लेखक का उद्देश्य जैसे उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा और मर्यादा का अवगुंठन उठाकर उन्हें नंगा कर देना ही है। हरीश और दुरो इसलिए शायद नंगे नहीं किए गये क्योंकि उनका अपना कोई व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन नहीं है। वे अपने निजी रूप में क्या सोचते-समझते हैं, लेखक ने उन्हें इतना निकट लाकर हमारे सामने नहीं रखा। वे साम्यवादी है और दिन-रात मजदूर आन्दोलन और राजनीतिक वाद-विवाद मे ही तन्मय दीखते है। इस तरह 'गर्म राख' के किसी पात्र मे अपना व्यक्तित्व नहीं है। जो क्षुद्र और पतित हैं उनमें मनुष्यता होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु जो आन्दोलनकारी हैं वे अपनी मनुष्यता को दबाकर कोरे आन्दोलनकारी है। जगमोहन भी सत्या को ठुकराकर और इसके साथ ही अपने एम.ए करने के सपनों को तिलाञ्जलि देकर, ऐसा ही निर्वैयक्तिक आन्दोलनकारी बन जाना जीवन का चरम साध्य समझने लगता है। ठुकराई जाने पर सत्या एक काले-कलूटे, मोटे-थल्ले मेजर से शादी करके अफ्रीका चली जाती है और जगमोहन उससे बिना मिले ही स्टेशन से मन में तर्क-वितर्क करता हुआ लौटता है—क्या असफल प्रेम की परिणति आत्महत्या ही है? और हरीश के उदाहरण

से वह इस नतीजे पर पहुँचता है कि मानव-प्रेम में ही मानव का विकास है, और इस तरह उसके मन में उस द्वैत की पुष्टि होती है, जिसमें किसी एक के प्रति प्रेम और मानव-मात्र के प्रेम में एक नक़ली विरोधाभास की कल्पना की जाती है। उर्दू के कवि 'फ़ैज' की यह पंक्ति—

"और भी दुख हैं जमाने में मोहब्बत के सिवा" जैसे इस नक़ली विरोधाभास को उसके निकट पुष्टि देने वाला मन्त्र बन जाता है। लेखक ने शायद इसी को समस्या का रूप देना चाहा है, पर वास्तव में यह कोई मौलिक समस्या नहीं है।

इसके विपरीत 'सुखदा' में साहित्य की श्रेष्ठतम यथार्थवादी परम्परा का निर्वाह आरम्भ से अन्त तक हुआ है। विचार-वस्तु के मूल में हमारे आधुनिक जीवन की ऐतिहासिक परिस्थितियों से निर्धारित एक मौलिक समस्या है। और इस समस्या के मूर्त्त कलात्मक उद्‌घाटन में जैनेन्द्र जी ने ऐसे सजीव पात्रों की सृष्टि की है, जिनके अन्तर-बाह्य जीवन का द्वन्द्व हमारे मन में तीव्र मार्मिक संवेदना जगाता है। उपन्यास की रचना-प्रणाली भी श्रेष्ठ यथार्थवादी कला की द्योतक है। मूल समस्या को चरम रूप में पहले ही पृष्ठ में उपस्थित करके वे अन्त तक उनका मूर्त्त उद्‌घाटन करते गये हैं। आदि से अन्त तक कहीं कोई शब्द, कोई घटना-चित्र, कोई पात्र या संकेत फ़ालतू या आरोपित नहीं है। कहानी का वर्णन कहीं औसत दर्जे का यथातथ्य और दैनंदिक जीवन की क्षुद्रताओं की परिधि में बँधा एकांगी नहीं है कि उसमें पात्रों का यथार्थ व्यक्तित्व ही छिप जाय और उनके पारस्परिक सम्बन्धों का सत्य आँख में ओझल हो जाय।

कुछ मित्रों का विचार है कि जैनेन्द्र जी ने कोई नई बात नहीं कही है। वही समस्या उठाई है जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'घर और बाहर' में उपस्थित की थी और जिसे स्वयं जैनेन्द्रकुमार अपने उपन्यास 'सुनीता' में पहले ही उठा चुके हैं। किसी कलाकृति की महत्ता से आँख मीच लने का यह तर्क बड़ा ही निकम्मा है, क्योंकि कलाकृति विज्ञान की हाईपॉथसिस (अनुमान) नहीं होती कि यदि एक वैज्ञानिक का अनुमान प्रयोग-सिद्ध हो जाय और उसी विषय पर दूसरे का अनुमान ग़लत सिद्ध हो तो वह रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जाता है। एक ही समस्या या एक ही विचार का एक ही समय में या आगे-पीछे यदि असंख्य कलाकार भी मूर्त्त अंकन करें तो उन सब की कृतियाँ मौलिक हो सकती हैं, और जीवन की वैविध्यपूर्ण वास्तविकता के विविध पहलुओं का उद्‌घाटन कर सकती है। साहित्य और कला की परम्परा इस बात की साक्षी है। यों 'घर और बाहर' या 'सुनीता' में उठाई गई समस्या से 'सुखदा' की समस्या बिलकुल ही मिलती हो, सो बात भी नहीं है, किन्तु इस भेद का यहाँ विवेचन करना विषयान्तर होगा।

'सुखदा' में अपनी कहानी स्वयं सुखदा ने कही है। विवाह होने के बाद से और अपने पति कान्त को त्यागकर चले आने तक बाह्य जीवन की परिस्थितियों का कुछ ऐसा चक्र चला कि वह और उसके पति अपनी इच्छा के विपरीत एक दूसरे से अलग हटते गये। एक ऐसी गुत्थी पड़ गई जिसका सुलझाना उनके लिए असम्भव हो गया। अपने छोटे-से परिवार की सीमा में बँधे रहने में 'सुखदा' को अभाव अखरता रहता था, उसकी पूर्ति के लिए जब उसने समाज के विशाल आँगन में पाँव रखा तो उसे बाहर ख्याति मिली, आदर और विश्वास मिला लेकिन परिवार का केन्द्र पीछे छूटता गया और बाहर की उपलब्धियों ने अन्तर में जैसे रिक्तता भर दी। अन्तर और बाह्य जीवन के इस वैषम्य ने सुखदा के जीवन में जो समस्या उत्पन्न की, सुखदा उसी की कहानी कहती है।

जैनेन्द्र ने जो समस्या उठाई है, स्थूल रूप में वह यह है कि इतिहास-चक्र ने भारतीय जीवन में भी वह परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं, जिनके कारण नारी-जाति को अब घर की चहारदीवारी में असूर्यंपश्या बनाकर बन्द नहीं रखा जा सकता। नारी परिवार के घेरे के बाहर निकल रही है और अभी चाहे विपरीत परिस्थितियों के कारण वह पूरी सामाजिक प्राणी न बन पाई हो, पर सामाजिक जीवन की हलचलों में भाग लेने की उत्कंठा उसमें जग गई है। जिस बन्द परिवार में नारी गुलाम थी, उसमें घुटन और वैषम्य होते हुए भी एक मर्यादा का बन्धन और सामञ्जस्य था। नारी के बाहर आने से परिवार का सन्तुलन टूट रहा है और समाज के जीवन में चूँकि अभी वह पूरी तरह अपना स्थान नहीं बना पाई, इसलिए नवीनता की उत्तेजना तो वहाँ है किन्तु सामञ्जस्य उसे वहाँ भी नहीं मिल पा रहा, जिससे बाह्य जीवन की उत्तेजनाओं के आवर्त में फँसकर अपने पारिवारिक जीवन के दायित्वों से उसका और भी विच्छेद होता जाता है। परिवार की इकाई टूटती है तो इस अभाव की पूर्ति निश्चय ही बाहर की उपलब्धियों से सम्भव नहीं हो पाती। पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच आधुनिक नारी किस तरह सामञ्जस्य या सन्तुलन स्थापित करे, सुखदा की यही समस्या है, यही साध है। और चूँकि वह ऐसा करने में असमर्थ रही, अपना सब-कुछ उजाड़ और गँवा बैठी, यही उसकी मार्मिक व्यथा है जो किसी भी पाठक को वेदना-सिक्त कर देती है।

सुखदा ने अपनी कहानी में अपने पति कान्त और क्रान्तिकारी नेता हरीश तथा उनके नीचे काम करने वाले मिस्टर लाल में से किसी का उल्लेख पूर्व ग्रह और कटुता से नहीं किया है। उसके पति कान्त आत्मभीरू-से लगते हैं, क्योंकि वह उसकी हर इच्छा पूरी करने को तत्पर दिखते हैं, और उसे क्रान्तिकारी हरीश और मिस्टर लाल के सम्पर्क में आने से कभी अपना अधिकार जताकर रोकते नहीं और शायद

इसी उदारता के कारण वह सुखदा को गँवा भी बैठते हैं। पर सुखदा के विवरण में अन्कही उनके मन की व्यथा इतनी सघन और मार्मिक है कि पाठक की सहज सहानुभूति कान्त के साथ होती है और उनका व्यक्तित्व अपनी भावनाओं को सुखदा के लिए उत्सर्ग कर देने में उभर आता है। हरीश, जिसके प्रति सुखदा श्रद्धानत होती है और मिस्टर लाल जिसके खुले व्यवहार की ओर वह आकृष्ट होती है और दूसरे क्रान्तिकारी जिनके सम्पर्क में वह आती है, उन सब का व्यक्तित्व भी उभरकर सामने आता है, पर उनकी क्रान्तिकारी सरगर्मियाँ अपने अन्तर्विरोध के कारण सुखदा के जीवन की गुत्थी को और उलझा ही देती हैं।

जैनेन्द्र ने जो कहानी कहलाई है उसका स्वर कहीं भी विदग्ध करने वाली मार्मिकता से हटकर औसत और सतही नहीं हुआ है, केवल अन्त में जहाँ हरीश के आदेश पर उसे ही गिरफ़्तार कराके कान्त आत्मग्लानि से भरा घर वापस आता है, और सुखदा इस दुष्कृत्य से मर्माहत हो अपने पति को घृणा और फिर करुणा का पात्र समझती हुई दूसरे दिन न चाहकर भी उसे छोड़कर चल देती है, इसका वर्णन किंचित शिथिल है। दोनों का यहीं विच्छेद होता है, पर इस घटना में मार्मिकता का वह स्वर नहीं जिससे उपन्यास का आरम्भ हुआ है। किन्तु फिर भी सुखदा आदि से अन्त तक एक सुगठित और अनुपम कलाकृति है।

—जनवरी १९५३

२६

झाँसी की रानी

जब कोई देश संघर्ष और संक्रान्ति के युग से गुजरता होता है और जब पुरानी वेश-भूषा, आचार-व्यवहार, रुचि और फ़ैशन आये दिन बदलते रहते हैं और जो भी पुराना होता है वह समाज और राष्ट्र के जीवन को रूढ़ि और परम्परा की ऐसी बोझिल शृंखला के समान लगता है जो हमें आगे बढ़ने से रोकती है, तो ऐसे समय—और यह बात कहने-सुनने में विलक्षण लगती है—साहित्य और कला के सृष्टा अकसर अपनी प्राचीन संस्कृति और इतिहास की ओर उन्मुख होते हैं। कुछ लेखक अपने समकालीन जीवन की क्लान्तिजनक खींचातानी, संघर्ष और परिवर्तन से आक्रान्त होकर पुरातन की काल्पनिक भव्यता में शरण लेते हैं, राजकुमारों और राजकुमारियों की रोमांचपूर्ण प्रेम-गाथाओं से अपने मन की श्रान्ति मिटाते हैं। इतिहास की परम्पराओं के प्रति ऐसे पलायनवादियों का विशेष आकर्षण और मोह हमारे लिए साधारणतया अनुमेय है। लेकिन जब सजग और चेतनाप्राप्त कलाकार प्राचीन काल की विशेष घटनाओं और ऐतिहासिक परम्पराओं की ओर प्रेरणा के लिए मुड़ते हैं तो कुछ उतावले लोगों को इससे अचरज होता है। उन्हें लगता है मानो ये लेखक सामयिक जीवन की व्यापक समस्याओं से कतराना चाहते हैं, और समाज के प्रति अपने उत्तर-दायित्व से बचना चाहते हैं। परन्तु यह तो उतावले, संकीर्ण विचार वालों की असमर्थता है कि वे गलत और सही प्रवृत्तियों में भी भेद नहीं कर सकते। अन्यथा क्रान्ति और संघर्ष के युगों में कलाकार—और कलाकार ही क्यों, संघर्षशील उच्चवर्ग और जनसाधारण भी आमतौर पर ऐतिहासिक परम्पराओं और प्राचीन जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की ओर प्रेरणा के लिए मुड़ते आये हैं। सजग लेखक और कलाकार जब यह अनुभव करने लगते हैं कि वर्तमान की अनस्थिरता और उथल-पुथल निरुद्देश्य नहीं है, कि मनुष्य-जीवन के मानवीय विकास-पथ को प्रशस्त करने के हित ही यह क्रान्ति-परिवर्तन, वर्ग-संघर्ष, ध्वंस और निर्माण होता रहता है, और मनुष्य की यह चिरकालिक मुक्ति-चेष्टा ही प्राचीन इतिहास से हमारे कार्य के विकास की शृंखला का निर्माण करती है तो उन्हें प्राचीन केवल नष्ट तत्त्वों का विषम पुंज ही नहीं नजर आता; बल्कि उन्हें लगता है कि उसमें अनेक स्वस्थ और प्राणवन्त तत्त्व भी हैं जो हमारी स्मृति में निरन्तर कौंधकर हमें प्रेरणा, स्फूर्ति और बल प्रदान करते हैं। ये लेखक और कलाकार इतिहास के गर्त में से इन्हीं तत्त्वों को खोजकर

निकालते हैं और जब संक्रान्ति-युग की अनस्थिरता हमारी दृष्टि-परिधि को सीमित और एकांगी बना देती है, उस समय वह मानव-इतिहास के इन प्राणवन्त, स्थायी तत्त्वों को सामने लाकर हमारे लक्ष्य को अधिक मूर्त्त रूप और हमारे दृष्टिपथ को विस्तार और व्यापकत्व देते हैं। एक प्रकार से यह कार्य इतिहास के पृष्ठ-भाग पर खड़े होकर वर्तमान की प्रगति को जाँचने, समझने और स्फूर्ति देने का प्रथम प्रयास है।

हिन्दी में पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों में अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये हैं, जो दोनों कोटियों में आते हैं। कुछ में इतिहास लेखक की पलायनवृत्ति का आश्रय बना है, कुछ में संघर्ष-भावना का प्रेरक। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों के अतिरिक्त यशपाल की 'दिव्या' और राहुल सांकृत्यायन के दो उपन्यास 'जय यौधेय' और 'सिंह सेनापति' काफ़ी ख्याति पा चुके हैं। इन उपन्यासों में इतिहास के उस अतीत काल को मूर्त्तिमान करने की चेष्टा की गई है जब देश में जनतन्त्र और राजतन्त्र की व्यवस्थाएँ एक-दूसरे पर विजयी होने के लिए संघर्ष में लगी हुई थीं। यह समस्या हमारे लिए आज विशेष रूप से सामयिक महत्त्व की है। हमारी स्वतन्त्रता का क्या स्वरूप होगा, उसमें जनवाद की रूप-रेखा किन मानव-मूल्यों की पीठिका पर खींची जायगी, व्यक्ति और समाज के जीवन में परस्पर सामञ्जस्य और सन्तुलन स्थापित करने की जनवादी कार्य-पद्धति क्या होगी, अधिकार और कर्त्तव्यों का लेखा-जोखा शोषक वर्ग के प्रति पक्षपात और शोषित मानवता के प्रति तिरस्कार का चार्टर तो नहीं बनेगा—ये सारे प्रश्न हैं जो व्यापक और स्थायी महत्त्व के हैं। राहुल और यशपाल के उपन्यास अपनी अनेक कमजोरियों के बावजूद इन मूल प्रश्नों को कलात्मक ढंग से उठाते हैं, जिससे उनका महत्त्व भी ज्यादा है।

वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी के पुराने और मँजे ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। उनके पिछले उपन्यासों में 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' विशेषकर प्रसिद्ध हैं।

अपने नये उपन्यास 'झाँसी की रानी' में उन्होंने एक विशिष्ट सत्य की स्थापना करने की कोशिश की है। वह सत्य यह है कि झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने स्वराज्य के लिए लड़ाई लड़ी, अपने प्रभुत्व के लिए नहीं। इस तथ्य पर परदा डालने के लिए अंग्रेज इतिहासकारों ने चाहे जो दलीलें दी हों, लेकिन भारतीय जनता को तो इसकी सत्यता में कभी सन्देह नहीं रहा। फ्रांस की 'जोन ऑफ़ आर्क' की तरह झाँसी की रानी ने आज़ादी की देवी के रूप में ही हमारे मानस में प्रतिष्ठा पाई है। असंख्य कथाओं और गीतों में रानी लक्ष्मीबाई का गौरव-गान किया गया है। इसलिए वर्मा जी के ५११ पृष्ठों के बृहद् उपन्यास को पढ़कर एक विवेकशील पाठक के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विदेशी इतिहासकारों के कुतर्कों का खंडन करने के लिए उन्होंने उपन्यास न रचकर इतिहास की पुस्तक क्यों नहीं लिखी? क्योंकि मे

यह तो नहीं समझता कि 'झाँसी की रानी' उपन्यास एकदम असफल कृति है, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक घटनाओं के इतिवृत्त को राजनीति, युद्ध-वर्णन और व्यक्त-अव्यक्त प्रेमाभिनय के प्रसंगों से सरस और मांसल बनाने का प्रयत्न अत्यन्त कुघड़ और अपरिपक्व हुआ है।

झाँसी की रानी की वीरता, देश-प्रेम, अंग्रेज़ी सत्ता के विरुद्ध उनका विद्रोह करना और अन्त में चारों ओर से घिरकर वीर-गति को प्राप्त हो जाना—यह अपने आप में ही एक महान् तेजोमय बलिदान की अपूर्व कहानी है। उसे इतिहास के शुष्क पृष्ठों में भी पढ़कर रोमांच हो आता है, और श्रद्धा और क्रोध, करुणा और घृणा से रोम-रोम सिहर उठता है। इसलिए जैसा मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' की भूमिका में कहा है—

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है॥

उसी प्रकार रानी लक्ष्मीबाई का चरित्र भी स्वयं ही काव्य है। उनका नाम सुनते ही प्रत्येक देशप्रेमी भारतीय का हृदय गर्व से फूल जाता है और मनुष्य की उदात्त भावनाएँ और मानवीय वृत्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं, जिससे सहजानुभूति के मार्ग में कोई अवरोध नहीं रहता। इस कारण शैली औरग ठन की अपरिपक्वता और ढीलेपन के बावजूद पाठकों को यह उपन्यास सफल भी लगेगा, क्योंकि उपन्यास में ऐसे अनेक स्थल हैं। विशेषकर अन्तिम भाग में सुन्दर, मुन्दर, काशीबाई, जूही, जवाहरसिंह, गुलाम गौस खां, खुदाबख्स, सागरसिंह आदि अनेक वीरों के पराक्रम, देश-प्रेम और युद्ध में वीर-गति पाने के दृश्य जहाँ हृदय को झकझोर देते हैं और समवेदना से पाठक की आँखें सजल हो जाती हैं, वहाँ अंग्रेज़ों की कूटनीति, विश्वासघात और बर्बरता के प्रति दुर्दमनीय घृणा से हृदय को क्षत-विक्षत भी कर देते हैं। परन्तु यह सन सत्तावन से लेकर अब तक के आज़ादी के संघर्ष के कटु और तीखे अनुभवों द्वारा बने संस्कारों के रूढ़ हो जाने के कारण है। अन्यथा उपन्यास में छोटे-छोटे महत्त्वहीन प्रसंगों को इतना तूल दिया गया है कि लगता है कि उपन्यास-वस्तु पर लेखक का अधिकार नहीं है या फिर उसने पुस्तक का कलेवर बढ़ाने के लिए ही ऐसा किया है।

इसके साथ ही एक बात और है जो आवश्यकता से अधिक खटकती है। यद्यपि वर्मा जी ने रानी लक्ष्मीबाई को वीरता, आत्म-त्याग, दया और सहानुभूति की प्रतिमूर्त्ति के रूप में चित्रित किया है, लेकिन फिर भी पाठक को इस कमी का अनुभव होता है कि लेखक रानी के उज्ज्वल चरित्र में राजनीतिक दूरदर्शिता और बुद्धिमानी का संयोग नहीं करा पाया। झाँसी का शासन-सूत्र हाथ में लेने के पश्चात् ताँतिया टोपे और नाना धोंधूपन्त से महीनों तक—जब तक कि जनरल रोज़ ने आकर झाँसी के

किले का घेरा नहीं डाल दिया—कोई सम्पर्क न स्थापित करना, अपने दत्तक पुत्र दामोदर राव के उपनयन-संस्कार के बहाने सारे उत्तर भारत से बुलाये गये अंग्रेज-विरोधी सरदारों, सामन्तों और नेताओं से मंत्रणा करके विद्रोह की तिथि आदि तय कर लेने के पश्चात् भी इस विद्रोह के उद्देश्य, और विजय के बाद किसी भी प्रकार के सामाजिक निर्माण का कार्यक्रम न बना पाना, अर्थात् अपने समय की चेतना के अनुसार भी स्वराज्य की कोई रूपरेखा न गढ़ पाना, मोतीबाई के कहने से अंग्रेजों के जासूस पीर अली पर विश्वास कर लेना और बुरहानुद्दीन के सुझाने पर भी पीर अली की गतिविधि का निरीक्षण न करना और अन्त में राव साहब द्वारा ग्वालियर में अपने को पेशवा घोषित करते समय भी 'स्वराज्य' के नाम पर कोई प्रतिवाद न करना आदि बातें यह बताने के लिए काफ़ी हैं कि वर्मा जी ने रानी को भावना के बल पर ही अंग्रेज़ों का विरोधी चित्रित किया है। यह भावना कितनी भी महती, उदात्त और स्पृहणीय क्यों न हो जनता के असन्तोष को सचेतन नहीं बना पायी। 'स्वराज्य' शब्द की अभिधा उसके मानस में कोई स्पष्ट और ठोस हक़ीक़त नहीं बन पायी। इसके विपरीत रानी द्वारा राव साहब की पेशवाई को निर्विरोध स्वीकार कर लेने से तो यही सिद्ध होता है कि उनके निकट भी 'स्वराज्य' का अर्थ पेशवा का राज्य ही था, जनतान्त्रिक राज्य नहीं। वर्मा जी ने रानी के मन की प्रतिक्रियाओं को जानने का अवसर पाठकों को नहीं दिया है, इससे ऐसा निष्कर्ष निकालने को बाध्य होना पड़ता है, और लेखक के दावे में और रानी के व्यवहार में आद्यन्त एक वैषम्य मिलता है। वैसे यह वैषम्य स्वाभाविक है, क्योंकि लेखक का दावा ऐतिहासिक परिस्थिति पर ऊपर से लादा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि सन् सत्तावन के विद्रोह का नेतृत्व भारत के सामंत वर्ग के उन देशभक्त सूरमाओं के हाथ में था जो अंग्रेज़ों के साथ मिलने को तैयार न थे। उनके निकट 'स्वराज्य' का अर्थ जनतन्त्र नहीं, पेशवा-राज्य ही था। इस बात को स्वीकार करने से सन् सत्तावन के विद्रोह का साम्राज्यवाद-विरोधी रूप मलिन नहीं हो जाता, क्योंकि उस समय जनता की चेतना भी इससे अधिक न थी, और यह विद्रोह मूलतः साम्राज्यवाद-विरोधी और जन-हित में था। इस कारण उस पर 'जनवाद' की विचारधारा का आरोपण ऊपर से ही किया जा सकता है अन्यथा अपने सीमित दायरे के अन्दर भी वह सदा अभिनंदनीय बना रहेगा, क्योंकि वह विद्रोह हमारे राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का प्रथम रूप था।

'झाँसी की रानी' को पढ़कर खेद इस बात पर भी होता है कि लेखक ने रानी को जितने विचारों की पूँजी का धनी बनाया है, वह अत्यन्त स्वल्प और साधारण है। स्त्री-पुरुषों को सदा कुश्ती लड़ने, मलखम्भ करने, तीर चलाने, घोड़े की सवारी करने और तैरना सीखने के लिए आदेश देते रहने के अतिरिक्त बात-बात में शिवाजी,

छत्रसाल, भीम, अर्जुन आदि की दुहाई देने तक ही लेखक ने रानी लक्ष्मीबाई की बौद्धिक चेतना को सीमित कर दिया है। अपने पति गंगाधर राव के ललित-कला, नाट्य-नृत्य और संगीत-प्रेम की रानी के मुख से भर्त्सना कराके लेखक ने रानी के चरित्र का 'आदर्शीकरण' किया है, और उसे उदात्त मानवी न बनाकर एकांगी बना दिया है। इसके विपरीत रानी को मानवीय गुणों से विभूषित करने के लिए वसन्तोत्सव के अवसर पर हल्दी-कुंकुम की रस्म अदा करते समय अन्य स्त्रियों से बार-बार सस्ता परिहास कराके लेखक ने पाठक के मन में रानी की संस्कृति, सुरुचि और विनोदशीलता के प्रति भी शंका पैदा कर दी है। और यह सब वर्मा जी ने इस भ्रम में पड़कर किया है कि रानी के मन में दिन-रात अंग्रेज़ों का विरोध करने की भावना ही बलवती रहती थी, अतः रानी का चरित्र-चित्रण करते समय जीवन के अन्य प्रासंगिक कार्य-व्यापारों को कोई महत्त्व नहीं देना चाहिए। परन्तु रानी को गौरवान्वित करने के इस एकांगी प्रयत्न द्वारा वर्मा जी ने उनके चरित्र को अन्य बुनियादी और व्यापक मानव-सहानुभूतियों और सांस्कृतिक जीवन की विभूतियों से निर्ममतापूर्वक वंचित कर दिया है। इससे रानी का चरित्र एकांगी ही बन पाया है, उसमें सम्पूर्णता का नितान्त अभाव है। ऐसा ही अन्य पात्रों के बारे में भी हुआ है। ऐतिहासिक उपन्यासकार की तरह वर्मा जी वस्तुदर्शी नहीं हो पाये और रानी के समय के भारत के जीवन का, उसके समस्त अंगों का सामंजस्यपूर्ण चित्रण नहीं कर पाये।

ये त्रुटियां इसलिए और भी बड़ी लगती हैं कि वर्मा जी की शैली वही सतही ढंग की है, जिसमें पात्रों का केवल बाहरी, सार्वजनिक जीवन ही अंकित होता है, आन्तरिक, व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक नहीं। इसी कारण लेखक अपने पात्रों के बाह्य कार्यों को मानवीय राग-द्वेष की पृष्ठभूमि प्रदान करने वाले, उन्हें बल, स्फूर्ति, प्रेरणा और लक्ष्य देने वाले चेतन और अवचेतन भाव-विचारों के मनोवैज्ञानिक मूल स्रोतों तक नहीं पहुँच पाया।

इन सब त्रुटियों के बावजूद इस उपन्यास का सामयिक महत्त्व है, और प्रत्येक हिन्दी-पाठक को उसे पढ़ना चाहिए। रानी लक्ष्मीबाई, ताँतिया टोपे और अनेक पात्र-पात्रियों के बारे में औपन्यासिक ढंग से इतनी ज्ञातव्य सामग्री संकलित करके वर्मा जी ने वास्तव में उपयोगी कार्य किया है और आज जब देश में साम्प्रदायिक द्वेष का इतना बोलबाला है, हमारे लिए यह जानना शिक्षा-प्रद होगा कि हमारी आज़ादी के प्रथम युद्ध में रानी लक्ष्मीबाई के साथ दो-सौ पठानों ने अंग्रेज़ों से लड़ते-लड़ते प्राण दिये थे, और पठानों के नेता गुल मुहम्मद ने रानी की चिता ठंडी हो जाने के बाद चबूतरा बनाया था।

साम्राज्यवाद के विरुद्ध देश की आज़ादी के लिए हिन्दू-मुसलमानों का एक

साथ मिलकर रक्त बहाने का यह अन्तिम उदाहरण न था और न रानी लक्ष्मीबाई के जीवन-चरित्र को लेकर लिखे जाने वाले उपन्यासों में वृन्दावनलाल वर्मा का उपन्यास ही अन्तिम उपन्यास होगा।

—जून १९४७

२७

पथ की खोज

० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' के दो खंड मेरे सामने हैं। इस बृहद् उपन्यास का तीसरा खंड अभी प्रकाशित होने को है। वैसे तो पूरा उपन्यास सामने होने पर ही समग्र रूप से उसका समुचित और सन्तुलित मूल्यांकन सम्भव हो सकेगा, लेकिन चूंकि उसका प्रत्येक खंड अपने आप में भी पूर्ण कहा जा सकता है, इसलिए एक सीमा तक इन दो खंडों के अलग से मूल्यांकन का भी औचित्य है।

डा० देवराज ने उपन्यास के आरम्भ में 'प्रस्तावना के सूत्र' दिये हैं, जो मुझे अनावश्यक ही लगे। क्योंकि किसी भी कलाकृति में स्वयं इतनी मूर्त्तता और प्रेषणीयता होनी चाहिए कि वह उसमें प्रतिबिम्बित जीवन की अनुभूति ही नहीं, बल्कि लेखक के मन्तव्य और गूढ़ आशय से भी पाठक को सहज अवगत करा सके। और फिर इस उपन्यास में तो प्रस्तावना के सूत्रों की इसलिए भी आवश्यकता न थी कि उसके पात्र आद्यन्त इन्हीं विचारों की बाल की खाल उधेड़ते रहे हैं। वस्तुतः प्रस्तावना में लेखक के शब्दों के अन्दर एक प्रच्छन्न आग्रह है कि पाठक उपन्यास को उस दृष्टि और भावना से ही पढ़ें जिस दृष्टि और भावना से लेखक ने उसे लिखा है और इस प्रकार उपन्यास का उतना ही मूल्य आंकें जितना मूल्य लेखक के निकट उसका है। इस आग्रह का सम्मान करते हुए भी मैं जीवन और कला-सम्बन्धी अपने अनुभव, विचारकोण और मूल्यों को भुला नहीं सका हूँ। इस कारण पूरी हार्दिक सहानुभूति से 'पथ की खोज' को पढ़कर मैंने जो पाया है, उसके आधार पर ही उसका मूल्य आँकने के लिए विवश हूँ। दूसरे खण्ड (स्वप्न और जागरण) में उपन्यास का प्रधान पात्र चन्द्रनाथ अपनी नवविवाहिता पत्नी आशा को एक पत्र में लिखता है, '···तुम अपने बारे में सब-कुछ स्वयं ही जानने का दावा क्यों रखो? हम में कुछ चीजें होती हैं जिन्हें दूसरे ही देख सकते हैं—।' प्रस्तावना के सूत्रों के बावजूद इस उपन्यास पर भी यह नियम लागू करना उचित होगा, मेरा केवल इतना ही आग्रह है।

उपन्यास की कहानी दुहराने से पहले दो-तीन साधारण बातों की ओर संकेत करना जरूरी है। प्रेमचन्द के बाद से हिन्दी कथा-साहित्य के सामने एक गम्भीर (यदि उसे संकट न कहें तो) समस्या उपस्थित रही है, जिसका अभी तक समाधान नहीं हुआ है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' में प्रेमचन्द यथार्थवाद के निकट

पहुँचे थे—उनके जीवन-चित्रण में अन्तर्जगत और बहिर्जगत की वह मूर्त्त कलात्मक समन्विति थी जो पात्रों और घटनाओं में निहित सामान्य और विशिष्ट तत्वों को आंगिक रूप से एक-दूसरे से सम्बद्ध करती है, जिससे उनके अनेक पात्र, टाइप—भारतीय जन-जीवन के विभिन्न वर्गों के सजीव प्रतिनिधि चरित्र—बन सके और इस प्रकार अपनी जीवन-क्रिया के माध्यम से हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की मूलभूत समस्याओं, उनके अन्तर्विरोधों का उद्घाटन करके उनके कलात्मक समाधान की अनुभूति करा सके।

उनके पात्र भी पथ की खोज करते हैं (और यही बात शरत्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ के पात्रों के बारे में भी कही जा सकती है), लेकिन वह कालरात्रि के अन्धकार में मनमाने पथों पर निरुद्देश्य नहीं भटकते फिरते, बल्कि चेतन अथवा अवचेतन रूप से उन्हीं प्रश्नों से आजीवन उलझते रहते हैं, जो अपने समय के सबसे महत्त्वपूर्ण और केन्द्रीय प्रश्न हैं। और वास्तविकता के मर्म को पकड़ने के इस अविराम प्रयत्न और संघर्ष में चाहे अलादीन का चिराग़ उनके हाथ न लग पाता हो, लेकिन उनकी असफलता के गर्भ में भी समाधान के इशारे छिपे रहते हैं। उदाहरण के लिए, गोदान का होरी अपना पथ नहीं खोज पाता, लेकिन उसकी मृत्यु भारतीय जनता के एकमात्र प्रगति-पथ को आलोकित कर देती है।

प्रेमचन्द के बाद 'गिरती दिवारें' मे उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और 'मनुष्य के रूप' में यशपाल भी यथार्थवाद की सीमा तक पहुँचते है और चेतन और धर्नासह, सोमा आदि के रूप में सजीव पात्रों की सृष्टि करने में सफल होते है (खेद है कि रांगेय राघव के उपन्यासों के अध्ययन का अभी तक मैं अवकाश नहीं निकाल पाया हूँ), लेकिन प्रेमचन्द की परम्परा के इन दोनों कलाकारों की कृतियों में अक्सर यथार्थवाद और प्रकृतवाद का सम्मिश्रण रहता है, जिससे उनमें मूल कथा के केन्द्रीय प्रवाह से हट कर असंगत घटनाओं और परिस्थितियों को अनावश्यक तूल देकर चित्रित करने का आग्रह प्रबल हो जाता है, या कहीं-कहीं घटनाओं का चित्रण इतना यथातथ्य और प्रकृत रूप धारण कर लेता है कि उसमें वास्तविकता एकांगी और सतही बन जाती है और अपनी सम्पूर्णता, मार्मिकता, सार्थकता और मूर्त्तता खो देती है, अर्थात् यथार्थ नहीं रहती। हमारे देश की सामाजिक परिस्थितियों में पिछले पन्द्रह वर्षों में कुछ ऐसा परिवर्तन आया है कि जन-जीवन से सम्पर्कित ये यथार्थवादी कलाकार भी अपनी रचनाओं में पूरी तरह यथार्थवाद का निर्वाह नहीं कर पाए हैं और जहाँ-तहाँ प्रकृतवाद के मरुस्थल में भटक जाते हैं।

किन्तु अन्य उपन्यासकार—'अज्ञेय', इलाचन्द्र जोशी और भगवतीचरण वर्मा—तो रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द के यथार्थवाद से विच्छेद करके प्रकृतवाद और

प्रतीकवाद के बीहड़ जंगल में दिशाज्ञान खोकर पथ-भ्रष्ट हो गये हैं कि वह पथ की जितनी ही खोज करते हैं, वास्तविकता से वह उतने ही दूर भटकते जाते हैं और उनके उपन्यासों में कथा-शिल्प, उक्ति-चमत्कार और कृत्रिम मनोवैज्ञानिकता या कृत्रिम यथा तथ्यता द्वारा जीवन-वास्तव का रिक्त स्थान भरने की असाध्य चेष्टा रहती है। लेखक अपनी ओर से अपने प्रिय पात्रों को असाधारण प्रतिभा से मंडित करके, उन्हें व्यक्तिवादी और विशिष्ट बनाकर, समाज के व्यापक जीवन से इन असम्पर्कित, व्यक्तित्वहीन और अपने व्यक्तिगत जीवन की क्षुद्रताओं से कभी ऊपर न उठ पाने वाले स्वार्थपरक और असामाजिक पात्रों में एक कृत्रिम व्यक्तित्व, उदात्तता और सजीवता भरने की चेष्टा करते हैं, और सामाजिक वास्तव के अन्तर्विरोधों से अनुस्यूत व्यापक प्रश्नों के स्थान पर अपने मन से गढ़े गये, व्यापक जीवन से संगति न रखने वाले अथवा मात्र आनुषंगिक प्रश्नों को उठाकर उनकी ऊहापोह में एक कृत्रिम बौद्धिकता या मनोवैज्ञानिकता का उपक्रम और एक कृत्रिम संघर्ष का रूपक रचते हैं। यही कारण है कि साधारण पाठक इन पात्रों के सुख-दुःख के सहभागी नहीं बन पाते और उनकी सफलता-विफलता के प्रति उदासीन बने रहते हैं। और यही कारण है जिससे हमारा कथा-साहित्य अपनी प्रान्तीयता की सीमाओं से बाहर नहीं निकल पा रहा। उसमें जीवन-वास्तव का प्रतिबिम्ब अक्सर इतना विकृत, एकांगी और औसत दर्जे का होता है कि विश्वजनीन नहीं हो पाता। यह एक गम्भीर स्थिति है, लेकिन हमारे आलोचक इस परिस्थिति के मूल कारणों का उद्घाटन न करके केवल कथा-साहित्य की परिमाण-वृद्धि से, या किसी उपन्यास में यत्र-तत्र आ गये सजीव, यथार्थ चित्रों से ही सन्तोष कर लेते हैं।

इन बातों का यहाँ उल्लेख करने का औचित्य इसलिए है कि डा० देवराज का उपन्यास 'पथ की खोज' यथार्थवादी परम्परा का उपन्यास नहीं है, बल्कि वह प्रकृतवादी उपन्यासों की कोटि में ही रखा जा सकेगा।

यह निम्न मध्यवर्ग के एक ऐसे विचारवान्, पढ़े-लिखे लेकिन संस्कारों से अत्यन्त पिछड़े नवयुवक की कहानी है, जिसका विचार और कर्म के परस्पर-विरोधी क्षेत्रों में बँटा हुआ द्वैतपूर्ण जीवन आधुनिक वास्तविकता की एक सामाजिक-सांस्कृतिक दुरभिसन्धि का परिणाम है, जो व्यक्ति को अपने सांस्कृतिक पिछड़ेपन के प्रति अचेतन, अपने किताबी ज्ञान के प्रति अहंकारी और जीवन-संघर्ष में आत्मभीरु, व्यवहारतः आत्मनिष्ठ और स्वार्थपरक बना देती है।

यह कोई नयी समस्या नहीं है, और न साहित्य में पहली बार ही प्रतिबिम्बित हुई है। हमारे मध्यवर्ग का अधिकांश भाग इस वैषम्य का शिकार रहा है और आज भी है। हमारे अधिकतर नवयुवक और नवयुवतियों के पढ़-लिखकर पाये आधुनिक

विचारों और अपने पारिवारिक जीवन से पाये पुराने सामन्ती संस्कारों में कोई सामंजस्य नहीं होता। इससे उनके व्यक्तित्व में एक ऐसा द्वैत पैदा हो जाता है कि वह सोचते कुछ हैं और उनकी भाव-प्रतिक्रिया और आचरण कुछ दूसरा ही होता है। इनमें से अधिक साधन-सम्पन्न ऊपरी टीमटाम बनाकर अपने आचरण में अंग्रेजों का नक़ल करते रहे हैं और अपनी पिछड़ी भाव-प्रतिक्रियाओं पर आवरण डालने के लिए भारतीयता की गन्ध आने वाली हर चीज़ की ओर नाक चढ़ाकर देखने में ही आधुनिकता की मर्यादा समझते आये हैं। जिनके पास इस वर्णसंकर संस्कृति को अपनाने के साधन नहीं जुट पाये, वे मनुष्य को आत्मभीरु बना देने वाली एक ऐसी कुण्ठा से ग्रस्त रहे हैं, जो उन्हें विचारों में तो बड़ा क्रान्तिकारी लेकिन आचरण में अपने तत्काल स्वार्थों की रक्षा की भावना से सब ऊँच-नीच सोच-साच कर चलने पर बाधित करती रही है। इन तात्कालिक स्वार्थों को आदर्श-संयत सिद्ध करके एक मिथ्या औचित्य-भावना को पुष्ट करने में उनका किताबी ज्ञान-विज्ञान, दर्शन और साहित्य अवसर के अनुसार मनोनुकूल तर्कावलि प्रदान करते रहने में सहायक होता रहा है। लेकिन इन नौजवानों के दो टुकड़ों में बँटे व्यक्तित्व सामाजिक जीवन में अनेक समस्याएँ पैदा करते हैं। किताबी ज्ञान से वंचित उनकी पत्नियाँ उन्हें तुच्छ और अयोग्य और एक प्रकार से अपनी सामाजिक प्रगति के मार्ग में बाधा बनकर खड़ी दिखाई देती हैं, माता-पिता गँवार और अदूरदर्शी दिखायी देते हैं, और इस प्रकार एक ऐसे पारिवारिक संघर्ष का सूत्रपात होता है जिसकी जड़ें हमारे ऐतिहासिक विकास की भूमि में गड़ी हुई हैं। यथार्थवादी लेखकों ने जब कभी इस समस्या को अपनी रचनाओं में उठाया है, उनका प्रहार इस वर्ण-संकर संस्कृति की असामाजिकता, स्वार्थपरता और अमानवीयता पर ही हुआ है, यद्यपि त्यागी हुई पत्नी, अपमानित माता-पिता के प्रति सहानुभूति दिखाकर वह हमारे फिलिस्तीन वर्ग के कोपभाजन बनते रहे; क्योंकि ऊपर से देखने पर तो यही लगता था कि ये लेखक आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की खिल्ली उड़ा रहे थे और पिछड़ेपन और पुराने संस्कारों की प्रशस्तियाँ गा रहे थे। वास्तव में वह आधुनिकता के वेश में छिपे अमानवीय सम्बन्धों का विरोध और फटे-पुराने चिथड़ों में लिपटे मानवीय सम्बन्धों—अर्थात् मानवीय जीवन-मूल्यों और नैतिकता का समर्थन कर रहे थे। इन रचनाओं में जिस संघर्ष का चित्रण होता था वह वास्तविक था, कल्पना-जन्य नहीं। लेकिन डा० देवराज का उपन्यास इस परम्परा का अनुगमन नहीं करता, यद्यपि उसकी कहानी एक साधन-विहीन परिवार में से पढ़-लिखकर निकले एक नौजवान की कहानी है। बातचीत और बहस में कभी-कभी मतभेद दिखाकर उसमें संघर्ष का आभास पैदा किया गया है, और वह भी अवसर स्वाभाविक नहीं है; बल्कि कल्पित और यत्न-साध्य है,

अन्यथा उसमें कहीं भी किसी वास्तविक संघर्ष का चित्रण नहीं है।

अब उपन्यास की कहानी को लें।

बदायूं के एक निम्न मध्यम वर्ग का विद्यार्थी चन्द्रनाथ एम. ए. में फर्स्ट डिवीज़न से पास होता है। वह कुशाग्र बुद्धि है, स्वभाव से ही भाव-प्रवण है; कवि और लेखक भी है। माता-पिता के अभाव में उसके बड़े भाई ही उसका खर्च उठाते रहे हैं, जो स्वयं एक छोटी-सी कपड़े की दुकान करते हैं। चन्द्रनाथ की पत्नी सुन्दर और आकर्षक है लेकिन पढ़ने-लिखने की ओर उसकी रुचि नहीं है। सुशीला 'सद्भावनाओं और सहज द्रवित स्नेह की पिटारी है', लेकिन अपनी असाधारण काव्य-प्रतिभा के प्रति सजग हो जाने के कारण चन्द्रनाथ को सुशीला के इन गुणों में पर्याप्त जीवन-मूल्य नहीं दिखाई देते और उसे लगता है कि मानो उसमें कोई व्यक्तित्व ही नहीं है और न उसके कार्य के प्रति सहानुभूति ही है। वह उसे अपनी उपयुक्त जीवन-संगिनी नहीं लगती, यद्यपि बौद्धिक रूप से विरक्त होकर भी वह उससे शरीर-सम्बन्ध क़ायम रखता है, और इसमें असीम परितृप्ति पाता है। इन्हीं दिनों वह सुशीला की सखी साधना के प्रति आकृष्ट होता है। साधना सुशीला के गाँव की है, बी. ए. तक पढ़ी है और उसमें भी चन्द्रनाथ जैसी ही प्रतिभा है, यद्यपि वह कवि नहीं है। साधना भी चन्द्रनाथ के प्रति आकृष्ट होती है। अपनी सामाजिक परि-स्थितियों के कारण कोई साहसी क़दम उठाने में असमर्थ आत्मभीरु चन्द्रनाथ तार्किक भावुकता के आवरण में लपेटकर साधना के साथ भाई-बहन का रिश्ता क़ायम करता है। यहां भी कोई वास्तविक संघर्ष नहीं पैदा होता, और किसी भी पात्र की जीवन-धारा में कोई परिवर्तन नहीं आता। चन्द्रनाथ रिसर्च के लिए इलाहाबाद जाता है, और वहाँ ट्यूशन करके जीविका उपार्जन करता है। यहाँ उसका उपजीवी जीवन समाप्त होता है, लेकिन अपने पाँव पर खड़े होने के लिए उसे विशेष संघर्ष नहीं करना पड़ता, अवसर के अनुसार उसे ट्यूशनें मिलती जाती हैं। इलाहाबाद में चन्द्रनाथ 'प्रोग्रेसिव क्लब' की बैठकों में शामिल होता है और पहली बार अपने व्यक्तिगत दायरे से निकलकर बाहर के लोगों के सम्पर्क मे आता है। यहीं आशा और अनेक दूसरे विद्यार्थियों से उसकी भेंट होती है। वह अच्छा वक्ता है, लोग उससे प्रभावित होते हैं। दिवाली की छुट्टियों में जब वह घर जाता है तो वहाँ उसकी साधना से पुनः भेंट होती है। चन्द्रनाथ अपने उच्च आदर्शों के बावजूद हृदय का छोटा और कुढ़ने-कोसने वाला आदमी है, जिससे अगर कोई उसकी कविता को या उसके भाषण को पसन्द न करे या उसकी प्रशंसा न करे तो वह उस व्यक्ति को ही नहीं, बल्कि सारी मानव-जाति को कोसने के लिए बैठ जाता है, और तनिक-सी उपेक्षा को भी क्षमा नहीं कर सकता। इसी प्रकार प्रशंसा मिलने पर या किसी के

व्यवहार में अपने व्यक्तित्व के प्रति सम्मान का भाव पाकर उसके हृदय की उच्चा-शयता में ही नहीं, बल्कि मानव-जाति में उसका विश्वास पुनः जग जाता है। इसलिए किसा कारण से और दिवाली के रोज़ साधना ने उसे अपने घर नहीं बुलाया तो वह इतना निराश और कुण्ठित हुआ कि उसे बुखार आ गया, लेकिन दूसरे ही दिन जब साधना आकर उससे मिली तो कुछ देर में उसका कुण्ठ-भाव टूट गया, और उसने साधना का मुख अपनी ओर खींचकर चूम लिया—फिर भी वह इतना आत्मभीरु है कि वह अपने प्रेम का निवेदन न करके कहता है—"आज हमारी पहली भैया-दूज हुई।" पथ की खोज के लिए किसा नये संघर्ष की संभावनाओं का द्वार यहाँ भी नहीं खुलता, क्योंकि चन्द्रनाथ पहले ही डिप्टी कलक्टर अरुणकुमार से साधना की शादी पक्का करवाने में योग दे चुका है। पहले खंड का पूर्वार्ध ('विश्वास' भाग) यहीं समाप्त होता है।

उत्तरार्ध में उसकी ग़ैर मौजूदगी में साधना की शादी हो जाती है, और फिर गर्भवती सुशीला इलाहाबाद उसके पास आकर रहने लगती है। बदायूँ से सुशीला के चले आते ही चन्द्रनाथ का अपने परिवार से रहा-सहा सम्बन्ध भी सदा के लिए टूट जाता है और वह अपने भाई-भावज और उनके बच्चों के बारे में कभी एक क्षण के लिए भी नहीं सोचता। सुशीला को लेकर उसे एक छोटी-सी गृहस्थी रचने का भार उठाना पड़ता है, और चूंकि कवि होने के कारण वह अपने को सामाजिक दायित्वों से ऊपर उठा हुआ महसूस करना चाहता है, इसलिए सुशीला के साथ छोटी-छोटी बातों पर मनमुटाव होता चलता है। और चूंकि उसकी भाव-प्रवणता आत्म-सापेक्ष है, इसलिए सुशीला की गर्भावस्था की कठिनाइयों के प्रति वह संवेदनशील नहीं है। उसे रह-रह कर सुशीला पर क्रोध आता है कि वह उसकी साहित्य-साधना को पूरा महत्त्व क्यों नहीं देती, और उसकी दी हुई पुस्तकों को पढ़कर अमूर्त्त विचारों की आलोचना-प्रत्यालोचना करने के उसके आत्म-विलास में सहयोग देने योग्य क्यों नहीं बनती? इस प्रकार कुढ़ते-कुढ़ाते, ट्यूशनों के सहारे विपन्न गृहस्थी की गाड़ी को खींचते-खाँचते वह दिन आता है जब सुशीला अस्पताल में एक शिशु को जन्म देकर स्वयं प्रसव-पीड़ा से मर जाती है। इस मृत्यु से चन्द्रनाथ को कोई दुःख या परिताप हुआ हो, ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि दूसरे दिन त्रिवेणी से दाह-संस्कार के बाद लौटकर वह शाम को जब अपने आप से एक निस्संग दार्शनिक की भाँति तर्क-वितर्क करता हुआ निरुद्देश्य घूम रहा था, उस समय सुशीला की इस असमय मृत्यु पर उसके मन में एक खीझ-भरा विचार उठा—"क्यों सुशीला अब मरी, क्यों वह एक वर्ष पहले ही नहीं मर गयी? तब·· तब शायद वह साधना को पा सकता···" लेकिन साधना ने विवाह के बाद पत्र-व्यवहार बन्द कर रखा था और उसके मन का

सारा आक्रोश उसके बँगले को 'भूमिसात' करने की कामना बनकर बह निकला। दूसरे दिन अचानक उसके यहाँ अपनी बहन प्रेमलता के विवाह का निमन्त्रण लेकर आशा आयी। सुशीला की मृत्यु का समाचार सुनकर शिष्टाचारी ढंग से दुःख प्रकट करके वह चन्द्रनाथ को लेकर बच्चे को देखने के लिए अस्पताल गयी। चन्द्रनाथ ने पहली बार अपने शिशु को देखा (और सम्भवतः अन्तिम बार भी, क्योंकि दूसरे खंड में बच्चे के अस्तित्व का कहीं जिक्र नहीं आता। संभवतः चन्द्रनाथ के भाई-भावज ही उसे पालते रहे और आशा से विवाह हो जाने के बाद भी उसे वहाँ से नहीं लाया गया, क्योंकि शायद वह नव-दम्पति के उन्मुक्त प्रणय-व्यापार और चन्द्रनाथ की काव्य-साधना में बाधक बनता। एक प्रकार से शिशु को भाई के यहाँ भेजकर चन्द्रनाथ अपने परिवार और उस परिवार में पैदा होने के कारण पत्नी रूप मिली सुशीला की स्मृति तक से सदा के लिए अपना नाता तोड़ लेता है।) पहले खंड का उत्तरार्ध (निराशा भाग) यहीं समाप्त होता है—निराशा इसलिए कि काव्य-साधना के वृक्ष को नारी-स्नेह के रस से सींचने के लिए (चाहे बौद्धिक संतोष या शारीरिक तृप्ति के रूप में हो) न साधना मिली और न सुशीला ही रही। इस प्रकार पहले खंड में बिना किसी बुनियादी संघर्ष के ही विश्वास और निराशा के क्षण बीत जाते हैं। चन्द्रनाथ के चारित्रिक विकास पर इन दोनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

उपन्यास के दूसरे खंड 'स्वप्न और जागरण' का घटनास्थल बनारस है। चन्द्रनाथ किसी कालेज में प्रोफ़ेसर नियुक्त होकर बनारस आ जाता है और विद्यार्थियों की दुनिया में न रहकर अब वह अध्यापकों की संकीर्ण दुनिया का अंग बन जाता है। यहाँ उसकी मैत्री आशा के भाई नरेन्द्र से होती है और हरिशंकर, प्रकाशचन्द्र, मदन और अन्त में सोशलिस्ट कार्यकर्त्ता योगेन्द्र बाबू से उसका परिचय होता है। नरेन्द्र मध्यवर्ग का ऐसा प्रतिनिधि है जिसने कैश-नेक्सस (दुनियादारी के आधार पर स्थापित समाज-सम्बन्ध) की मनोवृत्ति पूरी तरह अपना ली है। वह अपनी पत्नी सावित्री से प्रेम नहीं करता, लेकिन अपने घर के सामंजस्य को क़ायम रखने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि शरीर की भूख शान्त करने के लिए वह बिना किसी संकोच के वेश्या के यहाँ भी जा सकता है, जाता है। चन्द्रनाथ को, जो अपनी आत्मभीरुता को उच्चादर्शों और विवेक के आवरण में ढँकने का आदी है, नरेन्द्र अपने से अधिक अनुभवी और 'यथार्थवादी' नजर आता है। जिस बात के औचित्य को स्वीकार करने के लिए चन्द्र-नाथ को अपने आप से घंटों पर्यालोचना करनी पड़ती है, नरेन्द्र उसे दो टूक स्वीकार ही नहीं कर लेता, बल्कि उस पर अमल भी कर सकता है। नरेन्द्र स्त्री जाति को स्वार्थी मानता है, क्योंकि स्त्री कभी प्रेम नहीं कर सकती, केवल पुरुष का भौतिक आश्रय खोजने के लिए ही प्रेम का अभिनय करती है। विवाह के बाद से साधना का

कोई पत्र न पाने पर चन्द्रनाथ भी मन-ही-मन इसी परिणाम पर पहुँचता है, लेकिन ऐसा कहने के लिए वह नरेन्द्र को उकसाता है।

नरेन्द्र के यहाँ ही आशा से उसकी पुनः भेंट होती है। धीरे-धीरे दोनों का परिचय बढ़ता है। लेकिन यह परिचय बौद्धिक स्तर पर ही रहता है, क्योंकि चन्द्रनाथ किसी भी पढ़ी-लिखी सुन्दर लड़की के प्रति सहजरूप से आकृष्ट हो जाने पर भी प्रेम-निवेदन करने का साहस नहीं रखता। प्रेम की सत्ता उसके लिए भी केवल शाब्दिक अर्थ ही रखती है। अनुभूति के रूप में वह प्रेम की एक-निष्ठ भावना नहीं बन पाई। इसलिए आशा हो या मदन की प्रेमिका माधुरी की बहन मालती, वह किसी भी सुन्दर लड़की को काम्य समझता है, यदि वह पढ़ी-लिखी हो, और उसकी काव्य-साधना में सहायक हो सके। और यदि यह सम्भव न हो, तो मात्र शरीर की भूख शान्त करने के लिए वह वेश्यालय में भी जा सकता है, और एक बार जाता भी है। और वह ऐसा करने के पहले अपनी विचित्र तर्क-प्रणाली के अनुसार, जो अवसर के अनुकूल प्रत्येक असामाजिक कृत्य का औचित्य सिद्ध कर देती है, अपने मन को समझा लेता है कि समाज उससे ही क्यों अपेक्षा रखता है कि वह आत्म-निग्रह की पीड़ा सहता जाये ! बहरहाल वेश्यालय में, सम्भवतः चन्द्रनाथ की अनुभवहीनता के कारण, सौदा महँगा पड़ा और वांछित शारीरिक तृप्ति भी नहीं मिली। तब लौटते समय उसे पहली बार अपने ऊपर ग्लानि हुई कि उसने सुशीला के लिए कुछ नहीं किया ! स्वप्न और जागरण का पूर्वांश यहीं समाप्त होता है।

उत्तरांश में कहानी थोड़ा आगे बढ़ती है, क्योंकि अपने डिप्टी कलेक्टर पति के विश्वासघात के प्रति विद्रोह करके साधना उसे त्यागकर चन्द्रनाथ के यहाँ पहुँचती है और उसी के यहाँ ठहर जाती है। चन्द्रनाथ को उसका आना अप्रिय लगता है, क्योंकि साधना ने उसके पत्रों का उत्तर नहीं दिया था और न उसकी नौकरी की दरख्वास्त पर अपने पति की सिफ़ारिश भिजवाई थी—फिर वह उसकी कौन थी जो उसके यहाँ आयी थी। साधना की लम्बी कष्ट-गाथा सुनकर भी चन्द्रनाथ का आत्म-केन्द्रित हृदय नहीं पिघलता। साधना दूसरे दिन जब वहाँ से जाने के लिए बिस्तर बाँधती है, तब कहीं चन्द्रनाथ का हृदय पसीजता है और वह उसे रोक लेता है। चन्द्रनाथ ने चूँकि प्रेम की भावना का कभी अनुभव नहीं किया, इसीलिए साधना के लौटने पर वह पुरानी भावुकता न जग सकी। कुछ दिनों में साधना विश्वविद्यालय के छात्रावास में जाकर रहने लगी। चन्द्रनाथ के यहाँ साधना का परिचय योगेन्द्र बाबू से हुआ और वह उनके व्यक्तित्व और उनकी देश-भक्ति से प्रभावित हुई, और अगस्त-आन्दोलन शुरू होने पर साधना ने भी उसमें भाग लिया और गोली खाकर अस्पताल पहुँचाई गयी। चन्द्रनाथ की सहानुभूति यद्यपि आन्दोलन के साथ

थी, लेकिन अन्य अध्यापकों की तरह वह भी उसमें खुलकर भाग नहीं ले सकता था। साधना की परिचर्या आशा ने की, और दोनों की घनिष्ठता इतनी बढ़ गई कि अच्छी हो जाने पर साधना ने चन्द्रनाथ और आशा से बातें करके दोनों की शादी करा दी। इस प्रकार मानसिक द्वन्द्व या सामाजिक संघर्ष की समस्त सम्भावनाओं पर पुनः ताला डालकर कहानी को यहाँ से घसीट-घसीटकर आगे बढ़ाया जाता है। विवाह में चन्द्रनाथ के परिवार के लोगों ने भाग लिया या नहीं और उसका पुत्र सुधीर आया या नहीं, इसका पता नहीं चलता। सम्भवतः उनको सूचना भी नहीं दी गई। सुहागरात और उसके बाद के कुछ विह्वल-प्रणय के दिन बिताकर जब आशा अपने मायके इलाहाबाद चली आयी तो एक दिन साधना होस्टल से आकर चन्द्रनाथ के यहाँ ही ठहर गई। उस दिन वह विशेष रूप से उद्विग्न थी, क्योंकि, जैसे किसी दिन उसका विवाह पक्का कराके चन्द्रनाथ ने उसे खो दिया था, उसी तरह चन्द्रनाथ का विवाह रचाकर अब उसने चन्द्रनाथ को हमेशा के लिए खो दिया था। इसकी टीस उसके हृदय में थी और अब वह सारे अवगुण्ठन हटाकर और अस्त्र फेंककर चन्द्रनाथ को चाहे एक क्षण के लिए ही क्यों न हो, पा लेना चाहती थी। अपनी विह्वल दशा में वह चन्द्रनाथ से अपने शरीर की पीड़ा दूर करने के लिए प्रणय-याचना करती है। और चन्द्रनाथ जो एक दिन पहले ही आशा को पत्र मे मन और शरीर से सदा उसका ही रहने का वचन दे चुका है, अपनी विचित्र तर्क-प्रणाली से 'यदा यदा हि धर्मस्य' की पुनीत भावना जगाकर कृष्ण की तरह इस दुखियारी का कष्ट-हरण करने के लिए तत्पर हो जाता है। लेकिन जितने में वह अपने मन के मानवीय अवरोधों को परास्त करके बक्स से रबर की खोली निकालकर साधना के पलँग पर पहुँचता है, उतने में साधना की काम-पीड़ा का ज्वार उतर गया होता है, और वह उससे स्वच्छ और निर्विकार स्वर में कहती है—"मुझे तुम्हें भैया कहना ही अच्छा लगता है।" और यह संकट टल जाता है। साधना इसके बाद योगेन्द्र बाबू के साथ 'क्रान्ति' मे भाग लेने के लिए चली जाती है। उपन्यास यहीं समाप्त हो जाता है।

उपन्यास की मूल कथा को अनावश्यक रूप से बढ़ाकर आठ सौ पृष्ठों में भी लिखा जा सकता है, जैसा कि लेखक ने किया है, और सौ-पचास पृष्ठों में भी, यदि औसत दर्जे की अप्रासंगिक घटनाओं का यथा-तथ्य चित्रण करने का मोह त्यागा जा सके। चूँकि उपन्यास के पात्र एक कृत्रिम दुनिया में रहते हैं, समाज के समग्र जीवन से असम्बद्ध और कटे हुए, इसलिए यह दुनिया अत्यन्त संकुचित और क्षुद्र है—यद्यपि बहसों में बड़े-बड़े सिद्धान्तों और मार्मिक विचारों का निरसंग प्रति-पादन होता ही रहता है। एक पाठक और आलोचक की हैसियत से इन अमूर्त

विचारों के आधार पर उपन्यास का मूल्यांकन करने का प्रयोजन मेरा नहीं हो सकता। लेखक ने जिस कथानक की सृष्टि की है, उसकी घटनाएँ एक-दूसरे से किस हद तक परस्पर सम्बद्ध हैं और इसके पात्र अपनी स्वतन्त्र जीवन-क्रिया से उन घटनाओं में किस प्रकार भाग लेते हैं और उनके सामने जो समस्याएँ उठती हैं उनके प्रति उनकी वास्तविक प्रतिक्रियाएँ क्या होती हैं, मूल्यांकन में तो यही निर्णयकारी बातें आती हैं। क्योंकि पात्र अपने बारे में या अपने मित्रों और विरोधियों के बारे में क्या सोचते हैं, इससे हम उनके वास्तविक चरित्र या व्यक्तित्व का एहसास नहीं कर सकते—यह तो उनके कार्य और उनकी क्रियात्मक प्रतिक्रियाएँ ही हैं, जो उनके वास्तविक व्यक्तित्व का उद्‌घाटन करती हैं। इस दृष्टि से इस उपन्यास के पात्र व्यक्तित्व-हीन ही लगते हैं। केवल साधना में थोड़े-बहुत व्यक्तित्व का विकास हुआ है, अन्यथा और सभी पात्र यन्त्रवत् ढंग से ही व्यवहार करते हैं।

अन्त में केवल इतना कहकर ही समाप्त करना उचित होगा कि हमारे कथा-साहित्य के सामने जो समस्या है, यह उपन्यास अपनी निपट असफलता से उसकी गम्भीरता को और भी सामने ला देता है। 'प्रकृतिवाद' के मार्ग पर चलकर हमारे उपन्यासकार जीवन की क्षुद्रताओं के चित्र ही दे सकते हैं, और हमारे वर्तमान जीवन के उस द्वैत की भावना को ही और पुष्ट कर सकते हैं जिसने व्यक्ति और समाज, और व्यक्ति के कर्म और विचार तथा उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को परस्पर-विरोधी सत्ताएँ बनाकर मनुष्य के व्यक्तित्व, नैतिक और सामाजिक जीवन को छिन्न-भिन्न कर दिया है। प्रकृतिवाद और प्रतीकवाद के मार्ग से वे मनुष्य के इस विकृत और एकांगी व्यक्तित्व का समग्र रूप से पुनर्निर्माण नहीं कर सकते, अर्थात् उसके लिए कोई मुक्तिदायी पथ नहीं खोज सकते। इस उपन्यास द्वारा डा० देवराज ने अनचाहे ही सही, लेकिन इस मार्ग से 'पथ की खोज' करने की निरर्थकता सिद्ध की है, और मैं समझता हूँ कि लेखक की यही सबसे बड़ी सफलता है और पाठकों के लिए यह चेतना ही उनकी सबसे बड़ी प्राप्ति है।

—नवम्बर १९५१

२८

नदी के द्वीप

अज्ञेय की अन्य रचनाओं की तरह इस उपन्यास का भी हिन्दी-जगत में विरोध अधिक हुआ है, स्वागत बहुत कम। इसके कई कारण हैं जिन पर हम बाद में विचार करेंगे। संक्षेप में यह जान लें कि 'नदी के द्वीप' की कहानी क्या है। कहानी वस्तुतः बहुत छोटी है, घटना हीन-सी कि कहें नहीं के बराबर है। डा० भुवन एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक है, कॉस्मिक रश्मियों की रिसर्च करने वाला, मितभाषी और अहंवादी। रेखा एक पढ़ी-लिखी संभ्रान्त नारी है, जिसे उसके पति हेमेन्द्र ने छोड़ रखा है। यह भी कहा जा सकता है कि स्वयं रेखा ने उसे छोड़ रखा है क्योंकि दोनों एक दूसरे को प्रेम नहीं कर पाये। गौरा एक दूसरी लड़की है, जिसके परिवार से भुवन का पुराना परिचय है। दोनों में गुरु-शिष्या का रिश्ता है। गौरा को संगीत से प्रेम है। यहाँ की शिक्षा समाप्त करके वह कहीं दक्षिण-भारत में जाकर संगीत-विद्या सीखती है। बाद में वह बनारस के किसी कॉलेज में अध्यापिका हो जाती है। चन्द्रमाधव एक पत्रकार, जर्नलिस्ट है, क्षुद्र, ईर्षालु और उतावले स्वभाव का। वह रेखा और गौरा दोनों से ही खूब परिचित है। रेखा से भुवन का प्रथम मिलन भी चन्द्रमाधव के यहाँ ही होता है। चन्द्रमाधव ने अपनी स्त्री को छोड़ रखा है, क्योंकि वह पुराने ढंग की औरत है, रेखा और गौरा की तरह आधुनिका नहीं है। उपन्यास में केवल यही चार पात्र हैं। बाह्य-संघर्ष नहीं के बराबर है, जिससे चन्द्रमाधव यद्यपि रेखा और गौरा दोनों में से किसी एक को पा लेने के लिए निरन्तर याचनाएँ करता रहता है, लेकिन दोनों का भुवन के प्रति मोह देखकर, ईर्षा से झुलसकर भी, अन्त में उसके लिए मैदान छोड़कर बम्बई चला जाता है।

रेखा से भेंट होने पर भुवन जैसा आत्मनिष्ठ व्यक्ति भी उसकी ओर आकृष्ट होता है और साथ ही रेखा भी। एक-दो मुलाकातों, सैर-सपाटों और संलापों के बाद बाह्यरूप से दार्शनिक, पर वास्तव में व्यक्तिगत स्तर पर दोनों में पत्र-व्यवहार चल निकलता है। पत्रों का यह आदान-प्रदान चन्द्रमाधव और रेखा, चन्द्रमाधव और गौरा, रेखा और भुवन तथा गौरा और भुवन आदि सभी पात्रों में सभी ओर निरन्तर जारी रहता है। आदि से अन्त तक। और परोक्ष में होने वाली साधारण-से-साधारण घटनाओं—और असाधारण घटनाएँ उपन्यास में हैं ही कहां?—पात्रों के उचित-अनुचित निर्णयों, मनःस्थितियों, ईर्षाओं और क्षुद्र अहंकारों को दार्शनिक औचित्य

प्रदान करने की उद्धत कैशोर चेष्टाओं का पता इन असंख्य छोटे-लम्बे पत्रों, डायरियों में नोट की गई उक्तियों और अंग्रेज़ी या बंगाली कविताओं के उद्धरणों से ही पाठक को लगता है।

अब मुख्य घटना-क्रम को लें। रेखा को नैनीताल छोड़ने के लिए भुवन साथ जाता है। नैनीताल से आगे भीमताल पहुँचकर दोनों एक झील के किनारे डाक बंगले में ठहरे। चुंबन-आलिंगन का प्रणयावेग दोनों को बहा ले चला। रात को कमरे में सहसा रेखा के आने से भुवन की नींद टूटी। रेखा कामोन्माद की अवस्था में थी। किन्तु भुवन उस समय रेखा के आत्मसमर्पण को स्वीकार न कर सका। रेखा ने उसे जो दिया था उसके सौन्दर्य को वह मिटाना या जोखम में डालना न चाहता था। किन्तु जो भीमताल में न हो सका, वह कुछ ही दिनों के बाद काश्मीर में तुलियन झील के किनारे, चाँदनी रात में एक चट्टान के ऊपर घटित हो गया। रेखा के आत्म-समर्पण के आगे भुवन ने भी अपने को समर्पित कर दिया। रेखा काश्मीर से गर्भवती होकर लौटी, जिसकी सूचना उसने नौकरी के सिलसिले में दुबारा काश्मीर जाकर भुवन को दी। भुवन विवाह का प्रस्ताव लेकर गया, लेकिन रेखा न मानी। भुवन ने भी विशेष ज़ोर न दिया। इसी बीच हेमेन्द्र ने रेखा को तलाक़ के लिए लिखा और रेखा ने इसकी स्वीकृति तो दी, पर पहले अपने भ्रूण की हत्या कराके। भुवन ने इस भ्रूण-हत्या का प्रबन्ध भी किया और रेखा की परिचर्या भी। फिर दोनों काश्मीर से साथ लौटे। रेखा पहले कलकत्ते गयी। फिर तीर्थाटन के लिए निकल पड़ी। तलाक उसे मिल गया था और उसने अपने पत्रों में पुनर्विवाह का संकेत भी किया, लेकिन भुवन ने चार महीनों तक कोई उत्तर न दिया। जब दिया भी तो टालमटोल से भरा, क्योंकि वह मन-ही-मन गौरा के प्रति समर्पित होता जा रहा था। फिर भुवन जावा चला गया—कॉस्मिक रश्मियों की खोज के सिलसिले में। केवल गौरा से पत्र-व्यवहार जारी रहा। लौटा तो ठहरा भी गौरा के यहाँ ही मंसूरी में, और एक ही दिन में रेखा का 'शुक्रतारा' गौरा का 'देव-शिशु' बन गया! इसके बाद भुवन अंडमान गया, और जब कलकत्ते पर पहला जापानी बम गिरा तो फ़ासिज़्म की बर्बरता से संस्कृति की रक्षा के निमित्त वह अंग्रेज़ों की ओर से भारतीय सेना में भरती हो गया। इस बीच रेखा ने अपनी परिचर्या करने वाले डॉक्टर रमेशचन्द्र से शादी कर ली—यद्यपि मन से वह भुवन की ही बनी रही। भुवन ने भी जिस बात की हामी गौरा के सामने न भरी थी, उसकी हामी उसने बर्मा फ्रन्ट से भेजे एक पत्र में भर ली और गौरा से विवाह का प्रस्ताव किया। 'नदी के द्वीप' की बस इतनी-सी कहानी है। तो भी यह उसका ढाँचा मात्र है। वास्तविक कहानी इतनी निरीह और सरल नहीं है।

अज्ञेय के पाठक जानते हैं कि वे रवीन्द्र, शरत् या प्रेमचन्द का तरह के क़िस्सा-गो नहीं हैं। वे अपने उपन्यासों में मानव और नियति के उस सनातन संघर्ष को प्रतिबिम्बित नहीं करते जो जीवन के हर क्षेत्र में, हर स्तर पर नये-नये रूपों में अविराम जारी है। न वे उन मान -चरित्रों की ही सृष्टि करते हैं जो युग-सत्य के वाहक, मानव-उद्योग के प्रतीक, प्रतिनिधि चरित्र हैं। बल्कि वे केवल विशिष्ट व्यक्ति-मानस के आन्तरिक संघर्ष को ही चित्रित करने का प्रयत्न करते हैं—जीवन की सामान्य परिस्थिति से अलग करके, क्योंकि उनकी दृष्टि में व्यक्ति-मानस स्वयं एक परिस्थिति बन गया है, और सब घटनाएँ वहीं घटने लगी हैं। कारण, फ्रायड के मनोविश्लेषण शास्त्र, सार्त्र के अस्तित्ववादी दर्शन और आइन्स्टान के सापेक्षवाद के सिद्धान्त—इन तीनों ने मिलकर जीवन में कुछ भी निश्चयात्मक नहीं छोड़ा, किसी पर भरोसा और विश्वास सम्भव नहीं रखा। आज यदि समस्या है तो केवल यह कि कोई ऐसा दृष्टिकोण अपनाया जाये जिससे अस्तित्व-रक्षा हो सके, चाहे यह दृष्टि-कोण नैतिक मूल्यों का तिलांजलि देकर कोरा अवसरवादा ही क्यों न हो। इसलिए उनकी दृष्टि में आधुनिक उपन्यास में दृष्टिकोण का महत्त्व है और विशेष और अद्वितीय व्यक्ति-चरित्रों की सृष्टि करना जो समाज की विषम धारा के बीच आत्म-सीमित व्यक्तियों के अलग-अलग द्वीप हों।

'नदी के द्वीप' नाम की सार्थकता इसीलिए है। इस उपन्यास का विरोध भी इसीलिए हुआ है कि पात्र सजीव नहीं, केवल प्रतिच्छायाएँ हैं। भुवन और चन्द्रमाधव एक ही सिक्के के दो रुख हैं, रेखा और गौरा भी एक-सी हैं, केवल उम्र का फ़रक है दोनों में। दोनों भुवन की छात्राएँ हैं, और दोनों केवल भुवन के 'अहं' को अपनी अन्ध-भक्ति से निरन्तर खाद्य पहुँचाने की निमित्त मात्र हैं। उनमें अपनी स्वतन्त्र, स्वाभाविक प्रतिक्रियाएँ नहीं होतीं। भुवन सब से लेता है, लेने का अधिकारी है—यह उसके विशिष्ट व्यक्तित्व का अभिजात्य है।

देने का दायित्व उस पर नहीं, क्योंकि वास्तव में उसके पास देने को कुछ है ही नहीं। उसमें केवल अस्तित्व-रक्षा की वृत्ति ही शेष है, और कोई मानवीय संवेदन नहीं। यदि कभी कहीं मानवीय अनुभूतियाँ दिखाई देती हैं तो तभी जब उसे अस्तित्व-रक्षा के लिए कोई नया आश्रय खोजना हो। नहीं तो वह अन्तःकरण-हीन, अनैतिक और पाषाण-हृदय है। इसीलिए सारे उपन्यास में कोई जीवन नहीं, कोई वास्तविक संघर्ष नहीं, कोई मानवीय उद्योग नहीं। वास्तविकता अपने आप भुवन के अनुकूल बनती जाती है, जैसे वह भी उसकी छाया हो। उसके अहं की तुष्टि की साधन हो। इस कुण्ठा-ग्रस्त, खंडित, आत्म-प्रवंचक पुरुष की भाँति ही उपन्यास का रूपाकार है। भाषा मँजी और पैनी है, अलग-अलग चित्र असाधारण और तीखे हैं,

लेकिन समग्ररूप से देखें तो उनमें ऐसा कोई आन्तरिक सामंजस्य नहीं कि इस उपन्यास को एक कलाकृति बना दे। यह ठीक है कि हमारे समाज में भुवन जैसे व्यक्ति मिलते हैं। पाठकों के लिए उनके जीवन की सार्थकता है तो वह व्यापक जीवन की अपेक्षा में चित्रित करके ही उद्घाटित की जा सकती है, अन्यथा उनकी स्वतःसिद्ध व्यर्थता और ह्रासोन्मुखता को अपनी ओर से महिमा मंडित करके छिपाने का इतना बड़ा आडम्बर क्यों ? यह प्रश्न उठता है, क्योंकि लेखक ने भुवन को पर्याप्त महिमा से मंडित करना चाहा है, यद्यपि पाटकों का दृष्टि से यह दुःसाध्य प्रपंच छिपा नहीं रह सकेगा। इसीलिए प्रश्न उठता है कि यह उपन्यास-कला का विकास है या ह्रास—यह प्रश्न भाषा और शिल्प तक ही सीमित नहीं है, क्योंकि इस सीमित दृष्टि से इसे विकास सिद्ध कर सकना अर्थ भी रखेगा। अन्त में प्रश्न उठता है कि समग्र जीवन को प्रतिबिम्बित करना कला का लक्ष्य है या केवल किसी व्यक्तिवादी, एकांगी और निरपेक्ष दृष्टिकोण को ?

—सितम्बर १९५२

२६
रथ के पहिए

देवेन्द्र सत्यार्थी को अधिकांश आलोचक और पाठक कवि, कहानीकार और निबन्ध-लेखक के रूप में देखकर भी अनदेखा करते रहे हैं। कदाचित इसलिए कि उनका मुख्य क्षेत्र लोक-साहित्य है, जहाँ उन्होंने अपने संग्रह, शोध और संकलन-कार्य से स्थायी कीर्ति अर्जित की है, और एक मौलिक रचनाकार के रूप में उन्हें आते देखकर लोगों को लगा है कि यह उनका क्षेत्र नहीं है—वे अपनी सीमा का अतिक्रमण कर रहे हैं। फिर भी अबकी बार वे एक उपन्यास लेकर उपस्थित हो गये हैं और संभव है कि इसे पढ़कर यह कृत्रिम विवाद फिर नये सिरे से उठ खड़ा हो।

किन्तु देवेन्द्र सत्यार्थी के उपन्यास को पढ़कर इतना तो निश्चित् रूप से कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र-यशपाल जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर, इन दिनों हिन्दी-साहित्य में सामान्यतः जिस कोटि के उपन्यास लिखे जा रहे हैं, और जिनके कारण ही कतिपय लेखक हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों की श्रेणी में विराजमान दीखते हैं, 'रथ के पहिए' उन उपन्यासों की पंक्ति में तो आँख मूंदकर रखा जा सकता है। उसकी भाषा, शैली, वर्णन-पद्धति और रचना-शिल्प आदि पिछले खेवे के अनेक ख्याति-प्राप्त उपन्यासों से किसी भी रूप में नगण्य नहीं है। यह सब होते हुए भी 'रथ के पहिए' मे यदि विचार-वस्तु की अति-साधारणता, पात्रों की व्यक्तित्वहीनता, प्रासंगिक-अप्रासंगिक घटनाओं के चयन के प्रति उदासीनता, यथातथ्य वर्णन की नीरस प्रगल्भता, चरित्र-चित्रण की एकांगिता, कथा-सूत्र की शिथिलता, यथार्थ-वर्णन की कमी और भावुकता की अतिशयता है तो इसके लिए अकेले सत्यार्थी जी को दोष देना व्यर्थ है। यह प्रवृत्ति अधिकांश उपन्यासकारों में सामान्यतः पाई जाती है।

'रथ के पहिए' को सत्यार्थी जी ने अपना एक साहित्यिक प्रयोग कहा है। किन्तु उपन्यास-क्षेत्र में यह कोई नया प्रयोग नहीं है—न टेकनीक की दृष्टि से और न विषय-वस्तु की दृष्टि से ही। रवि, शरत् और प्रेमचन्द से आती हुई उदार सामाजिक चेतना के देशप्रेमी लेखकों की यह परम्परा रही है कि उन्होंने जैसे बार-बार विधवा-विवाह, वेश्यावृत्ति, धार्मिक अंधविश्वास आदि सामाजिक कुरीतियों को ध्यान में रखकर अपनी रचनाओं से उनके विरुद्ध लोकमानस को उद्बुद्ध करने की कोशिश की है, वैसे ही अशिक्षा को, हमारे देश के पिछड़ेपन, गरीबी, भेदभाव और राष्ट्रीय-पतन का कारण बताकर शिक्षा-प्रसार के निमित्त किये गये सार्वजनिक उद्योगों को कथा का रूप देकर

सराहा और प्रोत्साहित किया है। इन रचनाओं में साधारणतया किसी एक ऐसे कर्मठ आदर्शवादी नायक को चित्रित किया जाता रहा है जो किसी मार्मिक घटना से सचेत और द्रवित होकर कर्तव्य-पथ अपना लेता है, और अपना सब कुछ त्याग करके घर से निकल पड़ता है। जाकर किसी गाँव या ग़रीबों की बस्ती में आश्रम खोलता है, वहीं का हो रहता है, लोगों को संगठित और सुशिक्षित बनाता है और इस प्रकार जनता में जीवनाकांक्षा, देशप्रेम और सामूहिक संघर्ष की चेतना और स्वाभिमान जगाता है। 'रथ के पहिए' की कहानी भी इसी परम्परा की है।

भेद केवल इतना है कि उपन्यास का नायक आनन्द अपनी जाति के लोगों को जाग्रत करने के लिए नहीं निकलता बल्कि मानवशास्त्र का विद्यार्थी और मोहेनजोदड़ो के क्यूरेटर का पुत्र होने के नाते उसकी अभिरुचि और लक्ष्य अधिक सांस्कृतिक है, जिससे वह अपने पिता की इच्छानुसार मृत-संस्कृतियों की खोज-बीन में जीवन 'नष्ट' (?) न करके, उन जीवित आदिम निवासियों के बीच जाकर काम करता है जो आधुनिक सभ्यता की रेल-पेल में अपनी जातीय विशेषता या तो खो रहे हैं या पड़ोस की उन्नत जातियों में जज़्ब होते जा रहे हैं। आनन्द इन संस्कृतियों को आधुनिक सभ्यता के अपघातों से सुरक्षित रखना चाहता है। या कम-से-कम उनके आधुनिकीकरण से पहले वह उनके जातीय लोक-गीतों, लोक-कथाओं, लोक-नृत्यों और लोक-वार्ताओं की शोध करके सुरक्षित कर लेना चाहता है।

मृत-संस्कृति के प्रति पिता के मोह को देखकर आनन्द के मन में तीव्र प्रतिक्रिया होती है—क्यों न जीती-जागती संस्कृतियों का उद्धार किया जाय? इस मानसिक द्वन्द्व का आधार कृत्रिम है, क्योंकि दोनों कार्य राष्ट्रीय उत्थान के लिए समान रूप से आवश्यक हैं। किन्तु लेखक ने एक को उपेक्षणीय और दूसरे को स्पृहणीय सिद्ध करके आनन्द को घर से निकलने का एक उचित कारण देना चाहा है। आरम्भ का विचार-मन्थन कितना प्रासंगिक और कलात्मक है यह चाहे संदिग्ध हो, लेकिन इतना तो निश्चित है कि आर्य-पूर्व भारत की सिन्धु तटवर्ती सभ्यता के बारे में मोहेनजोदड़ो की खुदाई से पुरातत्ववेत्ताओं को अभी तक जितना कुछ ज्ञात हो सका है और भारत की आदिम जातियों के सम्बन्ध में सेंसर रिपोर्टों और मानव शास्त्र की पुस्तकों में जो तथ्य संग्रहीत हैं, उन सब की जानकारी इससे हो जाती है। कला न सही, किंचित् रोचक ढंग से तथ्य-वर्णन ही पाठक को कृतकृत्य करने के लिए क्या पर्याप्त नहीं?

आनन्द पेण्ड्रा रोड से आगे गोंडों के जंगली इलाक़े में अपने वफ़ादार नौकर चुन्नू मियाँ और चित्रकार मित्र सोम को लेकर पहुँचता है। करंजिया गाँव में किसी ईसाई मिशन के खाली पड़े बंगले में डेरा जमाता है। वहाँ का धनी किसान मण्डल

पटेल, उसकी दसवीं जमात तक पढ़ी बेटी रूपी, फारेस्ट रेंजर कासिमी और उनकी पत्नी, शराब की दुकान का ठेकेदार लालाराम और अनगिनत दूसरे लोग पलक झपकते ही उसके मित्र, भक्त और अनुयायी बन जाते हैं, जैसे उनके बीच मसीहा आगया हो। वह शिक्षा-केन्द्र 'कला-भारती' की स्थापना करता है। और फिर करंजिया गोंडों के दैनिक जीवन की समस्याओं, वहाँ के जंगलों, लोगों के रस्म-रिवाजों, दंतकथाओं, लोक-नृत्यों और लोक-गीतों का परिचय देती हुई कथा आगे बढ़ती है। अनेक घटनाएँ होती है, मालगुज़ार धनपालसिंह के अत्याचार बढ़ते हैं, सोम फुलमत से विवाह करता है, करंजिया के जाग्रत किसान बेगार देना बन्द कर देते है, पुलिस मालगुज़ार का साथ देती है, अनावृष्टि के कारण अकाल पड़ता है, आनन्द अकाल-पीड़ितों के लिए रिलीफ़ कमेटी बनाकर हैदराबाद और बम्बई से रुपया जमा करता है, सरकार सड़क बनवाती है, फिर पिता की बीमारी से लौटकर आनन्द कपिलधारा से नर्मदा की नहर खोदने के लिए लोगों को उत्साहित करता है। नहर बन जाती है। वर्षा भी होती है और खेती एक बार फिर लहलहा उठती है। आनन्द का कार्य समाप्त होता है। वह करंजिया छोड़कर चल पड़ता है। रूपी भी साथ चलती है। दोनों का विवाह हो जाता है। किन्तु बम्बई आकर रूपी को करंजिया ही याद आता है, वह लौटना चाहती है। लेकिन आनन्द कर्मठ व्यक्ति है, वह व्यक्तिगत स्वप्नों में उलझकर रुकने वाला आदमी नहीं है। अपनी पुस्तकें छपवाकर उसे आसाम जाना है। वहाँ की पिछड़ी जातियों का भी तो उद्धार करना है। जीवन का रथ कहीं नहीं रुकता और विवश रूपी भी इस रथ पर सवार होकर साथ जाती है।

कहानी केवल इतनी ही है। कहीं-कहीं मार्मिक स्थल भी हैं, लेकिन कम। लेखक ने भावुकतावश प्रधान पात्रों को कुछ ऐसे आदर्शवादी साँचे में ढाल दिया है कि उनके भीतर की झाँकी नहीं मिलती।

—अप्रैल १९५३

३०

सोना और नर्स

श्री रामचन्द्र तिवारी का उपन्यास 'सोना और नर्स' अनेक कारणों से महत्त्वपूर्ण है। तिवारी जी सरल प्रकृति के, उदारमना, सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति हैं, और उनकी रचनाओं में भी उनके इसी व्यक्तित्व की छाप रहती है। जैनेन्द्र या 'अज्ञेय' की तरह उनकी चेतना जटिल और अन्तर्भेदिनी नहीं है, अतः अपनी रचनाओं में वे जीवन के, व्यक्ति-मानस के, अत्यधिक सूक्ष्म और उलझे हुए सूत्रों को नहीं खींचते और उनकी अगम गहराइयों में नहीं उतरते। जीवन को ऊपर से जैसा देखते हैं, उसको वैसा ही चित्रित करने की चेष्टा करते हैं। इसी कारण सोना, भगवाना, नर्स, दासू बेन और भगत जी आदि उपन्यास के प्रमुख पात्र सभी अत्यन्त सरल हृदय और अपने मन-वचन-कर्म से छल-छन्द रहित ईमानदार व्यक्ति हैं। जीवन की कटुताएँ उन्हें एक क्षण के लिए भी अमानवीय, स्वार्थी, दंभी और ईर्षालु नहीं बनातीं।

उपन्यासक का कथानक बहुत छोटा है, फिर भी उसमें दो प्रेम-कथाएँ समानान्तर चलती हैं, एक सोना और भगवाना के प्रेम की कथा जो बहुत कुछ अव्यक्त रहकर भी दोनों के चरित्र का विकास और निर्माण करती है, और दूसरी नर्स मिसेज़ दासू बेन और राजकुमार रामपालसिंह के प्रम की कथा जो अधिक मुखर होकर भी उतनी मर्मस्पर्शी नहीं बन पाती—यद्यपि विपरीत परिस्थितियों ने सोना और भगवाना को जीवन-पथ का चिरसंगी नहीं बनने दिया और नर्स और कुँवर थोड़े ही प्रयास से विवाह के अटूट धागे मे बँध गये। परन्तु इन कथाओं का विकास करने के दौरान में तिवारी जी ने बड़े स्वाभाविक ढंग से सामंती नैतिकता अंधविश्वास, ज़मींदार और पुलिस के अत्याचार और दुःख-दारिद्र्य से पीड़ित हमारे अन्नदाता किसानों की जर्जर कारुणिक दशा का सजीव और व्यापक चित्रण किया है। पढ़कर उपन्यास में प्रेमचन्द की परम्परा का ध्यान आ जाता है, जिसने हमारे किसानों की मूक इच्छाओं और आकांक्षाओं को वाणी दी थी। इतना अवश्य है कि तिवारी जी ने ग्रामीण जीवन का जो चित्रण किया है उसमें दो-एक स्थानों पर अत्यधिक भावुकता आ गयी है, जैसे सूखते हुए धान के खेत को सींचने के लिए व्याकुल सोना की भाव-धारा की अभिव्यक्ति में। परन्तु ऐसे स्थान थोड़े ही हैं जहाँ लेखक भावुकता में बह गया है। अधिकतर चित्रण यथार्थ और सच्चा है।

सोना और दासूबेन दोनों विधवाएँ हैं, यौवन की चढ़ती उमर की, अतीव,

सुन्दर और साहसी। सोना किसान-कन्या है और दासुबेन एक ईसाई नर्स है और शहर में रहती है। सोना के यौवन को देखकर गाँव के सारे पुरुष मुँह में पानी भर लाते हैं, परन्तु एक वह है जो अपने एक वर्ष के पुत्र हरखू और धान के खेत को छोड़कर किसी की ओर आँख भी नहीं उठाती। गाँव में वर्षा न होने से सूखा पड़ रहा है। राजा साहब, चौधरी और दूसरे उच्च जाति और वर्ग के लोगों के खेत तो नहर के पानी से कसकर भर लेते हैं, पर ग़रीब सोना को कौन पूछता है? वह रात भर जागकर उन्मादिनी की भांति घड़े से अपना खेत सींचती है, पर इससे धरती की प्यास नहीं बुझती। इसी समय एक दिन जब सोना अपने ही घर में अपने सतीत्व के लुटने के भय से रात को खेतों में छिपी डोल रही थी, उसे गाँव से भागकर जाता हुआ भगवाना मिला। उसने पुलिस के सिपाही के धोखे में चौधरी के भतीजे वीरेन्द्र का खून कर डाला था। पुलिस के सिपाही ने भगवाना का अपमान किया था। उसे अकारण ही मारा था जिससे भगवाना की आत्मा तिलमिला गयी थी। वह इस अपमान को पी नहीं सका। सोना के समझाने पर कि भागने से उसी पर सन्देह होगा, वह रुक गया और दोनों ने मिलकर रातभर में खेत को सींच डाला। विपत्ति के मारे दोनों के हृदय एक दूसरे के प्रति सहानुभूति से भरकर निकट खिंच आये और अनजाने ही एक अटूट स्नेह-बन्धन में बँध गये।

दूसरे दिन गाँव में पुलिस की सरगर्मी रही और हत्या करने के सन्देह में पुलिस चौधरी के पुत्र सुरेन्द्र को पकड़ ले गयी। भगवाना फिर भी अपनी छाया से ही डरता फिरा। उसने हत्या की है इसकी चेतना उसके मन-प्राण में रह-रह कर बोल उठती। उधर भेड़िये से हरखू की रक्षा करने में स्वयं घायल होकर सोना भेड़िये की माँद के पास झाड़ी में अचेत पड़ी थी, और जब भगवाना उसे काफ़ी दिन चढ़े कन्धे पर डाल कर घर लाया तो उस समय सोना की वीरता और उसके साहस की कहानी के आगे वीरेन्द्र की मृत्यु और सुरेन्द्र की गिरफ़्तारी की घटना गौण पड़ गयी, राजा साहब ने भी दोनों को बुला भेजा और सोना को एक कोठरी देकर नर्स से उसकी मरहम-पट्टी कराने का प्रबन्ध करा दिया। और जब भगवाना कुं० रामपाल सिंह की नौकरी में शहर जाने लगा तो उससे सोना ने पहली बार निवेदन किया, कहा, "मेरे लिए चूड़ियाँ लेते आना, मैं तुम्हारी चूड़ियाँ पहनूँगी।" परन्तु भगवाना नगर से वापस नहीं लौटा, क्योंकि वह हत्यारा है, इस भावना से अपने को मुक्त नहीं कर पाया। चौधरी ने गाँव में अपने हथकण्डे ऐसे फैलाये थे कि औरों की जान बचाने के लिए बूढ़े चमार भगत जी ने अपने को हत्यारा घोषित करके पुलिस के हाथों सौंप दिया था। भगवाना इस निर्दोष महात्मा को फांसी के तख़्ते पर झूलते नहीं देख सकता था—उसने अपना क़सूर क़बूल कर लिया।

जब सोना और भगवाना का यह प्रसंग चल रहा था, कुँवर रामपाल सिंह बीमार पड़े थे और उनकी परिचर्या के लिए नगर से आयी नर्स मिसेज़ दासूबेन धीरे-धीरे कुँवर की ओर आकर्षित होती जा रही थी। कुं० भी उसकी ओर आकर्षित हुए, और यद्यपि दोनों में जाति-भेद था, कुँवर ने उनसे शादी का प्रस्ताव किया और दोनों की शादी भी हो गई। इसी समय भगत जी ने दासूबेन को देखा और दोनों ने एक दूसरे को पहचाना। दासूबेन भगत जी की बेटी ममता थी जो बचपन में खो गई थी और एक पादरी की कृपा से शिक्षा-प्राप्त करके नर्स बनी थी। परन्तु न राजा साहब भगत जी को अपना समधी मान सकते थे, न भगत जी ही राजा साहब को अपना दामाद। 'नहीं मालिक, यह मेरी बेटी नहीं है' कहकर बेचारे भगतजी वहाँ से खिसक गये।

इस प्रकार तिवारी जी का 'सोना और नर्स' एक रोचक और पठनीय उपन्यास है। शैली एक ऊँचा साहित्यिक धरातल पाने की सतत् चेष्टा करती दीखती है और कहीं-कहीं अभिव्यक्ति वास्तव में बड़ी चुभती और तीव्र है।

—अगस्त १६४७

३१
पर्दे के पीछे

'पर्दे के पीछे' पंडित उदयशंकर भट्ट के आठ नये एकांकियों का संग्रह है। एक बार में ही हिन्दी के इतने एकांकियों को एक साथ पढ़ जाने का यह अनुभव कुछ नया है। पहले एकांकी 'नई बात' की चौहद्दी पार करना ही कठिन लगा, क्योंकि उसमें मनोवैज्ञानिकों के शब्दों मे 'विश्फुल थिन्किंग' का कुछ ऐसा मोहाविष्ट वातावरण दिखाई दिया कि किसी पात्र का वास्तविक चरित्र उभरकर सामने आना असंभव हो गया। किन्तु 'नई बात' की सीमा पार करके जैसे ही आगे बढ़ा तो वहाँ का अकृत्रिम खुला वातावरण, वास्तविक समस्याओं और उनसे उत्पन्न बाह्य और आन्तरिक जीवन के वास्तविक वैषम्य, संघर्ष और नैतिक वेदन के निर्भ्रान्त चित्र देखकर मन की गति कुछ ऐसी हुई कि फिर बीच में कहीं रुकना न हुआ। लेखक की असावधानी से घुस आई एक-दो मामूली टेकनीक की भूलों को छोड़कर मार्ग में रस-विपर्य्यय करनेवाला कोई अवरोध नहीं मिला। एक के बाद दूसरे नये सजीव पात्र, उत्तर-स्वतन्त्रताकालीन भारतीय जीवन से लिये गये नये-नये विषय और नये-नये नैतिक प्रश्न मिलते गये, जिनको लेकर लेखक ने सहज और मार्मिक नाटकीय संघर्ष की सृष्टि की है। ऐसा प्रशस्त पथ पाकर मैंने एक बैठक मे ही इन आठ एकांकियों और १७८ पृष्ठों का बृहद् क्षेत्र नाप डाला। रस में डूबकर आदमी कितनी दूर तक अश्लथ और अविराम बहा चला जा सकता है, इस सुखद आनन्द से वर्तमान हिन्दी-साहित्य की रचनाओं के पाठक बहुधा वंचित रह जाते हैं। भट्ट जी के इन एकांकियों की यह सफलता क्या कम उल्लेखनीय है?

भट्ट जी की कला इन एकांकियों में आकर कैसी प्रस्फुटित हुई है—जैसे अपना सहज आधार पा गई हो—इसका विवरण इन एकांकियों की टेकनीक और रूप-रचना का विवेचन करके ही देना पर्याप्त न होगा। और फिर टेकनीक और रूप-विन्यास की दृष्टि से केवल इतना कह देना ही क्या यथेष्ट नहीं है कि इन एकांकियों की भाषा सहज और सरल है, संभाषण संक्षिप्त, कहीं-कहीं चुटीले और स्वाभाविक हैं, घटनाओं और कार्यों की संयोजना यद्यपि उतनी संश्लिष्ट तो नहीं जैसी रवीन्द्र, शरत् या गोर्की के नाटकों में होती है, और न उतनी एकांगी और परिसीमित ही है जैसी आजकल के बहुतेरे एकांकियों में मिलती है, जो व्यर्थ की ऊहापोह और वाग्जाल से भाराक्रान्त होते हैं, किन्तु फिर भी यह सुसंगत, सुसम्बद्ध और चरम सीमा की ओर

सहज प्रवहमान है, तथा स्थान-काल-कार्य—इस संकलनत्रयी एकता का भी उनमें निर्वाह ऐसी अकृत्रिम अक्षुण्णता से हुआ है कि इनमें से किसी एकांकी के सफल अभिनय में विशेष कठिनाई नहीं हो सकती। कम-से-कम इतने शिल्प-कौशल और रंग-मंच तथा नाट्य-रचना की टेकनीक की अभिज्ञता की तो किसी भी नाटककार से अपेक्षा की जाती है, और भट्ट जी के एकांकियों में यह कौशल यदि साधारणतया पाया जाता है तो इसमें विशेष विवेचनीय क्या है, और आलोचक की छिद्रान्वेषी दृष्टि डालकर यहाँ-वहाँ टेकनीक की त्रुटियों को इंगित करने में सार्थकता ही कौन-सी है ?

विशेष विवेचनीय है इन एकांकियों की विषय और विचार-वस्तु की संयोजना, जिसके द्वारा भट्ट जी ने आधुनिक जीवन की अनेक मार्मिक झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय जीवन में कुछेक ऐसे परिवर्तन हुए हैं और तेजी से होते जा रहे हैं, पूँजीवादी शोषण और व्यक्तिवादी स्वार्थपरता के चक्र में फँसे जन-समाज की यातनाएँ इतनी दुर्निवार बनती जा रही हैं कि कोई भी संवेदनशील लेखक अनायास ही नैतिक प्रश्नों को उठाये बिना नहीं रह सकता। अंधे स्वार्थ की आँधी अन्य मनुष्यों की पीड़ा-वेदना का विचार न करके जिस उद्दाम वेग से जीवन के हर क्षेत्र में मानवीय सहानुभूति, सौहार्द्र और स्नेह-सम्बन्धों के पेड़-पौधों को उखाड़ती-पछाड़ती और मनुष्य के पारस्परिक विनिमय के लिए केवल क्रूर अर्थ-सम्बन्धों की रेत बिछाती हुई बहने लगी है, इसके अनेक दुखदायी प्रसंगों को नाटकीय रूप देकर भट्ट जी ने साहसपूर्वक वर्तमान बुर्जुआ समाज और उसकी व्यक्ति-केन्द्रित नैतिकता को दर्पण दिखाना चाहा है। सच तो यह है कि इन प्रसंगों में 'पर्दे के पीछे' आज कुछ भी घटित नहीं हो रहा। स्वार्थ का ताण्डव पर्दे के आगे चल रहा है, किन्तु जो सबके लिए गोचर है, जिससे सब पीड़ित हैं, वही कानून की निगाहों से अगोचर है, मानो 'पर्दे के पीछे' है। इस संग्रह के नाम की यही सार्थकता है। अस्तु ये एकांकी 'एक्सपोज़र लिटरेचर' के अन्तर्गत ही आते हैं, अर्थात् इनमें वर्तमान समाज की सच्ची और क्रूर वास्तविकता को उघाड़कर रखा गया है। इसीलिए उनकी कला का अन्तःस्वर और उनमें व्यक्त क्षोभ और वेदना नैतिक है।

आरम्भ में ही कह चुका हूं कि इस संग्रह के पहले एकांकी 'नई बात' की चौहद्दी पार करना हमें कठिन लगा, क्योंकि उसमें वास्तविक चित्र पर अपनी ओर से जो 'वांछित' है का आरोप कर देने से एकांकी का आन्तरिक सामंजस्य विच्छिन्न हो गया है। कथा इस प्रकार है कि किशोरीलाल एक बड़े सरकारी अफ़सर हैं, बिल्कुल अंग्रेज़ी अमलदारी के ज़माने के आई० सी० एस० के नौकरशाही साँचे में ढले हुए। उनकी दृष्टि में किसी मनुष्य का सामाजिक महत्त्व-मूल्य कूतने की एक ही कसौटी है—सरकारी पद और वेतन। उनकी 'ऐश्वर्य-विलासमयी' पत्नी सुनन्दा का विचार भी

इससे भिन्न नहीं है, बल्कि अपने से नीचे के वर्ग के मनुष्यों को मनुष्य न गिनने का उनका अहंकार और भी दुर्विनीत है। ऐसे दम्पति के निकट कवि-कलाकार की जाति हो आवारों, लफंगों और निकम्मों की जाति है। 'इण्डियन पीनल कोड' के सर्वदर्शी अंग्रेज-प्रणेता 'जरायमपेशा जातियों' के खाने में इस निकम्मे वर्ग को रखने से कैसे चूक गये, उनके लिए हैरानी की बस यही बात है। तो ऐसे ही एक अभागे कवि विश्वभूषण की पत्नी कुन्तल दैवयोग से सुनन्दा की सखी, मायके की पड़ोसिन और सहपाठिन निकल आई। कभी विश्वभूषण के कविता-पाठ से मोहान्ध होकर उसने उनसे अपना विवाह करवा लिया था, लेकिन नाटक में तो वह हमें अपने निर्धन पति और उजड़ी गृहस्थी का रोना लेकर सुनन्दा के पास किशोरीलाल के दफ्तर में भूषण के लिए नौकरी की व्यवस्था कराने के हेतु एक याचक के रूप में उपस्थित मिलती है। सुनन्दा जब अपने सांसारिक ऐश्वर्य के उच्चासन से भूषण के प्रति अपनी भर्त्सना और कुन्तल के प्रति अपनी करुणा-दया का प्रदर्शन करने में व्यस्त होती है कि उसके पति किशोरीलाल एक दूसरे उच्चाधिकारी अफसर रघुवंश के साथ दफ्तर से लौटते हैं। कुन्तल का परिचय मिलते ही दोनों मित्रों मे कवि की सामाजिक उपयोगिता-अनुपयोगिता को लेकर बहस चल पड़ती है, क्योंकि रघुवंश का विचार किशोरीलाल से नहीं मिलता। इतने में कुन्तल अपने स्वाभिमानी पति विश्वभूषण को किसी बहाने बुला लाती है। उसके आते ही बहस का धरातल ऊँचा उठ जाता है। यह ठीक है कि भूषण के तर्क अधिक अर्थगर्भित और संगत हैं, उसकी आत्मसम्मान की धारणा भी अफसरी दम्भ से ऊँची है और उसकी उपेक्षा-दृष्टि के सामने पड़कर इन अधिकारियों का व्यक्तित्व केंचुए की तरह तिलमिलाकर सिकुड़ जाता है, किन्तु फिर भी इस जगह एक अस्वाभाविक घटना घटित होती है। तर्क से हृदय-परिवर्तन का कुछ ऐसा अकल्पनीय चमत्कार हो जाता है कि पाठक (दर्शक) जब तक कोई आन्तरिक संगति मन में बैठा भी नहीं पाता कि किशोरीलाल और सुनन्दा दोनों ही समाज में कवि की सर्वोच्च महत्ता स्वीकार कर लेते हैं। बस चतुर्दिक से कवि का स्तुतिगान ऐसे समताल पर शुरू हो जाता है कि एक दिग्भ्रान्त, व्यक्तित्वहीन मिसेज़ चोपड़ा को छोड़कर सभी के व्यक्तित्व उसमें घुल-मिल कर एकाकार हो जाते हैं! अपने नये उच्छ्वास के वशीभूत सुनन्दा ऐसे महान् समाजोपयोगी प्राणी को आर्थिक चिन्ताओं से मुक्ति दिलाने के लिए नोटों की एक विपुल गड्डी लाकर भूषण को भेंट कर देती है। भूषण उसे लेकर बाहर नौकर-चाकरों में नोट बाँटता हुआ चला जाता है! थोड़ी-सी बहस के उपरान्त किशोरीलाल, सुनन्दा, रघुवंश, कुन्तल आदि इन रुपयों के ऐसे सदुपयोग की कल्पना कर-करके गद्गद् और आत्म-विभोर हो उठते हैं और बाहर से आनेवाले कवि के जयकारों के साथ पटाक्षेप हो जाता है! है न आश्चर्यजनक!

हृदय-परिवर्तन कोई असम्भव क्रिया नहीं है, आकस्मिक न होता हो, सो बात भी नहीं ! लेकिन न जीवन में और न कला में, यह क्रिया केवल तर्क से ही निष्पन्न नहीं हो पाती। बिना किसी मार्मिक घटना का आघात पाये बद्धमूल संस्कार अपनी जड़ता त्यागकर हृदय में न किसी नये सत्य की रोशनी ही घुसने देते हैं और न व्यवहार-आचार की गति-दिशा को ही बदलने देते। इसीलिए कला में जीवन-सत्य अपनी चरम संभावनाओं के साथ ही प्रकट हो पाता है, अर्थात् निर्दिष्ट परिस्थिति में पड़कर कोई व्यक्ति 'क्या है', 'क्या कुछ करता है', ही नहीं बल्कि 'क्या हो सकता है' और 'क्या कुछ कर सकता है' को रूपायित करना तो कला का विषय, साधन और साध्य है, परन्तु उसे 'क्या होना चाहिए' या 'क्या करना चाहिए' यह दिखलाना कला का उद्देश्य नहीं। यह कार्य कोरे उपदेशक, व्यवस्थापक और नीतिज्ञ का है। कला में ऐसा करते ही 'सम्भावना' के तत्त्व की आन्तरिक अनिवार्यता का व्यतिक्रम करके बहुधा पिष्ट-पेषण का आश्रय लेने की ज़रूरत पड़ जाती है, और कला की मूर्त्तता का विलय हो जाता है। सत्य पर 'वांछा' का आच्छादन किसी को भला लगे, लेकिन उससे सत्य का सूर्य ही यदि राहु-ग्रसित हो जाय, तो फिर प्रकट क्या दीखेगा, यह चिन्ता का विषय है !

इस प्रसंग को अधिक तूल न देकर आगे बढ़ें। देखता हूँ कि आलोचना करते समय भी 'नई बात' की सीमा पार करके आगे बढ़ना सहज नहीं हुआ। लेकिन अगले एकांकियों को पढ़ते समय रवि-शरत् की कृतियाँ यदि मन की पृष्ठभूमि में रहें तो यह भेद स्पष्ट होने मे आसानी होगी कि वर्तमान लेखक की विशेषताएँ कितनी दारुण हैं। तब स्वतन्त्रता नहीं थी, स्वतन्त्रता का संघर्ष था। उसके मार्मिक चित्र खींचे रवि, शरत् और एक सीमा तक प्रेमचन्द ने। जर्जर सामन्ती समाज की ह्रास-लीला के साथ जो चित्र उभरे वे उतने नये पूँजीवादी समाज-सम्बन्धों और नैतिकता के नहीं, बल्कि राष्ट्रीय आज़ादी के संग्राम की एकता का शिलान्यास करनेवाली साधना, त्याग और पर-दुख-कातर ममता के थे। उदाहरण के लिए शरत् की कृतियों मे रूढ़िबद्ध संस्कारों पर जितनी गहरी चोट है, उतनी ही पारस्परिक सम्बन्धों के मानवीय रूप की गरिमा भी है। उनके निकट, इसीलिए, 'प्रेम' ही मनुष्य के समस्त कार्यों और सम्बन्धों की कसौटी बन गया। इस कसौटी पर खरी न उतरनेवाली कोई भी पुनीत-से-पुनीत समझी जानेवाली धर्म-नीति, प्रभुता की व्यवस्था या रूढ़ि-संस्कारगत भावना न्याय्य और मान्य न रही। प्रेम में ही भारत के जागरण, पुनरुज्जीवन, मुक्ति और प्रगति की समस्त आकांक्षाएँ-साधनाएँ समाहित हो गईं ! वह उनका मूल मंत्र और 'वार-क्राई' (युद्ध का नारा) बना और इसके अगणित और अविस्मरणीय कलात्मक चित्र अंकित किये उन्होंने भारतीय जीवन के प्रत्येक वर्ग और कार्य-क्षेत्र से। पिता-पुत्र, मित्र-बन्धु,

पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, ननद-भावज, देवर-भौजाई, दासी-गृहस्वामिनी, विधवा-सुहागिना—मनुष्य-मनुष्य के साथ समाज के भीतर जितने भी प्रकार से परस्पर सम्बन्धित होते हैं, उनके भातर मुक्ति, सहयोग और जीवन के प्रतीक 'प्रेम' के सत्य की प्रतिष्ठा करके वे मनुष्य-जीवन की आन्तरिक गरिमा का उद्घाटन कर सके, ऐसे सजीव और सम्पूर्ण मानव-चरित्रों की सृष्टि कर सके जिनके कार्य-कलापों के परोक्ष में युग का सम्पूर्ण योतिहासिक आलोड़न—नये-पुराने, ज्ञान-अज्ञान, सत्य-असत्य और ह्रास और विकास की शक्तियों का विराट् संघर्ष उद्भासित हो उठा। किन्तु आज प्रेम का वह सम्बल जैसे लेखक के हाथ से छूट गया है, वह मंत्र विस्मृत हो गया है जो सत्य की उपलब्धि तक ले जाने का सहारा था। इतना ही क्यों, सब कुछ उलट-पलट गया—प्रेम की साधना नहीं, प्रेम को मुँह बिचकाना ही लक्ष्य बनता जाता है। मनुष्य के नैतिक (सामाजिक) बोध को जगाना नहीं बलिक उसकी निगूढ़ 'पाशविक' (अनैतिक, असामाजिक, आत्मकेन्द्रित) वृत्तियों को जगाना फैशन बन गया है। स्वतन्त्रता का संघर्ष नहीं रहा, अब पाई हुई स्वतन्त्रता का दूसरों की अपेक्षा अधिकाधिक भोग करने के लिए उच्च वर्गों में खींचातानी मची हुई है। गन्तव्य स्थान अभी दूर है, रुककर इस पर विचार करने का धैर्य किसे है? जिन्हें इसकी चेतना है, वे अशक्त हैं और स्वयं अपनी ही बुर्जुआ दुर्बलताओं से आक्रान्त हैं। राजनीतिक दृष्टि से हम आगे बढ़े हैं, किन्तु नैतिक दृष्टि से क्वचित अधोमुखी होकर रसातल की ओर बढ़ रहे हैं। विदेशियों की नोचखसोट के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए जनता को उद्बुद्ध करने में और स्वयं नोचखसोट में हिस्सा लेकर दमन-चक्र से उद्बुद्ध जनता का मुँह बन्द करने में भारी नैतिक अन्तर है, इसे दलील देकर समझाने की जरूरत नहीं है। सो अब प्रचलित नैतिकता का रूप राष्ट्रीय या भारतीय न रहकर शुद्ध पूँजीवादी (बुर्जुआ) हो गया है। अर्थ ही इसकी निर्मम कसौटी है। मनुष्य या मनुष्यता नाम की वस्तु का इसमें अस्तित्व नहीं है। इस बात को लोग अभी खुलकर कबूल नहीं करना चाहते। इस युग के संवेदनशील लेखक अपने समग्र राष्ट्रीय जीवन में व्याप्त इस अधोगति के ही निरुपाय द्रष्टा हैं। इसके विपरीत ऐसे भी लेखक हैं जिनके हृदय का सुर इसकी विषम ताल पर ही सम बैठता है। वे इस अर्थवृत्ति की व्यक्तिकेन्द्रित बर्बरता को ही मनुष्य का एकान्त सत्य मान चुके हैं। वे 'जो है सो ऐसा ही है' के नीरस, कलाहीन चित्रण में व्यस्त हैं, भले ही वह चित्र उनके बहिर्जीवन का हो या अन्तर्जीवन का। किन्तु जिनका अन्तःकरण अभी जन-समाज के दुःख-दर्द के प्रति संवेदनशील है, वे चाहे रवि-शरत् की तरह प्रचलित नैतिक मूल्यों की जर्जरता सिद्ध करके साहित्य और उसके द्वारा समाज-जीवन में अधिक मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा न कर पायें, लेकिन 'जो अब होने लगा है' की प्रणाली से प्रचलित नैतिक

मूल्यों की भयंकर गिरावट को उघाड़ने का साहस तो कर ही लेते हैं ! 'जो है सो ऐसा ही है' और 'जो अब होने लगा वह यह है' में तात्त्विक भेद है। एक में 'जो है' की खुली अनैतिक स्वीकृति है। दूसरे में 'जो होने लगा है' की प्रच्छन्न किन्तु नैतिक अस्वीकृति और भर्त्सना है। एक में अपने से बाहर के प्रति घोर असंवेदना है और अवहेलना का भाव है, जो पाठक के मानवीय विवेक को कुंठित करता है तो दूसरे में समाज जीवन की समस्याओं के प्रति सचेतनता है, जो पाठक के विवेक को जगाती है और उसके अन्तःकरण में इस अधोगति के प्रति ग्लानि और वेदना भर देती है। भट्ट जी के एकांकी इस दूसरी कोटि के है।

इस विवेचन के उपरान्त प्रस्तुत संग्रह के एकांकियों के मर्म तक सरलता से पहुँचा जा सकता है। भारतीय समाज में माता-पिता के प्रति सन्तान का आदर-सम्मान, कर्त्तव्य-निष्ठा और श्रद्धा-भक्ति का भाव केवल सांसारिक लाभ-हानि के हिसाब-किताब के आश्रित नहीं है। इसकी पुनीतता मनुष्य-मनुष्य के बीच के सबसे निकटतम सम्बन्ध के कारण है। परिवार के जीवन मे अधिकारों और दायित्वों की श्रृंखला इस मार्ग ही पीढ़ी-दर-पाढ़ी आगे चलती जाती है। लेकिन बुर्जुआ समाज की व्यक्तिवादिता अधिकारों का उपभोग तो करना चाहती है, पर दायित्वों को स्वीकार नहीं करना चाहती। भट्ट जी ने इस मनोवृत्ति का नाटकीय चित्र खींचा है 'बाबू जी' में। बीमार और वयोवृद्ध 'बाबूजी' को, जिन्होंने अपने परिश्रम की कमाई से अपने पुत्रों को पढ़ा-लिखाकर काम से लगाया और परिवार के लिए एक बड़ा-सा मकान बनवाया, पहले तो उनका बड़ा लड़का भोलानाथ अपने प्रिय कमरे से निकाल देता है जिसमें उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दिन काटने चाहे थे, और फिर दूसरा, तीसरा और चौथा लड़का अपनी-अपनी नई गृहस्थियों को जमाने के लिए अधिक स्थान पाने की स्पर्धा में एक कमरे से दूसरे कमरे में, ऊपर से नीचे की मंजिल में और अन्त में घर से बाहर ही खदेड़कर बाहर के आँगन में नीम के नीचे उनकी खाट पहुँचा देते हैं ! अपनी इस अनुश्रुत पितृ-भक्ति का औचित्य सिद्ध करने के लिए भोलानाथ विज्ञान का आश्रय लेता है कि "नीम के पेड़ के नीचे रहना स्वास्थ्य के लिए बड़ा अच्छा है," लेकिन केदार को इतनी पर्दापोशी करने का भी व्यवहार-ज्ञान नहीं है, वह बाबूजी को श्मशान-घाट पहुँचाने की आसन्न समस्या का समाधान सोचता हुआ कहता है, "सब से बड़ा फायदा तो यह है कि उन्हें आगे ले जाने में अब ज्यादा सहूलियत होगी !" भारतीय अन्तः-करण के प्रतीक रामू और चुनिया, घर के नौकर, पिता-पुत्र सम्बन्ध की ऐसी अकृतज्ञ परिणति पर चुपचाप आँसू बहाते हैं।

सर्व-भक्षिणी अनैतिकता के जाल में फँसकर प्रेम-विवाह पर आधारित दाम्पत्य जीवन भी कैसा भयंकर दुःस्वप्न बन जा सकता है, इसकी क्रूर विकृति का नाटकीय

चित्रण हुआ है 'यह स्वतन्त्रता का युग !' में। बुर्जुआ समाज में एक समुदाय की 'स्वतन्त्रता' अनियन्त्रित और निर्बन्ध होकर दूसरे की 'अ-स्वतन्त्रता' बन जाती है। 'नारी-स्वातन्त्र्य' का वांछित नारा उच्च वर्ग की नारी को एक अवांछित प्रकार का यौन-स्वातन्त्र्य प्रदान करके अपना ही उद्देश्य नष्ट कर लेता है। मुक्त नारी सामाजिक प्राणी नहीं, 'सोसायटी वोमन' (पूंजीवादी भद्र-समाज की महिला) बनने की कामना से उद्दीप्त हो उठती है ! अब रूप का व्यापार परिवार और समाज से बहिष्कृत होकर बाजारू ढंग से नहीं चलता, परिवार और समाज की छाती पर बैठकर और नारी-स्वातन्त्र्य के नाम पर अधिक मनोवैज्ञानिक छद्मरूपों में चलाया जाने लगा है। पर व्यापार तो व्यापार है, वहाँ प्रतियोगिता, विज्ञापन, मिलावट, धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार सभी को खुल-खेलने को मौका है। इसलिए, इस कारोबार को चलाने के लिए नित्य नये-नये आकर्षक ढंगों और प्रणालियों का आविष्कार होता रहता है । ब्यूटी-कन्टेस्ट (सौन्दर्य-प्रतियोगिता) इसका सबसे नूतन आविष्कार है, जिसका प्रलोभन एक सुन्दर नारी के लिए तो अनन्त है—यह उच्च वर्गों द्वारा उसके सौन्दर्य की अनिंद्यता की स्वीकृति का साधन है। इस प्रतियोगिता में जीतने पर किसी स्त्री को 'सोसायटी' की सीढ़ी पर ऊर्ध्वगमन करने से रोक सकने की शक्ति स्वयं विधाता में भी नहीं है। इस सफलता के लिए और किसी प्रकार की बौद्धिक-सांस्कृतिक उपलब्धि की भी जरूरत नहीं, केवल प्रकृति के दिये हुए रूप का विक्रय करके ही यश, धन और भोग की लिप्साएँ शान्त की जा सकती हैं। किसी सामाजिक बन्धन और दायित्व, पति-पुत्र के प्रति प्रेम-ममता आदि मानवी भावनाओं को हृदय में प्रश्रय देने की भी जरूरत नहीं है, क्योंकि ये कोमल और पुनीत भावनाएँ बन्धन ही सिद्ध हो सकती हैं। बुर्जुआ समाज में 'नारी-स्वातन्त्र्य' का अभियान अब नारीत्व के इन बन्धनों को भी तोड़कर आगे बढ़ रहा है। प्रोफेसर जयन्त की पत्नी मीना का, भट्ट जी ने, ऐसी ही एक 'मुक्त' नारी के रूप में चरित्र-चित्रण किया है, जो प्रेम की पवित्रता और अपने शिशु की मातृ-वत्सलता को ठुकराकर 'सोसायटी' की मरीचिका के पीछे अपना सर्वस्व लुटाकर दौड़ रही है। पहले तो वह अनेक प्रकार के छल-छद्मों का प्रयोग करती है, लेकिन जब असल बात जयन्त पर प्रकट हो जाती है कि उसके प्रेमियों में कई सेठ हैं, जो उसे रेस-कोर्स, सौन्दर्य-प्रतियोगिता आदि के अखाड़ों में उतारकर अपना मतलब गाँठ रहे हैं, तो वह (मीना) जयन्त के हृदय को अपने वाग्बाणों से छेदती हुई और अपने बीमार शिशु को उसके आसरे छोड़कर एक सेठ के साथ मंसूरी की सैर को चली जाती है। एक भरा-पूरा, सुखी परिवार विच्छिन्न हो जाता है, क्योंकि परिवार की निबिड़ एकान्तता अर्थ की अनैतिकता के आक्रमण के आगे निमिष-मात्र को भी नहीं ठहर पाती। परिवार की इकाई चरमराकर टूट जाती है, और पाठक (दर्शक) के मन में

असीम वेदना और बुर्जुआ मनोवृत्ति के प्रति क्षोभ और ग्लानि की कटुता भर जाती है।

प्रेम का यहाँ अभिनय नहीं था, किन्तु जहाँ प्रेम का अभिनय है वहाँ भी स्वतन्त्रता के नाम पर दुरंगी नीति, मिथ्याचरण और धोखाधड़ी का ही चलन हो गया है। 'बार्गेन' (सौदा) में भट्ट जी ने बुर्जुआ-प्रेम के अभिनय के पीछे छिपी यथार्थता को उद्घाटित किया है। उच्च वर्ग से एक स्तर नीचे, बुद्धिजीवियों में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की धर्म-ध्वजा फहराकर भारत की जनसंख्या की बढ़ती को रोकने के नाम पर अविवाहित रहने के संकल्प बनते हैं, किन्तु साथ ही गर्भ-निरोध की विधियों का प्रयोग करते हुए एक साथ ही अनेक स्त्रियों या पुरुषों से अनियन्त्रित प्रेमाभिनय तथा यौन-सम्बन्ध आदि भी चलते हैं। मूल-भावना यह है कि उच्छृंखल प्रेम का आनन्द तो भरपूर मिले, लेकिन कोई दायित्व न उठाना पड़े, न जीवन की धारा में कहीं कोई ठहराव या पड़ाव हो। कहीं कोई बाधा-बन्धन न हो। 'बार्गेन' का नायक कैलाश ऐसा ही बुद्धिजीवी है—एक अंग्रेज़ी अख़बार का सम्पादक। कुन्ती और सरोज से उसका प्रेम एक साथ ही चल रहा है। कुन्ती गर्भवती हो गई है, किन्तु सरोज ने अभी तक प्रेम की गली में पाँव ही रखा है। कैलाश यूँ तो विवाह का विरोधी है, लेकिन सरोज को जीतने के लिए वह उससे विवाह का प्रस्ताव करता है। कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती हैं कि कुन्ती को अपने गर्भ का पता चल जाता है, और वह भी कैलाश को विवाह करने के लिए विवश करती है। कैलाश डाक्टर की सहायता से गर्भपात कराने का प्रबन्ध करने की सलाह देता है, लेकिन इसी बीच कुन्ती की बात सरोज पर और सरोज की बात कुन्ती पर प्रकट हो जाती है और दोनों इस धोखेबाज़ और मक्कार कैलाश को अपने हृदय से धिक्कारती हुई चली जाती हैं, और कैलाश के बाप अपने 'साधु' पुत्र के विवाह की अन्यत्र व्यवस्था करने में लग जाते हैं।

मूर्ख दुनिया की आँखों में धूल झोंकने का जो नया मज़हब चल निकला है, उसका मूल-स्रोत कहाँ है, जहाँ से अनैतिकता का गन्दा नाला बहकर जीवन के हर क्षेत्र को कलुषित बना रहा है—इसका उद्घाटन भट्ट जी ने 'पर्दे के पीछे' में किया है। यहाँ, जैसा हम पहले कह चुके हैं कि वस्तुतः पर्दे के पीछे कुछ नहीं हो रहा, स्वार्थ की दानव-लीला क़ानून की आँख में धूल झोंककर दिन-दहाड़े अविराम जारी है। सेठ छीतरमल सजातीय सेठों की तरह 'इनकम टैक्स' वालों को धोखा देने के लिए अपनी 'बहियाँ' बदलवाता है, अख़बारों में अपने दान-पुण्य की प्रशस्तियाँ छपवाने के लिए परिन्दों का अस्पताल खुलवाता है और काँग्रेसी नेताओं को चन्दे की भारी रक़म देकर पुलिस और क़ानून की पकड़ से मुक्ति पा ग़रीबों का निर्ममता से शोषण करता है, चोर-बाज़ार चलाता है और न जाने क्या-क्या करता है, जिससे उसकी तिजोरी में दिन-दूनी-रात-चौगुनी धन-वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार भट्ट जी ने स्वतन्त्रता के

युग की बुर्जुआ नैतिकता के अनेक क्रूर पहलुओं को सफल नाटकीय अभिव्यक्ति देकर हिन्दी एकांकी-साहित्य में सामयिक जीवन के सत्य को मार्मिक रूप से उघाड़ कर रख दिया है।

इन एकांकियों के अतिरिक्त, किन्तु वर्तमान जीवन की एक और समस्या का चित्रण करता हुआ एकांकी 'मायोपिया' भी है, जिसमें उस रोग की झाँकी देखने को मिलती है जो मध्यवर्ग की बुद्धिजीवी स्त्रियों में तेज़ी से संक्रमण कर रहा है। यह रोग है 'स्पिन्स्टरहुड' का, अर्थात् व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए, समाज में नारी की पराधीनता से विद्रोह जताने के लिए आजीवन अविवाहित रहने का संकल्प करके जीवन बिताने का। यहाँ भी मूल में दायित्वों से बचने की प्रवृत्ति है। और इससे भी अधिक इस विद्रोह के आडम्बर और उपक्रम के पीछे धनी पति पाने की लालसा भी है। जब इस कामना की पूर्ति नहीं होती तो विद्रोह की ध्वजा उठाकर अविवाहित जीवन व्यतीत करने का संकल्प ऊँचे स्वर से प्रचारित करना एक फैशन-सा बन गया है। 'मायोपिया' की नायिका प्रो० सुधी ऐसी ही स्त्री है। उसने तारक का प्रेम ठुकरा दिया, क्योंकि उस समय वह साधारण व्यक्ति था, लेकिन जब पन्द्रह सौ रुपये मासिक की नौकरी पाकर उसने अनामा से विवाह कर लिया तो अपनी ही भूल पर सुधी का हृदय कचोट उठा और तब इस पीड़ा को दबाना पड़ा अपने अन्तर में पुरुष-द्रोह की अग्नि को और भी भीषण रूप में प्रज्वलित करके। उधर जब सुधी की विद्यार्थिनी चन्द्रिका ने अपनी सेवा से केशव का हृदय जीत लिया तो उसकी ईर्षाग्नि भी भड़क उठी और यह अनुताप भी सुधी के हृदय को जलाने लगा कि उसका दूसरा प्रेमी भी हाथ से छूटा। किन्तु सब वृथा गया—सुधी का प्रेम-निवेदन, आत्मसमर्पण—केवल रह गया उसका बौद्धिक चक्र-जाल और पुरुष-द्रोह का हृदयानल। इस प्रकार के एकांगी, स्वार्थी और व्यक्तिवादी द्रोह की परिणति जीवन की ऐसी विश्रृंखलता में ही हो सकती है, इसका भाव काफ़ी तीव्रता से पाठक (दर्शक) पर प्रकट हो जाता है।

अन्त में 'ग्रह-दशा' और 'अपनी-अपनी खाट पर'—इन दोनों प्रहसनों का उल्लेख करके इस विवेचन को समाप्त करना चाहिए। दोनों प्रहसन अपने-अपने ढंग के निराले हैं, और हिन्दी एकांकी-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। 'ग्रह-दशा' अत्यन्त मार्मिक प्रहसन है। गिरधारी और रमा को जैसे विधाता ने एक-दूसरे के लिए खूब उपयुक्त सोच-समझकर ही गढ़ा है। दोनों भुलक्कड़ स्वभाव के हैं, तनिक-सी बात पर क्रोध का पारा सातवें आसमान पर चढ़ जाता है। फिर कुछ आगा-पीछा नहीं सूझता। सारा व्यवहार-ज्ञान न जाने कहाँ छू-मन्तर हो जाता है। आवेश में आकर वे अपना ही अहित कर डालते हैं। लेकिन तभी होश आता है और अनुताप से इतने विह्वल हो जाते हैं कि क्रोध में जितना भयंकर अपमान कर सकते हैं;

सुस्थिर होने पर उतनी ही दयनीय अनुनय-विनय भी। ऐसे दम्पति को ब्याहनी है अपनी लड़की जो अब सयानी हो गई है। घर में भूँजी भाँग नहीं है, उस पर माता-पिता के व्यवहार-कौशल की यह अवस्था! जहाँ बात चलाते हैं, पक्की होते न होते अपनी ही किसी अकथ्य बात से टूट जाती है। बस ऐसे ही दो पात्रों का बड़ा सजीव और स्वाभाविक चित्रण इस नाटक में हुआ है।

'अपनी-अपनी खाट पर' में वस्तुतः दो ही पात्र हैं—उमाकान्त और रमाकान्त। उमाकान्त की पत्नी भी आती है, लेकिन उसकी भूमिका गौण है, केवल जो बात कह जाती है, उससे इन दोनों मित्रों के विचार-प्रवाह को एक नई गति और दिशा मिल जाती है, जिससे नाटकीय चरम-सीमा तक सहज पहुँचने में योग मिलता है। दोनों मित्र भाँग छानकर अपनी-अपनी खाट पर नशे में चूर पड़े हैं, और दोनों का विचार-प्रवाह विवेक और चेतना का बन्धन तोड़कर उच्छृंखल गति से जगत और जीवन की हर वस्तु पर टीका-टिप्पणी के छींटे उड़ाता आगे बह चला है। इसमें कहीं पूर्व-विचारित हास-परिहास या व्यंग-विनोद नहीं है, लेकिन चेतना के बन्धन ढीले होने पर विचार-पट पर आई हुई हर वस्तु के विकृत चित्रों के टुकड़ों को जोड़-सँजोकर जो सहज हास का उद्रेक करनेवाला एक सम्पूर्ण चित्र बनाया जा सकता है, वही भट्ट जी ने किया है, और खूब किया है। यूँ तो लगता है कि दोनों मित्र भाँग की झोंक में अनर्गल बक रहे है, लेकिन उनकी बातें बे-सिर-पैर की ही नहीं हैं, उनके भीतर आजकल के अनेक साहित्यिक प्रवादों और फैशनों की व्यंगपूर्ण आलोचना है। कुल मिलाकर पढ़ने मे जो आनन्द आता है, वह पढ़कर या स्टेज पर देखकर ही जाना जा सकता है।

वर्तमान युग के जीवन-सत्य को मूर्त्त कलात्मक अभिव्यक्ति देने की समस्या आज कठिनतर होती जा रही है। भट्ट जी इन एकांकियों में इस समस्या का पूर्ण कलात्मक समाधान पा ही चुके हों, ऐसा नहीं कह सकता, लेकिन ठीक दिशा में उन्होंने सफल प्रयोग किये हैं, इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

—अक्तूबर १९५३

३२
निशानियाँ

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के संग्रह की अन्तिम कहानी का नाम 'निशानियाँ' है, परन्तु वह इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानी नहीं है। कदाचित् लेखक को यह अभीष्ट भी नहीं था, अन्यथा 'चट्टान', 'नज्जिया', 'नासूर', 'चित्रकार की मौत' या 'पहेली' इन पांच नामों में से उसे निर्वाचन करना पड़ता और तब संभवतः लेखक संग्रह के नाममात्र से यह प्रकट न कर पाता कि उसके जीवन के दुर्गम मार्गों से प्रवाहित होकर प्रेम का निर्झर अपने पथ में जिन चित्रमय, कोमल-कटु, सुखद-दुखद स्मृतियों के चिन्ह छोड़ गया है, वे इन कहानियों में अंकित हैं। इस दृष्टि से संग्रह का 'निशानियाँ' नाम ही सार्थक है।

विश्व की किसी भी भाषा के कथा-साहित्य में प्रेमाख्यानों की कमी नहीं है। यहां तक कि सभ्य-असभ्य जातियों की अलिखित लोक-कथाएँ भी राजकुमार-राजकुमारियों, परीदेश की शाहज़ादियों या यथार्थ-जीवन के आदर्श-प्रेमियों के सफल-असफल, सुखान्त-दुखान्त आख्यानों का अक्षय भंडार हैं। आदिकाल से स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण-विकर्षण की समस्या को अगणित ज्ञात-अज्ञात लेखकों और कलाकारों ने काव्य, कथा या कला के माध्यम से सुलझाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने प्रत्येक युग और काल में सभ्यता और संस्कृति के नये-नये नैतिक मानों के अनुकूल या प्रतिकूल, कठोर सामाजिक प्रतिबन्धों में जकड़े या भावना की जटिल, दुरूह गुत्थियों में उलझे प्रेमियों को प्रेम के उद्वेलित, चिर-विदग्ध, अंध-सागर में निरुपाय और निस्सहाय छोड़कर उनके अदम्य साहस, अगाध अनुराग और अमर आकांक्षा के ज्वलन्त आदर्श स्थापित करने चाहे हैं। प्रेम के ऐसे आदर्श जो प्रत्येक प्रेमी-प्रेमिका के हृदय मे साहस, अनुराग और जीवनाकांक्षा की अकलुष, अमंद ज्योति जगाते हैं, उनके व्यवहार, उनकी मनुहार और उनके साधारण कार्य-कलाप, वाणी और भंगिमा को एक निसर्ग स्निग्धता, मधुरता और हार्दिकता से प्लावित कर देते हैं। और इस सम्बन्ध को और अधिकाधिक संस्कृत, मानवीय और सुमधुर बनाने के लिए प्रेमियों को प्रेरणा देते हैं।

'अश्क' की प्रेम-कहानियाँ भी इतनी गहरी संवेदनायता, मर्मस्पर्शी हार्दिकता और सघन मानवीयता से ओतप्रोत हैं। इसी कारण 'माया' और 'रसीली कहानियाँ' जैसी कहानी-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाली कहानियों की तरह, उनकी कहानियाँ

लोक-प्रिय ढंग की प्रेम-कहानियाँ नहीं हैं। उतनी सस्ती भावुकता, परिस्थितियों और घटनाओं की वैसी चुस्त कलाबाजी कि पाठक हैरान रह जाय या उछल पड़े, ऐसा कुछ उनमें नहीं है। जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल की तरह 'अश्क' की कहानियाँ भी 'लोक-प्रिय' ढंग की न होकर 'साहित्यिक' ही होती हैं। परन्तु अश्क की कला और शैली की एक विशेषता है जो अन्यत्र कम मिलती है—वह है भाव और भाषा का असीम संयम। जीवन की विषम-से-विषम परिस्थितियों का, जिनमें पड़कर लगता है सारे सुखद स्वप्न छिन्न-भिन्न हो गये हैं और निस्सीम अंधकार निगलने को बढ़ा चला आ रहा है, 'अश्क' जिस धैर्य और संयम और गहरी मानवीय सहानुभूति के साथ चित्रण करते हैं, वह साधारण लेखक की क्षमता के बाहर की बात है। बहुधा कथा में ऐसी परिस्थितियों की सृष्टि करते ही अन्य लेखकों के पाँव उखड़ जाते हैं, भावनाओं के उद्रेक में वे इतना अधिक बहने लगते हैं कि पाठक पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। पाठक उनकी अधीरता और कातरता से क्षुब्ध हो उठता है। परन्तु कलाकार 'अश्क' का प्रौढ़ मानस परिस्थितियों की थपेड़ खाकर कातर और भावुक नहीं बनता और न अपने व्यक्तित्व को ही खो बैठता है। किसी भी लेखक के बारे में इतना कह देना, संभवतः बहुत बड़ी बात कह देना है। परन्तु 'अश्क' की कहानियों के बारे में इतना भी न कहना, मेरे विचार से, उनके सही मूल्य को न समझना है।

'अश्क' की कला की एक और विशेषता है जो इन कहानियों में विशेष रूप से उभरकर सामने आई है। उनमें कथोपकथन विशेष नहीं है, घटनाएँ भी बहुत तेज़ी से नहीं बदलतीं, परन्तु भरे-पूरे दर्शनीय वातावरण में वेष्टित करके वे जिस भौतिक अथवा मनोवैज्ञानिक अनुभव का चित्रण करते हैं, वह अत्यन्त सजीव हो उठता है। जिन सूक्ष्म और कोमल प्रभावों को संयोजित करते हुए वे पात्रों के चरित्र की आन्तरिक गठन को प्रकाश में लाते जाते हैं तथा साथ ही परिस्थितियों की क्रूरता और विषमता का सघन और मर्मस्पर्शी अनुभव पाठक को कराते जाते हैं और जब ये सारे प्रभाव कथा के अन्त में एक केन्द्र-बिन्दु पर एकाग्र हो जाते हैं तब किसी साधारण-सी घटना, वाक्य या भंगिमा से टकराकर सारी कथा को, पात्रों के सम्पूर्ण चरित्र को, परिस्थिति की समस्त क्रूरता को विद्युत-प्रकाश से आलोकित करके पाठक को निर्भयता से झकझोर देते हैं। निश्चय ही 'अश्क' की कहानियों में कठोर जीवन-सत्य और कला का गुंफन इतना संतुलित और सामञ्जस्यपूर्ण हुआ है कि पाठक को कहीं विरसता का अनुभव नहीं होता।

उदाहरण के लिए 'चट्टान', 'नज्जिया', 'चित्रकार की मौत' और 'पहेली'—इन कहानियों को लीजिए। इस संग्रह की ये श्रेष्ठ कहानियाँ हैं।

भारत में समाज-सेवा और प्रेम में मौलिक विरोध समझा जाता है, मानो

दोनों परस्पर-विरोधी वृत्तियाँ हों। इसलिए समाज-सेवक को अपने जीवनादर्श के अनुकूल व्यवहार करने के लिए अपनी स्वाभाविक काम-वृत्तियों का दमन करके ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का जीवन स्वीकार करना पड़ता है। 'चट्टान' की यही समस्या है। इस कहानी का नायक शंकर जो समाज की असमताओं के कटु अनुभव से कामिनी-कंचन की आकांक्षा त्याग करके मन से विरागी बन गया, एक अत्यन्त उदार और त्यागी समाज-सेवक मास्टर जी को देश से अविद्या दूर करने के महत्कार्य में सहयोग देने लगता है और उनके उपदेशों पर अक्षरशः चलकर वासनाओं पर क़ाबू पाने के लिए अपने मन और हृदय को चट्टान बना लेना चाहता है। परन्तु मास्टर जी की पत्नी, जो अपने पति की त्याग-भावना के कारण उनके प्रेम और अनुराग से वंचित हो गई है, निरीह शंकर को पाकर अपने निश्छल, स्नेहपूर्ण और उन्मुक्त व्यवहार से उसके मन में उथल-पुथल मचा देती है और शंकर को लगता है कि उसका समस्त संयम, उसकी समस्त साधना का बाँध टूटने ही वाला है। दौड़कर वह मास्टर जी के उपदेशों की शरण में जाता है, पुनः अपनी कामनाओं पर अधिकार पाने के संकल्प को दृढ़ करता है। परन्तु पाठक के मन में एक सन्देह, एक प्रश्न जगा जाता है—जीवन की स्वाभाविक माँग के सामने यह संकल्प कब तक अडिग बना रहेगा ? समाज-सेवी बनने के लिए निर्मम होकर अपने हृदय को चट्टान बना लेना क्या अनिवार्य है ?

'नज्जिया' एक दूसरे ही जीवन-सत्य का उद्घाटन करती है। ईराक में जाकर हसरत नज्जिया नाम की एक नर्तकी से प्रेम करने लगता है। और वह भी अपने को हसरत के हाथों में सौंप देती है। परन्तु चलने के पहले जब हसरत नज्जिया से विवाह का प्रस्ताव करता है और अपने यहाँ की सामाजिक नैतिकता का विचार करके कहता है कि भारत जाकर वह कहेगा कि नज्जिया एक उच्च घराने की कुमारी है तो नज्जिया के स्वाभिमान को गहरी ठेस लगती है। दूसरे दिन उसे नज्जिया का पत्र मिलता है, "तुम्हारे हृदय में भी एक ऊँचे घराने की युवती से विवाह करने की आकांक्षा है। एक नर्तकी के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं; तुम भी मेरे रूप से प्रेम करते हो, कला से नहीं; इसलिए विदा !" और वह समाज के आगे हसरत की आत्म-भीरुता के सत्य को उघाड़ देती है कि मर्माहत हसरत को हृदय पर शिला रखकर वापस लौटना पड़ता है।

'नासूर' कहानी समाज के उस वैषम्य का चित्रण करती है जिसके कारण अदूरदर्शी माता-पिता अपने को नई रोशनी का सिद्ध करने के लिए लड़कियों को साहित्य, संगीत और चित्रकला की उच्च शिक्षा तो देते हैं, पर जब उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित होकर अपने चरम विकास के लिए अनुकूल जीवन-संगी की माँग करती है, तो वे उन्हें कल्पना-शून्य, रागहीन धनकुबेरों और व्यापारियों के दामन से बाँध देते हैं, जिससे उनकी प्रतिभा का अंकुर सदैव के लिए मुरझा जाता है। नासूर की

सुरजीत एक ऐसी ही अभागी लड़की है जो कलाकार ईश्वर जी से पांच वर्ष तक चित्रकला सीखकर एक लोहे के व्यापारी के हाथों में सौंप दी जाती है। ईश्वर जी अपना दिल मसोसकर रह जाता है और इस आघात से दोनों के दिलों में जो नासूर पैदा होता है वह अन्दर-बाहर दोनों ओर बढ़ता जाता है और दोनों की प्रतिभा को निर्जीव कर देता है।

'चित्रकार की मौत' कहानी प्रेम की सर्जन-शक्ति की चेतना जगाती है। जगत और लालचन्द दोनों राधारानी से प्रेम करते हैं। तीनों कालेज में सहपाठी हैं। जगत दरजे में प्रथम रहता है, इसलिए राधारानी उस पर मुग्ध है। उससे प्रेम करती है। लालचन्द पढ़ाई मे चाहे जितना पिछड़ा हो पर उसकी अँगुलियों में गुण है। वह प्रतिभासम्पन्न कलाकार है। इसलिए वह निराश नहीं होता। कला की साधना से राधारानी को चमत्कृत कर देने के लिए वह कालेज छोड़ देता है और अपने स्टूडियो में रम जाता है। प्रेम का प्रतिदान पाने की एक क्षीण आशा ही उससे ऐसे महान् चित्र बनवा लेती है कि उसकी कला की धूम मच जाती है। राधारानी भी उससे कम प्रभावित नहीं होती, और इसी भय से कि लालचन्द के मुक़ाबले में विश्व-विद्यालय की प्रदर्शिनी में उसके चित्र ठहर न सकेंगे, वह प्रदर्शिनी मे भाग नहीं लेती। उसमें भाग लालचन्द भी नहीं लेता, केवल राधारानी के नाम से अपना बनाया एक चित्र भेज देता है, और राधारानी को प्रथम पुरस्कार मिल जाता है। फिर भी राधारानी की शादी जगत से ही होती है और शादी के अवसर पर जब लालचन्द का बनाया उसका चित्र राधा को मिलता है और वह शादी के वेश में ही जगत को लेकर स्टूडियो मे पहुँचती है तो उसे पता लगता है कि अपनी अमर कृतियों को आग में झोंक कर लालचन्द कम्पार्टमेण्टल की तैयारी करने के लिए गाँव जा चुका है। प्रेम की जिस क्षीण आशा ने लालचन्द में कला की संवेदना जगायी थी, राधारानी की शादी से वह आशा मर गयी और उसके साथ ही लालचन्द का कलाकार भी मर गया।

'पहेली' में, जो संभवत: प्रस्तुत संग्रह की सबसे अच्छी कहानी है, लेखक ने बड़ी क्रूर परिस्थिति का निर्माण करके एक नारी की मन:स्थिति का चित्रण किया है। फिल्म-अभिनेता रामदयाल और उसकी संगीतज्ञ पत्नी उर्मिला में परस्पर अगाध प्रेम था। रामदयाल ने 'नवयुग' के महिला-अंक में कहीं पढ़ा कि "पति यदि नारी के शुद्ध प्रेम की अवहेलना करे, उसकी मुहब्बत को ठुकरा दे तो वह अपने प्रेम की तृषा बुझाने के लिए किसी दूसरी चीज़ को ढूंढ लेती है।" बस फिर क्या था, अभिनेता का विनोदी मन आगा-पीछा सोचे बिना ही इस कथन की सत्यता का प्रमाण पाने के लिए चंचल हो गया और उसने अपनी पत्नी को ही इस क्रूर प्रयोग का साधन बनाया। वह उर्मिला के प्रति उदासीन रहने लगा। उसके प्रेम की उपेक्षा कर रातें बाहर फिल्म-स्टूडियो में

ही गुज़ारने लगा। उन्हीं दिनों सामने की कोठी में कोई एकाकी कुमार अपने जीवन के एकान्त-क्षण बिताने के लिए आकर रहने लगा था। वह अपने अवसादपूर्ण, अरमान-भरे, करुण गानों से उर्मिला के स्नेह-वंचित हृदय में नयी आकांक्षाएँ जगाने लगा। पति से ठुकराई गई उर्मिला कुमार से सहृदयता पाकर उसके लिए अधीर हो उठी और जब कुमार ने आकर एक दिन उर्मिला को अपने बाहुपाश में जकड़कर उसे चूम लिया और उर्मिला उठकर भागने को हुई तभी कुमार ने अपनी नकली मूँछें उतारकर विजय के गर्व से कहा 'देखा, हमारा बहुरूप उम्मी !' तब कुमार के वेष में रामदयाल को देखकर उर्मिला वहाँ एक क्षण को भी न टिक सकी। सीधी भागती हुई ऊपर पहुँची और कुछ देर के बाद चीख़ सुनकर जब रामदयाल ऊपर गया तो उसने उर्मिला को आग की लपटों में धू-धू जलते पाया। इस क्रूर प्रयोग की वीभत्सता और पुरुष-समाज की हृदयहीनता पर ऐसा तीखा व्यंग कम देखने को मिलता है।

प्रस्तुत संग्रह में 'अश्क' की वे प्रेम-कहानियाँ भी संग्रहीत हैं जो उन्होंने अपने उठते यौवन के दिनों में लिखी थीं, जैसे 'अमर खोज', 'गारा', जादूगरनी', 'वह मेरी मंगेतर थी', 'नरक का चुनाव', 'पुण्य का परिणाम', 'मरीचिका', 'बदरी' और 'निशानियाँ' आदि। इन कहानियों में कला और दृष्टिकोण की वह प्रौढ़ता नहीं है जो उन कहानियों में है जिनका उल्लेख मैंने विस्तार से किया है। फिर भी इनकी कला में भी मार्जन और सुथरापन तो मिलता ही है और यथार्थ का, वस्तु-सत्य का सम्मिश्रण भी पर्याप्त है। एक कवि-की-सी भावुकता तो केवल दो-तीन छोटी गद्य-काव्य की शैली में लिखी कहानियों में ही है, अन्यथा शैली गम्भीर और संयत है। पूरे संग्रह को दृष्टि में रखकर इतना कहना अतिशयोक्ति न होगा कि हिन्दी के अन्य समकालीन संग्रहों में 'निशानियाँ' का विशिष्ट स्थान होगा।

—अगस्त १९४७

३३
दोग्राब

'दोग्राब' श्री शमशेरबहादुर सिंह के ग्रालोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है।

साहित्य या कला के सिद्धान्तों पर हम-ग्राप सभी एकमत हो सकते हैं, लेकिन किसी भी कलाकृति का जो प्रभाव मेरे मन पर पड़ता है, वही ग्रापके मन पर भी पड़े, ऐसा नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की रुचि को बनाने वाले संस्कार बिल्कुल एक ही नहीं होते। देश-काल का भेद चाहे न हो, लेकिन ग्रसंख्य दूसरे सामाजिक-पारिवारिक प्रभाव भिन्न हो सकते हैं ग्रौर प्रत्येक व्यक्ति की संवेदनशीलता में कुछ-न-कुछ तो मात्रा-भेद होता ही है, जिससे एक ही लेखक या कलाकृति के बारे में लोगों के ग्रपने-ग्रपने निर्णय होते हैं। परन्तु हाली के 'मुसद्दस', मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती', सुमित्रानन्दन पन्त की 'पल्लविनी' ग्रौर 'ग्राम्या'; नरेन्द्र शर्मा के गीत-संग्रह 'पलाश-वन'; बच्चन की 'तरंगिनी'; पहाड़ी के कहानी-संग्रह 'सफर' ग्रौर कृष्णचन्द्र के कहानी-संग्रह 'तिलिस्मे ख़्याल' ग्रादि पुस्तकों ग्रौर सुभद्राकुमारी चौहान ग्रौर इक़बाल की कविता ग्रौर उपेन्द्रनाथ 'ग्रश्क' की कहानियों के बारे में शमशेर बहादुर सिंह ने ग्रपने सूक्ष्म विवेचन के पश्चात् इन निबन्धों में जो मत प्रकट किये हैं, ग्रौर उनका जो मूल्य ग्रांका है, मुझे ऐसा लगता है कि जैसे लेखक ने मेरे दिल की ही बात निकालकर रख दी हो। संग्रह में ऐसे भी लेख हैं, जिनसे मैं पूर्णतः सहमत नहीं हूँ, ग्रौर उनका जिक्र मैं ग्रागे करूँगा।

लेकिन सबसे पहले शमशेरबहादुर सिंह की शैली के बारे में कुछ कहना जरूरी है, क्योंकि 'दोग्राब' पढ़कर यही नहीं लगता कि उसका लेखक एक पैनी दृष्टि रखने वाला रसज्ञ ग्रौर मर्मज्ञ ग्रालोचक है बल्कि यह भी पता चलता है कि वह एक सुन्दर शैलीकार भी है, क्योंकि ग्रक्सर विवेचन से ग्रधिक उसकी शैली, पाठक पर गहरा प्रभाव डालती है। इस कारण नहीं कि लेखक उक्ति-चमत्कार, व्यंग्य या वक्रोक्ति का कृत्रिम-प्रयोग करके पाठक को लगातार चौंकाता जाता है ग्रौर उस पर कुछ नये ढंग से नयी बात कहने का रोब जमाता जाता है, चाहे बात में विचार-सामग्री रत्ती-भर न हो, जैसा कि ग्रधिकांश प्रतीकवादी ग्रौर प्रयोगवादी करते हैं। ऐसा ग्राडम्बर 'दोग्राब' के लेखक की शैली में नहीं है, यद्यपि वह भी मूलतः एक प्रयोगवादी कवि ही है। 'दोग्राब' के लेखक की शैली की विशेषता यह है कि वह ग्रत्यन्त सूक्ष्म ग्रौर मार्मि ढंग से कोमल प्रभावों द्वारा ग्रपनी बात कहता है या विवेचन करता है। उसकी व्यंजना में

श्रोज, श्रतिशयोक्ति या भावुकता नहीं है, बल्कि रसज्ञता श्रौर भाव-प्रवणता है जिसके कारण प्रत्येक शब्द भाव-सिक्त श्रौर श्रनुभूति की गहराई से निकला हुश्रा लगता है, श्रौर उसके वक्तव्यों में से व्यक्तिगत ईमानदारी झलकती है। किसी लेखक या उसकी कृति का श्रध्ययन पेश करते समय वह उसके जीवन या उसकी कृति के रचना-काल की उन समसामयिक परिस्थितियों का भी खाका पेश करता जाता है, जिन्होंने प्रत्यक्ष या श्रप्रत्यक्ष रूप से उस लेखक के मन पर प्रभाव डाला है। इन परिस्थितियों का श्रंकन भी 'दोश्राब' का लेखक एक ऐसी सूक्ष्म श्रन्तर्भेदी समाज-चेतना श्रौर हार्दिकता से करता है कि पाठक को उसकी शैली में एक श्रनूठापन ही नहीं बल्कि परिपूर्णता का श्रनुभव होता है। एक उदाहरण देना उचित होगा। राष्ट्रीय वसन्त की प्रथम कोकिला 'सुभद्राकुमारी चौहान' के विषय में 'दोश्राब' के लेखक का कहना है।

"(उनकी) कविताश्रों की वह भरी-पूरी जिन्दगी सन् उन्नीस-बीस श्रौर सन् तीस-इकतीस के उन्नत राष्ट्रीय उठान की जिन्दगी है। उसके बाद की, या श्राज की नहीं। उसके बाद तो जिन्दगी के मिले-जुले सपने टूटते ही गये। वह जातियों का सामान्य हेल-मेल श्रौर श्रादर्शों की एकता खत्म ही होती गयी ···"

"सन् बीस के हिन्दुस्तान को श्रपनी श्राँखों के सामने ज़रा लाइये। फिर भी जीवन में सादगी थी, श्रौर श्रमल में सच्चाई, एक-दूसरे में विश्वास। हाँ, मुट्ठी भर श्रमन-सभा वाले भी थे तब, श्रौर समाज में सरकारी सफ़ेदपोशों की भी कुछ श्रहमियत थी। महन्तों को तब भी चढ़ावा चढ़ता था, श्रौर रिश्वतखोरी भी लोग लेना-देना जानते ही थे। श्रकाल भी पड़ते थे; श्रौर सामन्तों के लिए पतुरियों का बाज़ार भी था ही। मगर तब होली या मोहर्रम के श्राते ही, या कहीं ज़ोर का हल्ला होते ही, मध्यवर्ग का दिल धुक-धुक नहीं करने लगता था, कि देखो क्या हो। हफ़्तों, बल्कि महीनों से किस शौक के साथ त्यौहारों का इन्तज़ार रहता था, हिन्दू-मुसलमान सबको। श्राखिर मेला तो मेला, जिसमें सब शरीक, श्रौर बरस-ब्रस के त्यौहार, सभी की मुरादों के दिन। फिर क्यों न हिल-मिलकर श्रच्छी तरह सारे पर्व मनाये जायें··· श्रौर फिर उन दिनों के काँग्रेस के जलसे, जिनमें पहली बार, सचमुच 'जागा देश हमारा'—समूचा भारत। देश का पहला, सच्चा, भरा-पूरा राष्ट्रीय उठान, जैसे श्रल्हड़ जवानी में पहला क़दम कोई रखे !"

लेखक ने इससे यह नतीजा निकाला है कि सुभद्राकुमारी चौहान की कविता के स्वर में राष्ट्रीय जीवन की प्रारम्भिक एकता श्रौर विश्वास की प्रतिध्वनि है लेखक की शैली में उर्दू-फ़ारसी शब्दों का बहुत प्रयोग है, यह इस उदाहरण से श्रापको स्पष्ट हो गया होगा। लेकिन 'दोश्राब' के लेखक की भाषा में उर्दू शब्द हिन्दी-संस्कृत शब्दों के साथ ऐसे घुल-मिलकर बैठ जाते हैं कि उनके श्रपने लगते हैं श्रौर

शैली में एक विशेष मिठास भी भर देते है। लेखक का हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है, इतना तो स्पष्ट है ही।

इस कारण 'दोआब' की विशेषता यह है कि इसके कई निबन्धों में लेखक ने उर्दू काव्य और उर्दू के कुछ चोटी के लेखकों की रचनाओं का परिचय हिन्दी-पाठकों को दिया है। मीर, सौदा, ग़ालिब, इक़बाल और जोश की नज़्में सुनकर यों तो कट्टर हिन्दीवादी भी झूम-झूम जाते हैं, लेकिन देश में फैली साम्प्रदायिक भावना ने अधिकतर हिन्दी-पाठकों के मन में यह धारणा बैठा दी है कि उर्दू की शायरी में विशेषकर, और उर्दू-साहित्य में आमतौर पर 'गुलो-बुलबुल' और 'इश्को-मुहब्बत' का ही अतिरंजित चित्रण रहता है, जीवन की दूसरी गम्भीर और ठोस समस्याओं की ओर नवाबों और बादशाहों के विलासपूर्ण दरबारों में पली उर्दू कविता का कोई रुझान नहीं होता। शमशेरबहादुर सिंह ने अपने निबन्ध इस ग़लत धारणा का खंडन करने के उद्देश्य से नहीं लिखे, फिर भी बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' से हाली की 'मुसद्दस' की तुलना, इक़बाल की कविता में से निकालकर उनके दार्शनिक विचारों, देशभक्ति की भावना और उनके प्रकृति-चित्रण का विवेचन और अन्य उर्दू कवियों और कवयित्रियों की प्रवृत्तियों का अध्ययन तथा कृष्णचन्द्र की प्रारम्भिक कहानियों में से प्राप्त रोगी समाज की झाँकियाँ इस धारणा का खंडन करने के लिए पर्याप्त है। लेखक ने उर्दू-काव्य के अध्ययन इस उद्देश्य से पेश किये है कि हिन्दी-लेखक और कवि अपने सार्वदेशिक दायित्व को पहचानें, उनकी वाणी मे वही ओज और सार्वजनीनता आये, जो एक सीमा तक उर्दू-काव्य में मिलती है। इस तथ्य को पाठकों के मन तक पहुँचाने में लेखक सफल हुआ है, इसमें सन्देह नहीं।

यहाँ तक तो लेखक से सम्भवतः सभी पाठक कुछ-न-कुछ सहमत होंगे। लेकिन मुक्त-छन्द और 'तार-सप्तक' नाम की पुस्तक मे संग्रहीत सात नये कवियों की उन्होंने जो आलोचना की है उससे सम्भवतः सभी पाठक सहमत न हो सकेंगे, मै भी सहमत नहीं हूँ। क्योंकि हिन्दी में प्रयोगवाद के नाम पर जो कविता इस बीच हुई है उसने सर्वत्र ही हिन्दी-काव्य के लिए नये विकास-पथ प्रशस्त किये है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः नयी प्रयोगवादी कविता 'प्रयोग के लिए प्रयोग' का रूप धारण करती जा रही है, और उसमें न केवल विशृंखलित मानस की झाँकी हमें मिलती है, बल्कि अक्सर विचार-वस्तु इतनी नगण्य होती है कि ऐसी कविताएँ चमत्कारपूर्ण वाग्जाल या दुरूह अभिव्यंजना मात्र होकर रह जाती है। छायावादी कविता में जो भाव-तन्मयता और विचार-वस्तु थीं, वह भी इन कविताओं में साधारणतया नहीं पायी जाती—जिससे उनमें प्रेषणीयता का गुण विरल ही होता है। ऐसी दशा में प्रयोग-वादी कविता को ह्रास का सूचक मानें या प्रगति का, इसमें साधारण पाठक के मन में

तो अधिक सन्देह नहीं है, वैसे शमशेरबहादुर सिंह ने उसे काव्य का एक सीमा तक स्वस्थ अंग ही माना है। फिर भी लेखक का दृष्टिकोण अत्यन्त संयत है और साहित्य में प्रयोगवाद का इस्तेमाल साहित्यिक प्रतिक्रिया के लिए भी किया जा सकता है—इसके प्रति भी वह सचेत है।

—अक्तूबर १९५१

३४

प्राचीन भारतीय वेश-भूषा

'प्राचीन भारतीय वेश-भूषा' के लेखक हैं, बम्बई के प्रिंस ग्रॉफ़ वेल्स म्यूज़ियम के डायरेक्टर और प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डा० मोतीचन्द्र। इस पुस्तक में प्रागैतिहास-काल से लेकर सातवीं शताब्दी (लगभग साढ़े चार हज़ार वर्ष) तक के प्राचीन भारतवासियों के वेश-भूषा के विकास-क्रम का 'सूक्ष्मावलोकन' है।

प्राचीन भारत का इतिहास आज भी एक रहस्य के आवरण में ढँका हुआ है। न केवल यह कि हमारे विशाल और प्राचीन देश के अनेक अतीत युगों में नाना प्रकार के धर्म, सम्प्रदाय, दर्शन, साहित्य, भाषाएँ, जातियाँ, सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ देशी-विदेशी प्रभावों के अन्दर फलती-फूलती और मुरझाती रही हैं कि उसके दीर्घ इतिहास के खंड रूपों को एकत्र करके उसका एक समन्वित और समग्र रूप उपस्थित करना किसी भी इतिहासकार के लिए दुःसाध्य है, बल्कि यह भी एक कठिनाई है कि अभी तक हमारे इतिहास के सहस्रों वर्ष अन्धकार में डूबे हुए हैं। खोजों से प्रमाणरूप में जितनी सामग्री प्राप्य हो सकी है, वह नगण्य है। इसलिए प्राचीन इतिहास के अलग-अलग पहलुओं का अध्ययन करने वाले विद्वानों का कार्य किसी भी रूप में कम कठिन या कम महत्त्व का नहीं है। इस दृष्टि से देखने पर डा० मोतीचन्द्र का यह प्रयास स्तुत्य है जिसके द्वारा उन्होंने केवल प्राचीन महाकाव्यों और उपन्यास ग्रन्थों में आये वर्णनों के आधार पर ही नहीं बल्कि पुरातत्व की खोज से प्राप्त मूर्तियों, स्थापत्य, चित्रों और सिक्कों का आश्रय लेकर प्राचीन भारतीय वेश-भूषा का विकास-क्रम प्रस्तुत किया है। इससे पुस्तक की प्रामाणिकता बढ़ गई है।

प्राचीन भारत के लोग अध्यात्म और दर्शन की गूढ़ तात्विक उधेड़-बुन में पड़े रह कर धर्म और मोक्ष की अमूर्त्त कल्पनाओं के सहारे ही नहीं जीते थे बल्कि अपने जीवन को पूर्ण बनाने के लिए अर्थ और काम की व्यवस्था में भी पूरे उत्साह से लगते थे, अर्थात् वे 'जीवन और उसके आधिभौतिक साधनों से भी प्रेम करते थे।' विद्वान् लेखक ने भूमिका में इस तथ्य का उल्लेख किया है और पुस्तक से तो यह प्रमाणित है ही।

यही कारण है कि लोगों की रुचियाँ निरन्तर बदलती रहीं और उनकी वेश-भूषा में उनके अनुरूप ही परिवर्तन होते रहे। विदेशियों के संसर्ग से भी वेश-भूषा में अक्सर परिवर्तन हुए, कभी-कभी विदेशियों का अनुकरण भी किया गया, लेकिन अन्ततः उनसे उधार ली गई वेश-भूषा भी अपने देश के जलवायु के अनुरूप बदलकर

भारतीय बनती गई। प्राचीन भारतीय वेश-भूषा के विकास-क्रम का यह इतिहास रोचक और सजीव है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह विकास परिवर्तन का सूचक है, उन्नति का सूचक नहीं, क्योंकि किसी युग में यदि कला-कौशल और धन-धान्य अधिक रहा तो उस युग में शृंगार या प्रसाधन की विधियाँ भी अधिक परिमार्जित, सुरुचिपूर्ण और कलात्मक रहीं। परन्तु यदि उसके परवर्तीकाल में सामाजिक जीवन विशृंखलित या अ-केन्द्रित हो गया तो उसके साथ ही कला-कौशल और उच्च वर्गों से लेकर सर्वसाधारण तक की रुचियाँ भी हीन और रुक्ष बन गईं। शान्तिपूर्ण युगों और अशान्ति और युद्ध-ग्रस्त युगों की वेश-भूषा में भी ऐसे ही परिवर्तन आते रहे और कभी धर्म का प्रभाव लोगों की वेश-भूषा पर पड़ा तो कभी लोगों की वेश-भूषा से धार्मिक सम्प्रदाय प्रभावित हुए और उनके अनुयायियों ने अधिक साज-शृंगार युक्त वेश-भूषा अपना ली। कहने का तात्पर्य यह कि प्राचीन भारत में भी आज की ही तरह सामाजिक जीवन से लोगों की रुचियाँ प्रभावित और परिवर्तित होती रहती थीं और सामाजिक जीवन कालान्तर में लोक-रुचियों से प्रभावित होता रहता था। वेश-भूषा के विकास-माध्यम से लेखक ने प्राचीन सामाजिक जीवन और प्राचीन लोक-रुचि की परस्परिता के सूत्र भी खोज निकाले हैं, और यह लेखक की वैज्ञानिक सूझ-बूझ का प्रमाण है।

लेखक ने इस विकास-क्रम का दस अध्यायों में अंकन किया है। प्रागैतिहासिक युग, अर्थात् मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा की पाँच-छै हज़ार वर्ष पुरानी सभ्यता से शुरू करके लेखक ने वैदिक युग, महाजानपद और शैशुनाग युग, मौर्य, शुंग और शक सात-वाहन काल को लिया है। इसके पश्चात् उन्होंने ईसवी पहली शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी के आरम्भ तक के साहित्य में वर्णित वेश-भूषा, गंधार, मथुरा और दक्षिण की कला में व्यक्त वेश-भूषा, तीसरी सदी से सातवीं सदी तक के साहित्य में वर्णित भारतीय वेश-भूषा और अन्त में मूर्तियों और चित्रों में व्यक्त गुप्त युग की वेश-भूषा का वर्णन किया है। पुस्तक यहीं समाप्त हो जाती है। परन्तु इसमे तो पुस्तक के विषय की व्यापकता का ही कुछ अनुमान किया जा सकता है, उसके अन्दर का विवरण कितना सर्वांगीण और वैविध्यपूर्ण है, और उसमें दिये गये विभिन्न युगों की वेश-भूषा आदि के ४२८ रेखाचित्रों ने इस विवरण को कितना मूर्त्त और बोध-गम्य बना दिया है, इसका अनुभव तो पुस्तक को पढ़कर ही किया जा सकता है। फिर भी इस सम्बन्ध में दो-तीन बातें कहना उचित होगा।

मोहेनजोदड़ो की सभ्यता के सम्बन्ध में कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है, अतः उसकी समाज-व्यवस्था कैसी थी, उसमें वर्ग-विभाजन का रूप क्या था, और उसके अनुसार विभिन्न वर्गों के पहरावे में क्या भेद था, यह सब अनिश्चित है। उनके वस्त्र

भी नाम-मात्र के होते थे। वैदिक सभ्यता से अधिक उन्नत सभ्यता होने पर भी ऐसा लगता है कि अधिकतर लोग नंगे ही रहते थे। लेकिन आर्यों के समय से अर्थात् वैदिक युग से वर्ग-विभाजन का प्रभाव उनकी वेश-भूषा और प्रसाधन में भी परिलक्षित होने लगता है। लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता से प्रत्येक युग की वेश-भूषा में आये इस वर्ग-भेद का उल्लेख किया है कि राजा, उच्च वर्ण के लोग, उच्च पदाधिकारी, राज-कर्मचारी, दूत, लेखक, साधू, साध्वियाँ, बच्चे, स्त्रियाँ, नर्तक-नर्तकियाँ, वादक, घुड़सवार, सिपाही, शिकारी, द्वारपाल, राज-भृत्य, दासियाँ, विदूषक, साधारण जन, ग्रामीण और दस्तकार आदि कैसे-कैसे वस्त्र पहनते थे। तात्पर्य यह कि किसी एक युग की वेश-भूषा का यह अर्थ कदापि नहीं कि राजा से लेकर रंक तक एक ही प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। इस प्रकार इस पुस्तक को पढ़ने से एक व्यापक 'प्राचीन भारतीय वेश-भूषा' शीर्षक के अन्तर्गत असंख्य प्रकार के वस्त्रों का चल-चित्र-सा हमारी आँखों के आगे मूर्तिमान् हो जाता है, और यह विचार कि यह सब स्वयं हमारे अपने इतिहास की कहानी है, इस महान् अतीत से हमारा सम्बन्ध जोड़कर हमारे मन में एक नया ही आत्मगौरव का भाव जगाता है। हमारा देश कभी भौतिक संस्कृति और कला की उन्नति में इतने ऊँचे शिखरों पर चढ़ा और हमारे पूर्वज कभी जीवन को सुन्दर, अलंकृत और कला-पूर्ण बनाने के लिए इतना प्रयत्न करते थे—यह चेतना हमारे अन्दर कर्म की प्रेरणा जगाती है। यह बात कि राजाओं के वस्त्र रेशमी किम्ख़ाब के होते थे और साधारण जनों के सूती या पेड़ों की छाल के—यह इस चेतना को कुंठित नहीं करती; क्योंकि हम जानते हैं कि उस समय समाज वर्ग-व्यवस्था के माध्यम से ही उन्नति कर सकता था और फिर यह सारा कृतित्व साधारण श्रमजीवी दस्तकारों का ही था। वह सभ्यताएं और राज-व्यवस्थाएँ मिट गईं जिन्होंने इन सुन्दर वेश-भूषाओं को पैदा किया था, लेकिन उनमें जो कुछ जीवंत और सुन्दर था, वह उन युगों की देन के रूप में आज भी सुरक्षित है। प्राचीन भारत से हमारी यही प्राप्ति है, और डा० मोतीचन्द्र ने इस देन का विवरण एक ही पुस्तक में एकत्र करके वास्तव में देश की अपूर्व सेवा की है।

कहा जा सकता है कि लेखक ने विस्तारपूर्वक प्रत्येक युग की रुचियों का विश्लेषण करके उनके सामाजिक कारण क्यों नहीं खोजे, अर्थात् क्यों किसी युग में शिरोवस्त्र अत्यन्त भारी-भरकम और अलंकृत होता था और किसी में सूक्ष्म और सादा? देश के विभिन्न भागों में बसने वाले जनपदों की अपनी विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों का उनकी वेशभूषा पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका विवेचन भी पुस्तक में नहीं है। परन्तु मैं इन खामियों को लेखक का दोष नहीं मानता, क्योंकि संभवतः इस प्रकार के विशिष्ट अध्ययन के लिए अभी तक पर्याप्त सामग्री प्राप्त नहीं है।

—अक्तूबर १६५१